

मनु शर्मा



कृष्ण की उर्गात्मकथा

॥ संघर्ष ॥



प्रकाश

कृष्ण की आत्मकथा-७

संघर्ष

मनु शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रकाशक

आत्मकथ्य

नियति ने हमेशा मुझपर युद्ध थोपा—जन्म से लेकर जीवन के अंत तक। यद्यपि मेरी मानसिकता सदा युद्ध-विरोधी रही; फिर भी मैंने उन युद्धों का स्वागत किया। उनसे घृणा करते हुए भी मैंने उन्हें गले लगाया। मूलतः मैं युद्धवादी नहीं था।

जब से मनुष्य पैदा हुआ तब से युद्ध पैदा हुआ—और शांति की ललक भी। यह ललक ही उसके जीवन का सहारा बनी। इस शांति की ललक की हरियाली के गर्भ में सोए हुए ज्वालामुखी की तरह युद्ध सुलगता रहा और बीच-बीच में भड़कता रहा। यही मानव सभ्यता के विकास की नियति बन गया।

लोगों ने मेरे युद्धवादी होने का प्रचार भी किया; पर मैंने कोई परवाह नहीं की, क्योंकि मेरी धारणा थी—और है कि मानव का एक वर्ग वह, जो वैमनस्य एवं ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर घृणा और हिंसा का जाल बुनता रहा—युद्धक है वह, युद्धवादी है वह। पर जो उस जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए तलवार उठाता रहा, वह कदापि युद्धवादी नहीं है, युद्धक नहीं है।...और यही जीवन भर मैं करता रहा। मैं युद्ध के फन पर भी शांति की वंशी बजाता रहा।

एक

महर्षि वेदव्यास की भविष्यवाणी से युधिष्ठिर इतने उद्विग्न हो गए थे कि वे मुझे छोड़ना नहीं चाहते थे। सभी लोग चले गए। यहाँ तक कि पूरे हस्तिनापुर की बिदाई हो गई, फिर भी वे मुझे रोके रहे। रह-रहकर उनके मन में महर्षि की एक ही बात मथ रही थी कि पांडवों पर आनेवाली विपत्ति के मूल में तुम्हीं रहोगे। जब भी मैंने द्वारका जाने की बात कही तब ही उन्होंने मुझे यह कहकर रोक लिया कि अभी तुमसे गंभीर मंत्रणा करनी है।

यह तो कहिए कि शिशुपाल के वध के बाद जब छंदक से मुझे सूचना मिली कि शिशुपाल के सारे मित्र अचानक अदृश्य हो गए हैं, तो मैं सावधान हुआ। पिताजी के साथ ही प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि को तुरंत द्वारका भेजा। मैं तो बलराम भैया को भी भेज रहा था; पर वे हमेशा की तरह मुझे छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। मैंने प्रद्युम्न को एकांत में ले जाकर सतर्क करते हुए कहा, “तुमने देखा नहीं, शिशुपाल के धराशायी होते ही उसके मित्र यहाँ से एकदम अदृश्य हो गए।”

“वे डर के मारे भाग गए होंगे।” उसका कहना भी सहज सोच के बाहर नहीं था।

“पर भयग्रस्त नाग सामान्य नाग से अधिक खतरनाक होता है। अवसर मिलते ही आक्रामक हो जाता है और बिना बदला लिये चैन नहीं लेता।” मैंने उससे यह भी कहा, “पोंड्रक वासुदेव की चिंता नहीं है और न चिंता है दंतवक्र की। मुझे यदि कोई व्यक्ति अधिक चिंतित कर रहा है तो वह है शाल्व। वह शिशुपाल के मित्रों में सबसे घनिष्ठ और सबसे शक्तिशाली है। वह यहाँ आया भी था; पर आश्चर्यजनक रूप से चुप रह गया था। वह मार्तिकावत (आबू पहाड़ी के निकट का प्रदेश) का अधिपति है। द्वारका से निकट है। वह हमारे प्रदेश पर आक्रमण करने से चूकेगा नहीं। जब उसे पता चलेगा कि मैं द्वारका में नहीं हूँ तब उसकी नीचता और प्रगल्भ हो उठेगी। इसलिए उससे सावधान रहने की अधिक आवश्यकता है। वह किसी भी समय कुछ भी कर सकता है।

उन लोगों के साथ ही मैंने अपने सारथि दारुक एवं छंदक को भी भेज दिया था; फिर भी मैं शाल्व की शक्ति और सामर्थ्य से चिंतित था। मेरी व्यग्रता द्वारका की सुरक्षा को लेकर थी। पर क्या करता! मुझे महाराज युधिष्ठिर की घबराहट ऐसे जकड़े थी कि क्या बताऊँ।

वे मुझे शिविर से निकालकर अपने प्रासाद में ले गए।

आज संध्या से ही मेघ छाए थे। रात होते-होते घनघोर वर्षा होने लगी। आषाढ़ के बादल ऐसे उमड़-घुमड़कर बहुत कम ही इंद्रप्रस्थ पर छाते होंगे जैसे आज छाए थे। अँधेरा और भी गाढ़ा हो गया था। जैसे अंधकार पर भी किसीने कालिख पोत दी हो। आकाश के श्याम पट पर तड़पती हुई बिजली जब ज्योति ऋचा लिखती और पुरवैया उसे तुरंत पोंछ देती तो मुझे बहुत अच्छा लगता। पता नहीं क्यों अंधकार से मेरा बड़ा लगाव था। पैदा होते ही प्रकृति ने अंधकार ही मुझे सौंपा था, शायद अनजाने ही आज तक उसे मैं अपनी मानसिकता से लगाए हुए हूँ।

पर्यंक पर पड़ा-पड़ा मैं वर्षा के इसी मोहक प्रपंच में खोता रहा। सोचता हूँ कि मेरी ही यह स्थिति नहीं है। वैदिक युग का मानव भी जब अंधकार से ऊब गया होगा, तभी उसने प्रार्थना की होगी—‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’—मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। वैदिक मनुष्य अंधकार से ऊबा था; किंतु मुझे अंधकार से ऊब नहीं होती। मैं तो उसीको जीता हूँ, उसीको पीता हूँ। शायद तभी तो मुझे प्रकाश उगलने की शक्ति भी मिलती है।

मैं अपने चिंतन में इतना तल्लीन था कि कक्ष के दीपदानों में कब ज्योति जलाई गई और कब वायु के झोंकों ने उसे बुझा दिया, कुछ पता नहीं चला।

मेरे चिंतन को झकझोरा महाराज युधिष्ठिर की आवाज ने—“मैं तो अंधकार में था ही, तुम भी अँधेरे में पड़े हो!”
“अंधकार ही तो मेरे जीवन का साथी है।” मैंने कहा और उठकर खड़ा हो गया। इसके बाद वे कुछ नहीं बोले।
चुपचाप उसी पर्यंक पर मेरे साथ बैठ गए।

मौन का यह अंतराल न तो बहुत लंबा था और न बहुत उबाऊ; क्योंकि इठलाती प्रकृति का सम्मोहन हमें घेरे रहा।
“अँधेरे में ही रहेंगे?” महाराज बोले।

“क्या बुरा है!” मैंने कहा, “और द्वार के बाहर तो मशाल जल ही रही है।”

फिर भी महाराज ने करतलध्वनि कर प्रतिहारी को बुलाया और दीपदानों को पुनः प्रज्वलित करने को कहा। यद्यपि हवा अब भी तेज थी और वर्षा के झोंके वातायनों से आ रहे थे।

“मैं भी प्रकाश की खोज में निकला हूँ।” युधिष्ठिर बोले। उनका स्वर चिंता से बोझिल था। उन्होंने कहा,
“द्वारकाधीश, जब से महर्षि से सुना है कि हर विपत्ति का मूल कारण मैं ही बनूँगा तब से मेरी व्यग्रता बहुत बढ़ गई है। सोचता हूँ, संन्यास ले लूँ।”

“क्यों?”

“न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।” युधिष्ठिर बोले, “जब मूल ही नहीं रहेगा तब फल-फूल कहाँ से आएँगे! पांडवों पर विपत्ति का आधार ही समाप्त हो जाएगा।”

मुझे हँसी आ गई। मैं बोला, “तब आप संन्यासी होकर पांडवों के लिए विपत्ति बनेंगे।” अब मेरी आवाज कुछ और तेज हुई—“जब देखिए तब आप संन्यासी होने की बात शुरू कर देते हैं। यह पलायनवादी प्रकृति एक क्षत्रिय को शोभा नहीं देती। जीवन से भागिए नहीं, जीवन को भोगिए। आप विपत्ति से जितना मुँह छिपाएँगे, विपत्ति उतनी ही आपके सामने खड़ी दिखेगी।”

“तब बताइए कि मैं क्या करूँ?”

“आप जैसे धर्मनिष्ठ और अनुभवी को भी बताने की आवश्यकता पड़ेगी!” मैंने मुसकराते हुए युधिष्ठिर की दुर्बलता की ओर संकेत भी किया और उन्हें सावधान भी किया—“आप तो जानते हैं कि राजनीति चौसर का खेल है, जिसमें आप दक्ष भी हैं और जो आपको प्रिय भी है। जिसमें एक चतुर खिलाड़ी केवल गोटी पर ही ध्यान नहीं देता वरन् पासे फेंकते समय विरोधी के हाथों पर भी ध्यान रखता है। इसीलिए राजनीति जो है उसपर ही नहीं, जो होने वाला है उसके पूर्वाभास पर भी ध्यान देती है।”

युधिष्ठिर अब भी गंभीर थे। मुझे विश्वास था कि चौसर की बात कहने पर वे अपनी हलकी-फुलकी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे—और नहीं कुछ हो सकेगा तो मुसकराएँगे अवश्य, तनाव ढीला होगा; पर उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ वरन् वे और चिंतित हो बोले, “जो होने वाला है, उसीके पूर्वाभास ने तो मुझे परेशान कर दिया है।”

“परेशान मत होइए। केवल सावधान होइए।” मैंने कहा, “मृत्यु अवश्य संभावी है, यह एक सत्य है; पर मृत्यु से परेशान रहनेवाला व्यक्ति जीवन को भोग नहीं सकता। मृत्यु से सावधान रहिए और जीवन को आनंदपूर्वक भोगिए।”

युधिष्ठिर की गंभीरता अब भी नहीं बदली। फिर अचानक मुझे लगा कि कक्ष के बाहर कोई व्यक्ति टहल रहा है। मैंने महाराज युधिष्ठिर से कहा, “शायद आपको कोई बुलाने आया है।”

“इस समय मुझे कौन बुलानेवाला हो सकता है?”

“अब मैं कैसे कहूँ कि कौन बुलानेवाला होगा!” मेरी हँसी बड़ी कुटिल थी—“वह वाला भी हो सकता है और वाली भी।” फिर भी मेरा व्यंग्य युधिष्ठिर की सहजता ने नहीं समझा। मुझे कुछ और स्पष्ट करना पड़ा—“हो

सकता है, द्रौपदी आपको बुलाना चाह रही हो।”

मुझे थोड़ी सी सफलता मिली। युधिष्ठिर की आकृति पर मुसकराहट उभरी।

वे बोले, “इस गंभीरता में भी आपको परिहास सूझता है! यह तो सोचिए कि मैं नाग के फन पर खड़ा हूँ।”

“और मैं कालिय के फन पर नृत्य कर चुका हूँ।” मैंने कहा, “यदि आप मृत्यु की गोद में भी मुसकराएँगे तो वह भी मुसकराती हुई दिखाई देगी।” फिर मैंने अचानक मुद्रा बदली—“इतना लथपथ अँधेरा, इतनी भीगी रात, ऐसी मादक ऋतु और इतनी वासना से वासित वायु! अरे, आपको भले ही विचलित न करे, पर द्रौपदी को तो बेचैन कर रही होगी।”

“द्रौपदी के लिए मैं ही थोड़े ही हूँ।” उन्होंने मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा। मुझे लगा कि वे अपनी व्यग्र मानसिकता से लगभग मुक्त हो रहे हैं।

मैंने फिर कहा, “द्रौपदी न होगी, पौरवी (युधिष्ठिर की दूसरी पत्नी) होगी; पर है कोई-न-कोई अवश्य; क्योंकि प्रतिहारी द्वार के भीतर झाँक-झाँककर लौट जा रहा है। वह समझ रहा है कि हम लोग किसी गंभीर मंत्रणा में व्यस्त हैं। हमें रोकना उचित नहीं है।”

इसी बीच उसने एक बार फिर झाँका। अब युधिष्ठिर ने उसे देख लिया। उसे बुलाकर पूछा।

उसने बताया—“कहीं से एक चर आया था। वह द्वारकाधीश को पूछ रहा था।”

“इस बरसाती अँधेरी काली रात में!” युधिष्ठिर बोले।

प्रतिहारी ने बताया—“वह पानी से भीगकर लथपथ था।”

“तो उसे बुलाओ।” मेरा चिंतन उद्वेलित हो उठा।

“मैंने उससे आग्रह किया था कि वह आपसे मिले।” प्रतिहारी बोला, “तब उसने कहा कि मैं मिलकर क्या करूँगा! आप मेरा संदेश उनसे कह दीजिएगा।”

“तो क्या है उसका संदेश?” मैंने पूछा।

“उसने बड़ा अशुभ समाचार सुनाया है।” इतना कहकर प्रतिहारी ने मेरी ओर देखा। फिर हिचकिचाते हुए धीरे से बोला, “उस चर ने बस इतना कहा कि द्वारकाधीश के पूज्य पिताजी का अपहरण हो गया है।”

“अरे, यह कैसे हुआ?” युधिष्ठिर तो चकित रह गए।

प्रतिहारी ने कहा, “मैंने उससे अनेक प्रश्न किए। कब हुआ? कहाँ हुआ? कैसे हुआ? पर उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल इतना बोला कि ‘मैंने जो कहा है, आप द्वारकाधीश से कह दीजिएगा।’ इतना कहने के बाद उसने अपना अश्व मोड़ा और चला गया।”

“तुमने उससे यह भी नहीं पूछा कि किसने उसे भेजा है?” युधिष्ठिर बोले।

“यह भी बताने को वह तैयार नहीं था।”

“कोई बात नहीं। नहीं बताया तो नहीं सही।” मैंने कहा, “मैंने समझ लिया कि किसने उसे भेजा है!”

“तो किसके द्वारा वह भेजा गया था?” युधिष्ठिर ने पूछा।

“अदृष्ट के द्वारा।” मैंने कहा और हँसने लगा।

“तुम इस दुःखद सूचना के बाद भी हँस रहे हो!” युधिष्ठिर चकित थे।

“जीवन में जब कभी मैं रोया ही नहीं तब हँसूँ नहीं तो और क्या करूँ!” मैंने हँसते हुए ही कहा, “मेरे माता-पिता तो कहते हैं कि मैं जन्म के बाद भी नहीं रोया था। मेरी किलकारी में ही उन्हें किसी देवत्व के दर्शन हुए थे।”

मेरी हँसी पर युधिष्ठिर चमत्कृत थे; जबकि वे स्वयं परेशान थे। वह कौन था? कहाँ से आया था? आदि प्रश्न

उनके मन में उबलने लगे थे।

धर्मराज को अधिक व्यग्र देखकर मेरे मन में आया कि कह दूँ कि यह मेरी समस्या है, मुझपर छोड़िए। आप अधिक परेशान मत होइए। पर, मैं ऐसा कह नहीं पाया; क्योंकि वह मुझसे बड़े थे। मेरी शिष्टता अभद्रता का सीमोल्लंघन करने के पक्ष में नहीं थी।

मैंने बस इतना पूछा, “आप इतने परेशान क्यों हैं?”

“ऐसी चिंताजनक सूचना और मैं व्यग्र न होऊँ!”

“यह सूचना गलत भी हो सकती है।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“यदि सूचना सही थी तो वह व्यक्ति रुका क्यों नहीं? उसने मेरा सामना क्यों नहीं किया? दूसरे, पिताजी तो प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के साथ गए हैं। उनके साथ छंदक भी गया है। इन लोगों के रहते पिताजी का अपहरण मुझे तो संभव नहीं लगता।” मैं अपनी मुसकराहट के साथ सहजभाव से बोलता रहा—“यह तो स्पष्ट है कि वह चर द्वारका से नहीं आया था और न मेरे किसी मित्र द्वारा भेजा गया था। यह मेरे किसी शत्रु के मस्तिष्क की ही उपज है, जिससे मैं अपना संतुलन खो बैदूँ।”

“आपकी दृष्टि में ऐसा कौन हो सकता है?”

“शाल्व के अतिरिक्त ऐसा कौन हो सकता है!” मैंने कहा, “शिशुपाल वध के बाद तो वह घायल सिंह की तरह तड़प रहा होगा।”

“पर उस समय तो वह भी उपस्थित था, जब शिशुपाल विवाद में उलझा था। वह तो एक शब्द नहीं बोला।”

युधिष्ठिर ने कहा, “जबकि पौंड्रक वासुदेव और दंतवक्र के विवाद सक्रिय थे।”

“और उसका विरोध निष्क्रिय।” मैंने कहा, “जबकि सारी योजना के पीछे बुद्धि उसीकी रही होगी। शिशुपाल तो मात्र पुस्तक की भूमिका था। उसके आक्रामक होते ही मुझे शाल्व के हमले का सामना करना पड़ता। तब तो सब खड़मंडल हो जाता। आपके अनुष्ठान में भी व्यवधान पड़ता। आपने देखा नहीं कि शिशुपाल अपना अस्त्र निकाल नहीं पाया। वह मेरी बातों में ही उलझा रह गया और मैंने चक्र चला दिया! मेरा वह आक्रमण अप्रत्याशित था। सब भौंचक्के रह गए। फिर मेरी क्रूरता का नाटक और यह उद्घोष करना कि ‘कोई हिलेगा नहीं, जो जहाँ है वहीं बैठा रहे। शव को पड़ा रहने दो।’...फिर मेरी ललकार—‘यदि शिशुपाल का कोई समर्थक हो तो आगे आए।’ मेरी उन सारी क्रियाओं ने इतना भय और आतंक पैदा कर दिया था कि वह उस समय न कुछ बोल पाया और न कुछ कर पाया। चुपचाप चला गया।”

कुछ समय तक चुप रहकर मैं शाल्व के विषय में सोचता रहा। युधिष्ठिर भी मौन ही रहे। फिर मैं बोला, “वह कितना बड़ा दुष्ट है, इसका अनुमान आप लगा नहीं सकते।” तब मैंने उन्हें रुक्मिणी-हरण की घटना सुनाई—“उस समय तो शिशुपाल, जरासंध और शाल्व—तीनों थे। एक प्राण, तीन देह। उस समय भी मैंने ऐसी क्षिप्रता और चपलता दिखाई थी कि तीनों खिसियानी बिल्ली की तरह खंभा नोचते रह गए थे।”

“तब तो बड़े झुँझलाए होंगे!” युधिष्ठिर बोले।

“आप झुँझलाने की बात करते हैं!” मैंने कहा, “मेरे गुप्तचरों ने सूचना दी कि आपके चले जाने के बाद शाल्व और जरासंध रुद्र मंदिर में गए थे। उन्होंने रुद्राभिषेक किया था। शाल्व ने अभ्यर्थना की कि ‘हे देवाधिदेव रुद्रदेव, तुम मुझे ऐसी शक्ति दो कि मैं पृथ्वी से यादवों को समूल नष्ट कर सकूँ।’ ”

“तब तो वह बड़ा भयंकर है।” युधिष्ठिर बोले।

“भयंकर भी नहीं, भयंकरतम।” मैंने कहा, “वह युद्ध के सारे नियम तोड़ते हुए युद्ध करता है। उसका विश्वास मानव युद्ध में नहीं, राक्षसी युद्ध में है।”

युधिष्ठिर चुप थे। देखने से लग रहा था कि उन्हें गंभीर रूप से चिंता हो गई है। मैं उन्हें बड़े सहजभाव से तनावमुक्त करते हुए बोला, “आप बिल्कुल चिंता न करें। यह मेरी समस्या है और मैं इसे देख लूँगा।”

इस बीच हवा का तेज झोंका आया और मेरे कक्ष में जलते दीपों में से दो एक साथ बुझ गए। मैंने उनकी ओर संकेत किया और परिहास में बोला, “दीप बुझ गए तो जलाने पर जल भी जाएँगे। यदि वे बुझ गई होंगी तो जलाने पर भी नहीं जलेंगी। यह बरसाती रात आपके लिए व्यर्थ जाएगी।”

सीधे-सादे युधिष्ठिर महाराज मेरा परिहास समझ नहीं पाए। मैंने संकेत से ही उन्हें समझाया—‘मेरा तात्पर्य द्रौपदी या पौरवी की आग से है।’

इस पूरे संदर्भ में युधिष्ठिर पहली बार खुलकर हँसे—अंधकार में तड़ित तरंग की तरह।

“तुम भी अद्भुत हो, कन्हैया! जीना कोई तुमसे सीखे।” इतना कहते हुए वे चले गए।

मैं फिर उसी अंधकार में खो गया। मैं सोचने लगा, एक के बाद दूसरा, क्या मेरा जीवन संघर्ष का ही एक अंतहीन सिलसिला है? क्या मेरे जीवन में शांति दो युद्धों के बीच के अंतराल का ही नाम है?...अचानक जोर की बिजली चमकी। गड़गड़ाहट हुई और पानी से भीगा तेज हवा का झोंका आया। लगा, बादलों के बीच जैसे कोई मुझपर हँस रहा है और कह रहा है, ‘तुम्हारा चिंतन भी कभी बवंडर में उड़ते टूटे पीपल के पत्ते-सा दिशाहीन हो जाता है। बंद जीवन की ऊब का कभी तुमने अनुभव किया है? फिर संघर्ष से भागना क्यों चाहते हो?...पर भागकर जाओगे कहाँ?’

मुझे लगा जैसे मेरा ही प्रत्यय मुझे धिक्कार रहा है। वह बोलता गया—‘जिसे तुम संघर्ष समझते हो, वह भी तुम्हारा कर्म है—अनिच्छित कर्म। तुम उसे करना नहीं चाहते; पर तुम्हें करना पड़ता है। केवल इसलिए कि वह तुमपर लादा गया है। उस लादनेवाली नियति की इच्छा पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। केवल तुम्हारा अधिकार है कर्म करने का—कर्मण्येवाधिकारस्ते।’

इसी बीच फिर बिजली चमकी। फिर हवा का झोंका आया और दीपदान में रहा-सहा एक जलता दीप भी बुझ गया। फिर अँधेरा ही मेरे साथ था। मैं उसीसे लिपटकर सो गया।

□

सवरे उठते ही मैं द्वारका चलने की योजना बनाने में लग गया। दूसरी ओर राजभवन के लोग मेरे कक्ष में जुटने लगे। रात का समाचार जिसने सुना, उसे उसकी व्यग्रता मेरे यहाँ खींच लाई। पाँचों पांडवों के अतिरिक्त कुंती बुआ, उनकी पुत्रवधुओं और प्रपौत्रों की अच्छी-खासी भीड़ मेरे कक्ष में लग गई; पर बलराम भैया का अभी तक कहीं पता नहीं था। मैं तो उनकी प्रकृति को अच्छी तरह जानता था। जब मेघ आकाश में छाने लगते तब वे मैरेय में डूबना आरंभ कर देते—और बीती रात जैसी मादक रात तो शायद ही उन्हें इस वर्ष मिली हो। इसलिए इस समय उनके उठने की कल्पना कर पाना भी मेरे लिए कठिन था। पर औरों के लिए तो यह आश्चर्य की बात थी। पिता का अपहरण हो गया और पुत्र सोता रहे! एकदम विश्वास से परे।

कुंती बुआ ने पूछ ही लिया—“बलराम कहाँ है?”

“भैया अभी सो रहे होंगे।” मैंने कहा।

“अद्भुत है उसकी नींद!” बुआ बोली, “इतनी बड़ी घटना हो गई और वह सो रहा है!”

“घटना हो गई मत कहिए। बस इतना सोचिए कि यह अशुभ समाचार प्रसारित किया गया है।” फिर मैंने वे सारे तर्क बुआ को दिए, जो युधिष्ठिर को दे चुका था और कहा, “लगता है, भैया को यह समाचार नहीं मिला होगा।”

तुरंत भैया को समाचार भेजकर बुलाया गया।

आकाश के बादल तो छँट गए थे, पर वे मैरेय के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए थे। बड़े आवेग में वे मेरे यहाँ आए और उसी झोंके में बोले, “देखा, क्या हो गया! यह सब तुम्हारे कर्मों का फल है। साँप को अधमरा कर छोड़ने का यही परिणाम होता है। कई बार तुमने उसे परास्त किया और छोड़ दिया।”

मुझे खूब डाँटने-डपटने के बाद भैया का भी यही निष्कर्ष था कि हम लोगों को यथाशीघ्र यहाँ से चल देना चाहिए।

बुआ तथा अन्य लोगों का कहना था कि अब अकेले यहाँ से जाना निरापद नहीं है। उनका आग्रह था कि मैं इंद्रप्रस्थ से सेना की एक टुकड़ी भी साथ लेता जाऊँ।

“पर मैं अकेला कहाँ हूँ!” मैंने कहा, “मेरे साथ भैया हैं—और होगा यादवों का एक विराट् समूह; क्योंकि शाल्व तो सभी यादवों का घोर शत्रु है। उसने उन्हें समूल नष्ट करने का व्रत लिया है।”

“इसके लिए तो यादवों को जगाना पड़ेगा।” बलराम भैया बोले।

“कोई किसीको जगाता नहीं है। जब सूर्य निकलता है तब सब जाग जाते हैं।” मैंने मुसकराते हुए दबी जबान में कहा; क्योंकि इसकी चोट भैया को भी लग सकती थी—“केवल इक्के-दुक्के लोग ही सोते रह जाते हैं, जिन्हें हमारे रथ की घड़घड़ाहट ही जगा देगी।”

फिर भी कुंती बुआ और महाराज युधिष्ठिर मुझे अकेले जाने देने के पक्ष में नहीं थे। उनके मोह ने मेरे देवत्व को ऐसा ढक लिया था कि मैं उन्हें उनके भतीजे व भाई के अतिरिक्त कुछ और नहीं दिखाई दे रहा था। अंत में उन्होंने अर्जुन को मेरे साथ लगा ही दिया।

मेरा रथ और सारथि पहले ही चले गए थे। अतएव मुझे अर्जुन का रथ लेना पड़ा। यह सफेद घोड़ोंवाला वही रथ था, जिसे खांडव वन भस्म करने के लिए महर्षि अग्नि ने दिया था। अर्जुन को रथ पर बैठा मैंने सारथ्य सँभाला। भैया अपने रथ पर थे।

आज प्रकृति कल की अपेक्षा अधिक शांत थी। आकाश में बादलों के चीथड़े अवश्य तैर रहे थे, पर वर्षा नहीं हो रही थी। वायु आनंददायक और तेज थी। उसका प्रवाह पूरब से पश्चिम की ओर था। इसीलिए वह हमारे रथ की गति की सहायक हो गई थी। बीती वर्षा ने मार्ग को बीच-बीच में काटकर अवरोधक बना दिए थे; पर उनके साथ हमें अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा।

संघर्ष का वास्तविक सामना तो चर्मण्वती की उफनती धारा से हुआ। बड़ी-बड़ी नावों को बाँधकर बनाए गए बेड़े पर जब हमारे रथ चढ़ाए गए और हम धारा में आगे बढ़े, तब लगा कि नीचे भूचाल है और ऊपर आकाश झुका जा रहा है। रह-रहकर जल के थपेड़े हमारी कटि तक आ जाते थे और जब बेड़ा डगमगाता था तो हमें एक-दूसरे को थाम लेना पड़ता था।

चर्मण्वती के पार करते ही हमारा मार्ग सुकर हो गया; क्योंकि वर्षा का उतना प्रभाव इधर नहीं था। धीरे-धीरे मार्ग भी सूखा होता गया। संध्या होते-होते हम लोग पुष्कर के राजमार्ग पर आ गए। कुछ आगे चलने के बाद हमने अपना रथ राजधानी की ओर मोड़ा। मैंने सोचा कि रात्रि-विराम तो लेना ही होगा, क्यों न हम चेकितान से मिलते हुए चलें।

मेरा अभिप्राय शायद अर्जुन और भैया दोनों समझ गए थे। इसीसे किसीने कोई जिज्ञासा नहीं की। हम अपनी गति से चलते चले जा रहे थे कि सामने से एक तेज रथ आता दिखाई दिया। उसपर पुष्कर का महामात्य ज्योतिकेतु था। वह हमें देखते ही हक्का-बक्का हो गया। उसने हमारा रथ रुकवाया और स्वयं रुकने की चेष्टा की; पर हम दोनों

इतनी गति में थे कि रुकते-रुकते भी हमारे और उसके बीच का अंतर काफी हो गया। उसे बहुत दूर से लौटना पड़ा।

आते ही उसने कहा, “अरे, आप यहाँ! मेरे महाराज तो आपके यहाँ गए हैं।”

“क्यों, क्या बात है?”

“अरे, आपको कुछ मालूम नहीं!” उसने कहा, “आपके पूज्य पिताजी का अपहरण हो गया है।”

“यह आपको कैसे ज्ञात हुआ?”

“परसों रात को कोई सूचना दे गया था।”

“ऐसी सूचना कहाँ से आई थी?” मैंने पूछा, “और उसको देनेवाला कौन था?”

“यही तो नहीं मालूम।” महामात्य बोला, “हममें से किसीने उसे देखा भी नहीं। वह राजभवन के प्रहरी प्रधान के कार्यालय में कहकर चला गया। जब वहाँ के अधिकारी ने उसे रोकना चाहा तब उसने कहा कि मैं इस समय रुकने की स्थिति में नहीं हूँ। मुझे और कई स्थानों पर सूचना देनी है।”

“उसके इतना कहने मात्र से आप लोगों को विश्वास हो गया?”

“विश्वास तो नहीं हुआ, पर शंका तो हो ही गई।” ज्योतिकेतु बोला, “महाराज भी विश्वास नहीं कर रहे थे। बड़ी द्विविधा में थे। उनका विचार पहले तो यह हुआ कि किसी चर को भेजकर वास्तविकता का पता लगाऊँ। फिर सोचने लगे कि यदि द्विविधा में पड़ा रहा और बात सत्य हो तो अनर्थ हो जाएगा। फिर उन्होंने यह भी कहा कि कौन जाने कन्हैया द्वारका में हैं या नहीं। शिशुपाल की अंत्येष्टि के प्रसंग में उन्हें इंद्रप्रस्थ में रुक जाना पड़ा था।”

“तो फिर वे उसी दिन चले गए?”

“जी हाँ, वे उसी दिन अपनी पूरी सैन्य शक्ति के साथ चले गए।”

“अब आप मेरी एक सलाह मानिए कि इस तरह की यदि फिर कोई सूचना आए तो सूचना देनेवाले को रोक रखिए। यदि वह बलात् जाना चाहे तो उसे बंदीगृह में डाल दीजिए। उससे पूरी जानकारी लीजिए कि इस तरह की सूचना भेजनेवाला कौन है।”

सिर हिलाकर महामात्य ने मेरी बात मान ली। पर उसने इतना अवश्य कहा, “आपको क्या विश्वास है कि इस प्रकार की सूचना फिर आएगी?”

“अवश्य आएगी।” मैंने जोर देकर कहा, “और हो सकता है, वह पिछली सूचना से भयानक भी हो।”

रात्रि का दूसरा प्रहर शुरू हो गया था। हम अत्यधिक थके थे। हमें शीघ्र विश्राम की आवश्यकता थी। हम महामात्य के साथ ही राजभवन में चले आए। अतिथिगृह के सबसे विशाल कक्ष में हम तीनों ठहराए गए।

“देखा, यहाँ की घटना भी ठीक वैसी ही है जैसी इंद्रप्रस्थ की थी। केवल एक सूचना प्रसारित है; पर किसीको कुछ नहीं ज्ञात है कि यह सूचना किधर से आई है और किसने प्रसारित की है।” मैंने कहा।

छूटते ही अर्जुन बोला, “और यह प्रामाणिक है या नहीं?”

“प्रामाणिकता का प्रश्न तो तब उठता है जब कहीं जड़-मूल का पता चले!” मैंने कहा।

“फिर इस तरह की सूचना फैलानेवाले का प्रयोजन क्या हो सकता है?”

“यादवों में एक प्रकार का आतंक पैदा करना।” मैंने अर्जुन को विस्तार से समझाया—“जरासंध, नरकासुर और शिशुपाल के वध का आतंक हमारे प्रभुत्व-विकास में हमारे जिन विरोधियों को सहायक दिखा, यह उनकी ओर से दिया गया उत्तर है। इसे कहते हैं आतंक युद्ध। बहुत से शत्रु तो ऐसे आतंक से ही पस्त हो जाते हैं।”

“इसका तात्पर्य है कि हम निरंतर युद्ध की प्रक्रिया से ही गुजर रहे हैं?”

“इसमें भी कोई संदेह है!” मैंने उसे फिर समझाया—“इस आतंक का कभी उलटा भी परिणाम हो जाता है। भय से या तो मनुष्य किसी कोने में दुबककर बैठ जाता है या उसकी सक्रियता बहुत बढ़ जाती है। वह अपने मित्रों को एकजुट करने लगता है और यह एकजुटता कभी-कभी उन लोगों से अधिक शक्तिशाली हो जाती है, जो आतंक फैलानेवाले होते हैं। तब आतंक युद्ध के संचालक को लेने के देने पड़ जाते हैं। अब इसी चेकितान को ही लो। इसकी सक्रियता बढ़ गई। यह द्वारका तो गया ही होगा, साथ ही इसने सत्राजित् और सात्यकि जैसे राजाओं से संपर्क भी किया हो तो आश्चर्य नहीं।”

“पर आपमें तो ऐसी कोई सक्रियता नहीं दिखाई दे रही है।”

“केवल दिखाई नहीं दे रही है।” मैं हँसा—“‘दिखाई न देना’ और ‘न होना’ दोनों अलग-अलग बातें हैं।” मैंने उसे अपनी मनोदशा बताई—“मैंने इस सूचना को न तो हलके-फुलके लिया है और न इससे कम चिंतित हूँ। किंतु यदि मैं ही भयग्रस्त हो जाऊँगा तो औरों की क्या स्थिति होगी? उन सोलह हजार महिलाओं का क्या होगा, जो मुझे देवता की तरह पूज रही हैं? वे क्या सोचेंगी? वे सोचेंगी कि हमारे भगवान् का पिता अपहृत हो गया। उन राजाओं का समूह, जिन्हें हमने जरासंध की कारा से मुक्त कराया था, वह क्या सोचेगा कि हमारे त्राता के पूज्य तात बंदी बना लिये गए। मेरी भगवत्ता के प्रभामंडल को ध्वस्त करने के लिए ही यह आतंक फैलाया जा रहा है।”

मैंने बोलना जारी रखा—“इसीलिए तो मैं इस आतंक युद्ध का सामना स्वयं को भयनिरपेक्ष दिखाकर कर रहा हूँ। भयनिरपेक्षता वह स्थिति है, जिसके सिर के ऊपर से आतंक युद्ध का बाण चला जाता है। इस युद्ध में भयभीत होते हुए भी भयभीत मत दिखिए। सक्रिय होते हुए भी सक्रिय मत दिखिए।”

“इसीलिए हम लोग भयमुक्त होने का प्रदर्शन कर रहे हैं?” अर्जुन बोला।

“भयमुक्त नहीं वरन् भयनिरपेक्ष होने का।” मैंने कहा, “भयमुक्तता तो भय से प्रभावित होना ही है और भयग्रस्तता भी। केवल भयनिरपेक्षता ही भय से अप्रभावित रहना है।”

मैंने देखा, भैया गहरी नींद में हैं। उनके खरटे पूरे कक्ष में फैल रहे हैं।

मैंने परिहास करते हुए अर्जुन से कहा, “भयनिरपेक्षता की इससे अच्छी और कोई दूसरी स्थिति नहीं हो सकती।”

रात्रि अपने पूरे यौवन पर थी। आलिंगनबद्ध राधिका की साँसों की तरह हवा कुछ गरम और नम थी। वातायन से त्रयोदशी के चंद्रमा का तिर्यक मुख झाँक रहा था। उस चंद्रमा को देखता हुआ मैं राधिका की स्मृति से लिपटकर सो गया।

□

सुबह जब आँखें खुलीं तो काफी दिन निकल आया था। अर्जुन मुझसे पहले जागा; पर भैया अब भी सो रहे थे। उनकी यह मस्ती हम लोगों के लिए ईर्ष्या की वस्तु थी। उनके मन पर कोई भी घटना बहुत देर तक नहीं टिकती थी—और अधिक टिकती भी थी तो वे उसे मैरेय की मादकता से पोंछ देते थे।

मेरे जागने की सूचना द्वारपाल ने तुरंत महामात्य के यहाँ पहुँचाई। वे दौड़े हुए आए। उन्हें देखते ही उनकी व्यग्रता का आभास हो गया।

आते ही उन्होंने कहा, “कल रात एक भयानक सूचना और आई है।”

सूचना के विषय में न पूछकर मैंने सूचना देनेवाले के बारे में पूछा, “सूचना देनेवाला कहाँ है?”

“आपके निर्देशानुसार उसे बंदी बना लिया गया है।” उसने कहा।

“उसे बंदी बनाने की स्थिति आ गई!” मैंने मुसकराते हुए पूछा, “शायद वह रुकना नहीं चाहता होगा?”

“जी हाँ, वह तो भाग रहा था।”

मैंने मुसकराते हुए अर्जुन की ओर देखा। फिर बोला, “थोड़ी देर बाद उसे आप मेरे सामने उपस्थित कराने की कृपा करें। तब तक मैं तैयार हो लेता हूँ।”

कुछ समय बाद ही वह मेरे सामने उपस्थित किया गया—काँपता हुआ, डरा-डरा-सा। ऐसा लगा जैसे वह मृत्यु के सामने लाया गया हो।

“तुम इतने भयग्रस्त क्यों हो?” मैंने मुसकराते हुए पूछा, “तुमने कोई अपराध तो किया नहीं है!”

वह एकदम चुप, सकपकाई आँखों से मुझे देखता रहा।

“तुम कौन सी सूचना लाए हो?” मेरी मुसकराहट अब भी बनी रही।

वह अब भी चुप था।

“तुम बोलते क्यों नहीं?” मैंने कहा, “तुम विश्वास करो, तुम पूरी तरह भयमुक्त हो। बताओ, मेरे लिए कौन सी अशुभ सूचना है?”

वह फिर भी बोल नहीं पाया।

मैंने फिर पूछा, “तुम मुझे तो पहचानते हो?”

उसने सिर हिलाकर मेरा पहचाना जाना स्वीकार किया।

“शायद मुझे पहचान लेना ही तुम्हें बोलने में बाधक हो रहा हो। मैंने कहा न कि तुम अभय हो। तुम्हारा यहाँ बाल भी बाँका नहीं होगा। अब बताओ, तुम कौन सी सूचना लाए हो?”

फिर उसने अपने बिखरे हुए साहस के प्रत्येक कण को बटोरा और लड़खड़ाती जबान में बोला, “मुझे यह आदेश हुआ है कि मैं आर्यावर्त के हर प्रमुख शासक को सूचित कर दूँ कि द्वारका पर महाराज शाल्व का अधिकार हो गया है।”

मैं हँसा।

“हम तो वहीं जा रहे थे। चलो, अच्छा हुआ कि अब हमारा द्वारका जाना नहीं होगा। जब हमारा राज्य ही चला गया तब हम वहाँ जाकर करेंगे क्या! पर यह तो बताओ, यह सूचना प्रसारित किसने करवाई है?”

“मेरे महाराज शाल्व ने।”

मैं फिर नाटकीय ढंग से हँसा। मैंने कहा, “तुम मुक्त किए जाते हो।”

मेरे इतना कहते ही महामात्य की आकृति का रंग बदला। ऐसा लगा कि उसके शासन की न्याय व्यवस्था पर मैं डाका डाल रहा हूँ। फिर भी मैंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

मैंने उसी चर से कहा, “पर तुम्हें मेरा एक आदेश है। क्या तुम उसका पालन करोगे?”

वह फिर बोल नहीं पाया। सकपकाया-सा मुझे देखता रहा। शायद उसने ऐसा व्यक्ति कहीं देखा नहीं था और न देखने की कभी कल्पना की थी।

मैंने उससे कहा, “तुम यहीं से द्वारका लौट जाओ और अपने महाराज से कहो कि द्वारकाधीश मुझे मिले थे। उन्होंने द्वारका की विजय पर आपको बधाई दी है।”

फिर भी वह सिर नीचा किए खड़ा रहा; जैसे धरती में गड़ा जा रहा हो। मुझे लगा कि अब इसका मन पश्चात्ताप के चक्रवात में फँस चुका है। शायद यह चक्कर खाकर गिर न पड़े। मैं स्वयं अपने स्थान से उठा और उसके पास गया।

मैंने उसकी पीठ ठोंकी और बोला, “तुम एक अच्छे स्वामीभक्त हो। स्वामी की आज्ञा का पालन तुम्हारा धर्म था और वह तुमने किया। इसमें तुम्हारा क्या दोष? किंतु मैं तो तुम्हारा स्वामी नहीं हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञा का पालन

करोगे तो एक परोपकार करोगे, जो कभी-न-कभी तुम्हारे काम आएगा। अब तुम जा सकते हो। हाँ, तुम उचित समझो तो अपना नाम बताते जाओ।”

“चंद्रकांत।” उसने अपना नाम बताया और लड़खड़ाता हुआ ऐसे गया जैसे कोई टूटा वृक्ष चल रहा हो।

फिर मैंने प्रतिहारी से कहा, “इसके द्वारका जाने की पूरी व्यवस्था करो।”

भैया के खरटि अब भी गूँज रहे थे।

अर्जुन इस पूरे प्रकरण में मौन रहा। वह सबकुछ बड़े जिज्ञासाभाव से चुपचाप देखता और सुनता रहा। महामात्य की आँखों में कुतूहलपूर्ण व्यंग्य था।

अर्जुन के मुख से तो निकल ही पड़ा—“ऐसी अटल निद्रा मैंने नहीं देखी।”

अब मैंने परिहास करते हुए कहा, “यह सुप्तावस्था की स्थितप्रज्ञ दशा है।”

लोगों को हँसी आ गई।

फिर मैंने महामात्य से क्षमायाचना की मुद्रा में कहा, “किसीको दंड देने या मुक्त करने का अधिकार प्रशासन का है, जिसके शीर्ष बिंदु पर आप हैं। मैंने चंद्रकांत को मुक्त कर आपके अधिकारक्षेत्र में हस्तक्षेप किया है।”

महामात्य विनम्रतापूर्वक कुछ कहना चाहता था, पर अर्जुन बोल पड़ा—“पर आपने ऐसा किया क्यों?”

“इसलिए कि मैं तत्काल उसे उचित दंड देना चाहता था।” मैंने कहा।

“पर आपने तो उसे मुक्त कर दिया।”

“तुमने अनुभव नहीं किया कि यह मुक्त होना ही उसे कितना भारी पड़ा!” मैंने कहा, “वह दंड के लिए तो तैयार था ही। शायद जिस समय से उसने सूचना देने का काम अपने हाथ में लिया था, उसी क्षण से उसकी मानसिकता दंड भोगने के लिए तैयार हो चुकी होगी। उसने मृत्युदंड तक सोचा होगा; पर मेरा दिया दंड उसके लिए अकल्पनीय था। तुमने देखा नहीं, वह कैसी शान से मेरे सामने आया था और कैसा टूटा हुआ गया है! तुम क्या समझते हो, वह शाल्व के पास जाकर मेरी ओर से बधाई दे सकेगा?”

इसी समय प्रतिहारी भीतर आया। उसने बताया—“महाराज, चंद्रकांत द्वारा दी गई सूचना झूठी है।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“आपके आदेशानुसार जब मैं उसके द्वारका जाने की व्यवस्था कर रहा था तब उसने कहा, ‘मैं द्वारका जाकर क्या करूँगा! यदि मैं जा सका तो मार्तिकावत जाऊँगा।’

“‘क्यों? तुम्हारे महाराज तो अब द्वारका में ही होंगे?’ मैंने जब इतना कहा तब उसने बताया कि मैंने जो समाचार दिया है वह झूठा है।”

“देखा मेरे दंड का प्रभाव!” मैंने अर्जुन से मुसकराते हुए कहा, “यदि उसे प्राणदंड दे दिया गया होता तो सत्य और झूठ का इतनी जल्दी निराकरण न हो पाता। इसीलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य को शस्त्र की अपेक्षा बुद्धि से भी जीता जा सकता है।”

□

थोड़ी देर बाद भैया उठे। आँखें खोलते ही उन्हें लगा कि काफी दिन निकल आया है।

“बड़ी देर हो गई।” उन्होंने कहा, “तुम लोगों ने मुझे जगाया क्यों नहीं?”

“हम लोगों ने जगाने की आवश्यकता नहीं समझी।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “हमने सोचा, आप जितना चाहें उतना सो लें; क्योंकि सोने का इससे अच्छा अवसर अब कहाँ मिलेगा!”

“व्यंग्य बोल रहे हो!” भैया की आवाज थोड़ी टेढ़ी हुई—“आखिर द्वारका चलना है कि नहीं?”

“अब चलकर क्या होगा! काफी देर हो गई।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही कि अब द्वारका पर शाल्व का अधिकार हो गया।” मैंने मुसकराते हुए ही कहा।

“यह कैसे हो सकता है?” भैया क्रोध में काँपने लगे—“उस नीच की यह हिम्मत!” फिर उनका चिंतन जागा—“पिताजी का क्या हुआ होगा? नानाजी का क्या हुआ होगा? अंतःपुर की क्या दशा हुई होगी? हमारे बच्चे तो मारे ही गए होंगे; क्योंकि जीते जी कभी उन्होंने ऐसा होने नहीं दिया होगा।” अब उन्होंने पुनः मेरी ओर देखा—“फिर तुम मुसकरा रहे हो! मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।”

“यह अँधेरे में आई सूचना है।” मैंने कहा।

अब वे कुछ हलके हुए।

“तब इसका परीक्षण प्रकाश में करना चाहिए।” उन्होंने कहा।

“प्रकाश में तो कुछ और ही दिखाई देता है।” मैंने कहा और उसी क्रम में उन्हें सारी घटना सुनाई।

फिर वे हँसते हुए बोले, “तेरी बचपन की आदतें अभी गई नहीं।”

किंतु उनका यह निश्चय सर्वमान्य हुआ कि हमें यथाशीघ्र द्वारका पहुँचकर शाल्व को पाठ पढ़ाने की योजना बनानी चाहिए।

महाकाल के दर्शन कर चलने के बाद जब हमारे तीव्रगामी रथ ने पुष्कर का तीर्थ छोड़ा तब सूर्य हमारे सिर पर चमक रहा था। मध्याह्न था। इधर वर्षा का कोई चिह्न नहीं। न बादल और न धरती में नमी। एकदम सूखा-सपाट रास्ता हमें मिलता जा रहा था और हम धड़धड़ाते हुए बढ़ते जा रहे थे।

बहुत कुछ आश्वस्त होने के बाद भी मन तो शंकाकुल हो ही गया था। कहीं-न-कहीं आग तो है ही, जो धुआँ उठा है। चलते हुए भी शंकाग्रस्त मन ने कई करवटें बदलीं और बात-बात में बात निकलती चली गई। पर अंत में इसी बिंदु पर रुकी कि हमें क्या करना चाहिए।

“सीधे शाल्व पर आक्रमण करके उसकी राजधानी मार्तिकावत को भस्म कर देना चाहिए।” भैया बोले।

मैं चुप ही रहा; क्योंकि मैं समझता था कि यह इतना आसान नहीं है। फिर शत्रु की शक्ति की वास्तविकता जाने बिना मैं कभी भी उसपर आक्रमण करने के पक्ष में नहीं था। अर्जुन भी लगभग मेरे विचार का था। पर भैया को तो जो सनक चढ़ जाती थी, उसीमें बहने लगते थे।

उन्होंने कहा, “मान लो कि वह मुझसे शक्तिशाली है, तो क्या उसे छोड़ देना चाहिए?”

“छोड़ना तो नहीं चाहिए; पर बिना सोचे-समझे उसपर आक्रमण भी नहीं करना चाहिए।” मैंने कहा।

भैया एकदम बिगड़ उठे—“तुम्हारे सोचने-समझने ने ही सदा हमारे विरोधियों को पनपने दिया है।” उन्होंने कई घटनाएँ सुनाई, जो जरासंध, कालयवन, शाल्व, सत्राजित् आदि से संबंधित थीं।

“आप कहते तो ठीक हैं।” मैंने कहा, “आखिर सब पराजित हुए न! वैसे ही शाल्व भी पराजित होगा। पर इस समय उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली है।” इसी संदर्भ में मैंने उसके द्वारा की गई रुद्र की तपस्या, उससे मिले वरदान, यादवों के विनाश के उसके संकल्पों की चर्चा की और कहा, “उसने एक ‘सौभ’ नामक विमान की भी व्यवस्था कर ली है। इसीलिए उसका युद्ध आकाशीय भी होगा और राक्षसी भी।”

“तब हमें क्या करना चाहिए?” भैया ने पूछा।

“सभी यादव राजाओं को उसके विरोध में खड़ा करना चाहिए और इस सत्य को प्रसारित करना चाहिए कि शाल्व ने केवल द्वारका के विरोध का नहीं वरन् सभी यादवों के विनाश का बीड़ा उठाया है।”

भैया और अर्जुन दोनों ने मेरी इस योजना का समर्थन किया।

मैंने उन्हें बताया—“इसमें हमें कुछ नहीं करना है, केवल सभी यादवों को एकजुट करना है। बाकी काम तो शाल्व ने स्वयं कर दिया होगा।”

“वह कैसे?”

“उसने अपना संकल्प विस्तार से प्रसारित किया होगा। फिर ये सारी अफवाहें उसने यादव नरेशों के यहाँ प्रमुखता से पहुँचाई होंगी।” मैंने कहा, “हो सकता है, उन अफवाहों को सुनकर ही चेकितान की तरह कुछ यादव द्वारका भी पहुँच गए हों।”

“तब अफवाह फैलाना उसके विरुद्ध ही पड़ा।” अर्जुन बोला।

“विरुद्ध भी पड़ सकता है और इसका लाभ भी उसे मिल सकता है।” मैंने कहा, “जैसाकि मैंने पहले कहा है, कुछ स्वार्थी, दुर्बल और आत्मकेंद्रित यादव राजा इस प्रचार से दुबककर रह सकते हैं। कौन दूसरे के जलते घर में हाथ डाले! यों भी बहुत से लोग शाल्व से डरते हैं।”

हमारा रथ आगे बढ़ा चला जा रहा था। हम लोग मार्ग में जहाँ ठहरते, विश्राम करते, वहीं हमारी इस तरह की चर्चा चलती रहती; क्योंकि इस बार नितांत मायावी व्यक्ति से हमारा सामना था।

“सोचता हूँ, ससुराल होता चलूँ!” मैंने हँसते हुए कहा। पहले झोंके में तो उन्होंने मेरा तात्पर्य समझा भी नहीं। तब मैंने कहा, “यदि महाराज सत्राजित् से मिलता चलूँ तो कैसा हो?”

“अरे, वह तो कभी शाल्व का मित्र था।” भैया बोले।

“कभी न!” मैंने कहा, “जब सत्राजित् ने मुझे स्यमंतक मणि की चोरी लगाई थी और मुझे चारों ओर ‘चोर’ प्रचारित किया था, तब शत्रु का शत्रु मित्र के आधार पर वह सत्राजित् का मित्र हो गया था; पर सत्यभामा के विवाह के बाद तो फिर दोनों में ठन गई।”

सत्राजित् के यहाँ पहुँचने पर भी पता चला कि वे नहीं हैं। हमारे आगमन की सूचना मिलते ही महामात्य दौड़ा हुआ आया। वह हमें देखकर अवाक् रह गया।

“अरे, आप यहाँ! महाराज तो आपके यहाँ द्वारका गए हैं।” सत्राजित् के महामात्य ने कहा और अत्यंत व्यग्र हो पूछा, “सब कुशल तो हैं?”

उसकी व्यग्रता से स्पष्ट था कि उसे भी द्वारका के पराजित होने की सूचना मिल चुकी है।

मैंने सहजभाव से कहा, “हम लोग तो इंद्रप्रस्थ से आ रहे हैं।”

“आपको मालूम नहीं क्या?”

“ऐसी ही उड़ती सूचनाएँ मिली हैं। सत्य, अर्द्धसत्य और असत्य के बीच की।” मैंने कहा।

फिर उसने वे ही बातें बताईं, जिन्हें हम जानते थे। उसने बताया—“अपने महाराज को जब अर्द्धरात्रि में जगाकर हमने सूचना दी तब वे क्रोध में विक्षिप्त होने लगे। उसी समय उन्होंने शाल्व के लिए अनेक अपशब्दों का प्रयोग किया और हम लोगों से बोले, ‘देखा शाल्व की नीचता! हो सकता है, अभी कन्हैया इंद्रप्रस्थ से भी न लौटे हों और उसने द्वारका पर आक्रमण कर दिया। राजा के अभाव में राजधानी पर हमला! यह तो नीति-विरुद्ध है। सरासर अधर्म है!’”

महामात्य ने यह भी बताया—“महाराज उसी समय तैयार हुए और सेना के शक्तिशाली योद्धाओं को लेकर द्वारका की ओर चल पड़े तथा सावधान करते गए—‘कोई भी स्थिति हो सकती है। आप लोग भी तैयार रहिएगा। हो सकता है, आपको भी द्वारका आना पड़े। हम लोगों के जीते जी द्वारका शाल्व के हाथ में चली जाए, इसके पहले हमें डूब मरना चाहिए।’”

मैंने अर्जुन की ओर मुसकराते हुए देखा। मेरी मुसकराहट की भाषा में लिखा था—‘देखा, यह भी सूचना अर्द्धरात्रि को ही आई है। यह सारी लड़ाई अंधकार की है। ज्ञान का सूर्य निकलते ही परिस्थितियाँ एकदम बदल जाएँगी।’

“तो हम आपकी क्या सेवा करें?” महामात्य ने पूछा।

“सोचता हूँ, आज की रात यहीं बिताऊँ। कल प्रातः आराम से निकलूँगा।” मैंने सहजभाव से कहा।

मेरी सहजता पर वह चकित था। उसने कहा भी—“आप तो एकदम निश्चित लगते हैं।”

मेरी स्वाभाविक हँसी फिर उभरी। मैंने कहा, “जिसकी इतने लोग चिंता करनेवाले हों, उसे चिंता करने की क्या आवश्यकता! और अब चिंता करके करूँगा भी क्या! जो होना था, वह तो हो गया होगा।”

हमें ससम्मान अतिथिगृह में ठहराया गया। भैया की चुप्पी से स्पष्ट था कि वे इन सारे प्रसंगों से बेहद नाराज हैं; क्योंकि उनकी प्रकृति थी कि जब वे अप्रसन्न होते थे या जब उनकी वाली नहीं होती थी तो वे मुँह बंद कर लेते थे। सबकुछ सुनकर भी ऐसा लगता था जैसे वे सुनते ही नहीं हों।

इस समय भैया की अप्रसन्नता इस बात को लेकर थी कि उनके विचार के अनुसार हमें सीधे द्वारका चलना चाहिए और शाल्व को पकड़कर चीर देना चाहिए। हम जितना समय नष्ट कर रहे हैं, उतना बुरा कर रहे हैं।

मैंने उन्हें समझाया—“हमने उसके विरुद्ध युद्ध का मोरचा बनाना आरंभ कर दिया है। इन यादव राजाओं के यहाँ मैं जो होता चल रहा हूँ, इसका स्पष्ट उद्देश्य है इन्हें एक मंच पर लाना।”

“जब द्वारका समाप्त हो जाएगी तब हम इन्हें एक मंच पर लाकर क्या करेंगे?”

“कैसे समाप्त हो जाएगी?” मैंने कहा, “हमारी पूरी सेना है, हमारे बच्चे हैं; फिर ये यादव राजा हमसे पहले वहाँ पहुँच गए हैं। हमें तो बस ऐसा वातावरण बनाना है कि लोग समझें कि शाल्व का यह आक्रमण द्वारका या हमारे विरुद्ध नहीं है वरन् यादवों के विनाश का श्रीगणेश है। जहाँ हमने यह वातावरण बनाया वहाँ युद्ध की दिशा ही बदल जाएगी। तब यह युद्ध यादवों और शाल्व के बीच हो जाएगा—और यही मैं चाहता हूँ।”

“यदि तुम चाहते हो तो जो चाहो, सो करो।” भैया बोले और चुप हो गए।

भैया का चिंतन किसी बिंदु पर बहुत स्थिर नहीं रहता था और न उसके हर पक्ष पर दूर तक वे विचार कर सकते थे। आवेग में वे कुछ भी कर सकते थे, कर देते थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही हम लोग वहाँ से चलने को हुए। महामात्य ने हमें भरपूर जलपान कराया और मार्ग के भोजन की भी व्यवस्था की। फिर बोला, “मैं आपकी और क्या सेवा कर सकता हूँ?”

उसका तात्पर्य था कि यदि आप थोड़ी-बहुत सेना भी चाहें तो मैं उसे दे सकता हूँ।

मैंने स्पष्ट कहा, “हमें सेना की नहीं, महाराज के आशीर्वाद की आवश्यकता थी, जो मिल गया।”

जब मैं राजभवन से निकला तो भैया बोल उठे—“अब तो सीधे द्वारका चलोगे?”

“सोचता हूँ कि जरा सात्यकि को भी देखता चलूँ।” मैंने कहा।

“अरे, वह तो तुम्हारा मित्र ही है। समाचार सुनते ही द्वारका पहुँचा होगा। यदि मिलना ही है तो द्वारका में ही मिल लेना।”

मैं एक क्षण चुप रहा। अब भैया को कैसे समझाऊँ। मैंने उनके अहं को सहलाते हुए किसी प्रकार कहा, “आप कह तो ठीक रहे हैं। निश्चय ही वह द्वारका गया होगा। फिर भी उसके यहाँ चलना इसलिए आवश्यक है कि हम मार्ग में सभी यादव नरेशों के यहाँ होते चल रहे हैं। कहीं उसके पूज्य पिताश्री सत्यक यह न सोचें कि वे लोग सबके यहाँ गए, पर मेरे यहाँ नहीं आए। वे हमें तो पालित श्वान समझते हैं। सोचते हैं, जब चाहेंगे, उन्हें किसीके विरुद्ध भौंकने के लिए खड़ा कर देंगे।”

भैया सोचने लगे। बोले, “इसका तात्पर्य है कि वहाँ भी तुम एक दिन का विश्राम लोगे!”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। सत्यक चाचा से मिलकर चल पड़ूँगा।”

मैंने ऐसा किया भी। औरों की तरह सात्यकि भी समाचार मिलते ही द्वारका प्रस्थान कर चुका था। उस समय उसके वृद्ध पिताजी ही मिले। वे भी हमें देखते ही चकित हो गए—और जब उन्होंने सुना कि हम इंद्रप्रस्थ से आ रहे हैं तो अन्य लोगों की तरह ही उनका आश्चर्य भी शिखर पर था।

मैंने बड़ी आत्मीयता व्यक्त करते हुए कहा, “द्वारका की सुरक्षा के लिए आप लोग तो हैं ही। आप ही लोगों के बल पर मैं इतने-इतने दिनों तक द्वारका से बाहर रह जाता हूँ। फिर शाल्व से यह लड़ाई केवल हमारी तो है नहीं। इस बार तो उसने सारे यादवों को ललकारा है। यादवों को समूल नष्ट करने का संकल्प लिया है।”

“कहीं यही संकल्प उसके विनाश का कारण न बने!” उन्होंने कहा।

“यदि आप जैसे लोगों का आशीर्वाद और भागीदारी रहेगी तो ऐसा ही होगा।”

□

द्वारका की राज्य सीमा में पहुँचते-पहुँचते संध्या हो चली थी। मार्ग में मिलते लोगों की आकृति की हवाइयाँ उड़ी हुई थीं। भय और आतंक से ऐसे सहमे-सहमे कि कुछ बोल नहीं पा रहे थे। केवल हाथ उठाकर अभिवादन की औपचारिकता निभा रहे थे। उनको देखने से स्पष्ट लग रहा था कि विपत्ति का कोई अग्नि-ज्वार उनके ऊपर से गुजर गया है। उसकी चुभती चिनगारियाँ अब भी उनकी स्मृति में शेष हैं।

हम लोगों की मानसिकता भी उन लोगों को देखकर आंदोलित हो उठी थी। आकाश में पसरी संध्या की लाली में हमें उस अग्नि-ज्वार की प्रतिच्छाया ही दिखाई दे रही थी। विधवा के उजड़े सुहाग की तरह संध्या का ऐसा उदास रूप मैंने कभी नहीं देखा था।

सात्यकि के यहाँ पहुँचते-पहुँचते ही हमारे आगमन की सूचना गुप्तचरों ने द्वारका पहुँचा दी थी। फिर भी न कोई हमारी अगवानी में आया और न हमारे आगमन पर कोई उल्लास ही दिखाई दिया। केवल अमात्य मंडल के कुछ लोग नगर द्वार पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

न तो हमारी यात्रा के बारे में किसीने जिज्ञासा की, न तो देर से लौटने का किसीने कारण पूछा; वरन् अमात्य मंडल के एक सदस्य ने बिना किसी भूमिका के कहा, “भगवान् की कृपा थी कि द्वारका बच गई।”

“आप लोगों की सहायता के लिए कोई नहीं आया?” मैंने पूछा।

“हम लोग कई जगह गए थे। पता चला कि हमारे पहुँचने के पहले ही वे लोग यहाँ के लिए चल पड़े हैं। हमें आश्चर्य था कि यह कैसे हो सकता है? उन्हें सूचना किसने दी? पर यहाँ आकर देखा कि चेकितान, सत्राजित्, सात्यकि आदि कई महारथी एवं अतिरथी पधार चुके हैं। यदि वे समय से न आए होते तो पता नहीं क्या हो जाता!” हमारे पूछने के पहले ही अमात्य मंडल के लोग पिछली विभीषिका के विषय में बताने लगे। इसी सिलसिले में उन्होंने कहा, “कुमार प्रद्युम्न बुरी तरह घायल हैं।”

“क्या उसे बहुत चोट आई है?” भैया बोल उठे।

“हाँ, वे तो बिल्कुल फँस गए थे। शाल्व की सेना ने उन्हें घेर लिया था और समरभूमि में ही वे अचेत होकर गिर गए थे। सारी द्वारका त्राहि-त्राहि कर रही थी।”

“तब उसे छुड़ाया किसने?”

“कौन छुड़ाता उन्हें! पूज्य पिताजी तो बंदी बना लिये गए थे।”

“तो क्या पिताजी का अपहरण भी हुआ था?” मैंने पूछा।

“हाँ, एक दिन के लिए वे शाल्व के यहाँ थे ही।” एक अमात्य बोला, “आप इसे अपहरण ही समझिए।”

“तो फिर जो सूचना हमें मिली थी, वह सही थी।” मैंने भैया और अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा।

“फिर वे कैसे मुक्त हुए?” हमारी तत्काल जिज्ञासा थी।

“यह तो आप उन्हींसे पूछिएगा।” अमात्य बोला, “शायद इस विषय में कोई और नहीं जानता।”

“हाँ, तो तुम प्रद्युम्न के विषय में बता रहे थे।” भैया बोले।

अमात्य पुनः प्रद्युम्न के विषय में बताने लगा—“वे युद्ध में अचेत हो गिर गए थे। वे शत्रुओं द्वारा चारों ओर से घिर गए थे। निश्चित था कि ऐसी स्थिति में वे मारे जा सकते थे कि अचानक वह हुआ, जिसे न कभी हम लोगों ने देखा था और न सुना था—और न इसका पूर्वाभास शत्रु ही कर सकता था।” फिर अमात्य की मुद्रा एकाएक बदली। उसने बताया—“फिर लोगों ने अचानक देखा कि एक रथ पर, जिसका संचालन दारुक कर रहा है, एक वीरांगना शत्रुओं को चीरती हुई सीधे शाल्व के निकट पहुँची और ऐसी घुमाकर गदा मारी कि शाल्व का मुकुट गिर गया। उसके सिर से रक्तधारा बह चली। वह लगभग अचेत होने की स्थिति में आ गया। उसका सारथि उसकी प्राणरक्षा करता हुआ भागा। बस युद्ध का पासा ही पलट गया।”

मैं समझ गया कि रेवती भाभी के अतिरिक्त वह वीरांगना कोई दूसरी नहीं हो सकती। मैंने अपनी सहज मुसकराहट के साथ ही भैया की ओर देखकर सयास कहा, “कभी रेवती भाभी ने गदायुद्ध में आपके दाँत खट्टे किए थे, आज शाल्व को किनारे लगा दिया।”

“चुप रहो। व्यर्थ की बात मत करो!” भैया झुँझलाए—“आप लोग यह बताइए कि फिर प्रद्युम्न को युद्ध से निकाला किसने?”

अमात्य ने फिर कहना शुरू किया—“शाल्व के दुलकते ही उसकी सेना भाग चली। तब महारानी ने दारुक की सहायता से अचेत कुमार प्रद्युम्न को उठाया और अपने रथ में डाल लिया।”

रेवती भाभी के इस शौर्य पर हम एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। मेरे मन में कई तरह के विचार आए। पहली बात तो यह थी कि हमारे समाज ने युद्धक्षेत्र में स्त्रियों की वर्जना करके अच्छा नहीं किया गया। यद्यपि अतीत में ऐसा नहीं था। दूसरी बात के लिए मैंने भगवान् को कोटिशः धन्यवाद दिया कि उसने दारुक को इंद्रप्रस्थ से पहले भेजने की प्रेरणा दी। यदि दारुक न होता तो शायद रेवती भाभी भी वह शौर्य दिखा नहीं पातीं। तब द्वारका का क्या होता? मेरे लिए यह सोचना भी एक भयावह स्वप्न देखना था।

इसके बाद सीधे हम लोग राजभवन में आए और उस कक्ष में पहुँचे, जहाँ प्रद्युम्न की चिकित्सा हो रही थी। हमने देखा, उस विशाल कक्ष में कई व्यक्ति ओषधि तैयार कर रहे हैं। राजवैद्य वहाँ बैठे हैं। उनके निर्देश पर कुछ लेप प्रद्युम्न के घायल अंग पर लगाए जा रहे हैं। द्वारपाल से यह भी ज्ञात हुआ कि महाराज सत्राजित् के साथ चेकितान आदि कई राजे-महाराजे राजकुमार को देखने आए थे। अभी कुछ समय पहले ही वे यहाँ से गए हैं।

वैद्यराज ने हमें देखते ही पहली सूचना यही दी कि घबराने की कोई बात नहीं है। राजकुमार दो-एक दिनों में उठकर खड़े हो जाएँगे।

जब हम लोगों ने प्रद्युम्न से बातें कीं तो वह बड़े उत्साह में दिखा। उसकी आकृति एक विजयी योद्धा की तरह अपनी पीड़ा पीकर मुसकराहट उगल रही थी। हम लोगों ने उसके युद्ध-कौशल की सराहना करते हुए उसकी प्रशंसा की। उसका उत्साहवर्द्धन किया।

मेरी दृष्टि तो बरबस अपनी पत्नियों पर लगी थी। ज्यों ही मैं कक्ष में आया, वे रेवती भाभी के साथ एकदम किनारे जाकर खड़ी हो गईं। न आपस में बातें कर रही थीं, न मेरी ओर देख ही रही थीं। मेरे आने पर उन्होंने किसी प्रकार का अभिवादन भी नहीं किया। स्पष्ट लगा कि वे मुझसे बेहद नाराज हैं।

अब बातें कैसे शुरू की जाएँ? मैं सबको छोड़कर आगे बढ़ा और रेवती भाभी के चरण छूते हुए बोला, “आखिर आपको भी गदा उठानी पड़ी!”

“जब तुम लोगों ने चूड़ियाँ पहनकर द्वारका छोड़ दी तब मैं क्या करती!”

“अपने बच्चों को मरने देतीं।” यह धधकती आग रुक्मिणी के हृदय की थी—“और उनके चिंतामुक्त पिता एवं ताऊ को आर्यावर्त में घूम-घूमकर आनंद लेने देतीं।”

फिर क्या था, एक-एक करके सबने उलाहने देने शुरू किए। इस कार्य में उनकी वाणी ने शिष्टता की मर्यादाओं का कई बार उल्लंघन किया। किसीने हमें कायर कहा, किसीने घुमंतू कहा, किसीने घर की चिंता किए बिना संसार के लिए व्याकुल कहा, किसीने यहाँ तक कहा कि आपको तो गृहस्थ जीवन में आना ही नहीं चाहिए था।

पर मैं एक चुप, हजार चुप। मैंने सोचा, धुएँ को भभककर निकल जाने दो। रह जाएगी आग, वह धीरे-धीरे खुद बुझ जाएगी। इसलिए मैंने अपनी पत्नियों के उबाल को पूरी तरह निकलने दिया।

मैं केवल इतना ही बोला, “आपको हमारी परिस्थितियों का ज्ञान नहीं है, अन्यथा आप हमारे लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करतीं। वस्तुतः क्रोध में बुद्धि पर नियंत्रण रहता नहीं; फिर भी मैं आपके इस क्रोध का अभिनंदन करता हूँ।”

“हमारे क्रोध का अभिनंदन कीजिए या मत कीजिए।” रुक्मिणी बोली, “पर हम यह अवश्य चाहती हैं कि आप लोग राजधानी छोड़कर बहुत दिनों तक उससे दूर रहना छोड़ दीजिए।”

“हम भी गंभीरतापूर्वक ऐसा ही अनुभव कर रहे हैं।” मैंने कहा। फिर राजवैद्य से पिताजी के विषय में पूछा।

“उन्हें कहीं चोट नहीं लगी थी।” राजवैद्य ने कहा, “दिन भर वे शाल्व की पकड़ में रहे अवश्य।”

“फिर उनको उसने छोड़ा कैसे?”

“यह तो वे ही बता सकते हैं।” राजवैद्य ने कहा।

हमारी जिज्ञासा चरम सीमा पर थी। उस नीच ने उन्हें पकड़कर छोड़ कैसे दिया? यह तो उस दुष्ट की प्रकृति के विरुद्ध है। हम लोग वहीं से सीधे पिताजी के पास पहुँचे।

जैसाकि आप जानते हैं, हमारे पिताजी का आवास प्रासाद परिसर में ही था, पर था राजभवन से बाहर। हम लोग राजप्रासाद से बाहर आए। अँधेरा हो चला था। हर जगह मशालें जला दी गई थीं। जब हम पिताजी के आवास पर पहुँचे, वे संध्या-वंदन पर थे। माताजी से ज्ञात हुआ कि पिताजी अब पूजन से उठने ही वाले हैं। तुम्हारे आने की सूचना उन्हें मिल गई है।

तब तक हम लोग माताजी के चरण छूकर उन्हींके पास बैठ गए। उन्होंने भी कुछ वैसी ही उलाहना दी जैसी हमारी पत्नियाँ दे चुकी थीं; किंतु उनमें जरा भी आक्रोश नहीं था वरन् माता का सहज ममत्व था, हमारी लाचारी की समझ थी और था नियति की सदयता पर उसके प्रति आभार।

पूजन से उठते ही पिताजी ने सबसे पहले हमारा ही हाल पूछा।

शीघ्र ही संदर्भ बदलते हुए हमने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की—“उस नीच ने आपका अपहरण कर लिया था?”

“हाँ, अपहरण ही समझो।” उन्होंने मुसकराते हुए कहा, “एक दिन तक तो वह बंदी बनाए ही रहा और पूरी द्वारका में मेरा अपहरण किए जाने का समाचार प्रसारित करा दिया। हाहाकार मच गया।”

“इस समाचार को उसने द्वारका में ही नहीं, पूरे आर्यावर्त में प्रसारित कराया।” मैंने कहा, “जिससे उस दुष्ट के पराक्रम से सारा देश थर्रा उठे।”

“बड़ा नीच है वह!” पिताजी बोले, “तुम लोग भी घबरा गए होगे?”

“बात ही ऐसी थी।” मैंने कहा, “पर यह सब हुआ कैसे?”

“बात यह हुई कि तीन दिनों तक प्रद्युम्न ने उसका जमकर सामना किया। चौथे दिन उसने रात को भी युद्ध जारी रखने की योजना बनाई। वह तो मायावी और राक्षसी युद्ध का भी जानकार है। मुझे यह सूचना दिन डूबते-डूबते मिली। जब युद्ध बंद नहीं हुआ तब मैंने एक सेनापति से इसका कारण पूछा। तब उसने रात्रियुद्ध करने की उसकी योजना बताई।”

पिताजी बोलते जा रहे थे—“मैं एकदम घबरा गया। सोचने लगा, अब तो मेरा पौत्र परेशानी में पड़ जाएगा। तुम लोगों में से कोई था भी नहीं, क्या किया जाए? मैंने स्वयं युद्ध में जाने का निश्चय किया। महामात्य ने मुझे रोका। प्रधान सेनापति ने भी कहा कि आपकी अवस्था और स्वास्थ्य दोनों युद्ध में जाने योग्य नहीं हैं। आप राजभवन में विश्राम करें और वहीं से हमें आशीर्वाद तथा निर्देश दें। हम लोगों के जीते जी कोई भी अप्रिय घटना नहीं होगी। पर मैंने किसीकी एक बात नहीं सुनी। मैं अपना रथ ले युद्धस्थल में आ गया।”

पिताजी कहते जा रहे थे—“मैं कुछ कर पाऊँ, इसके पहले ही मैं उसके मायायुद्ध के चक्कर में फँस गया। उसका सौभ विमान ठीक मेरे रथ के आगे आकर खड़ा हो गया। चालक ने ऐसा सम्मान दिखाया जैसे वह मेरा शत्रु नहीं, मित्र हो। उसने बड़े आग्रह से कहा, ‘मुझे कन्हैया ने भेजा है। उनका कहना है कि आप युद्ध न करें और इस विमान में बैठकर मेरे पास आ जाएँ।’ उसने यह भी बताया—‘कन्हैया यहाँ से मुश्किल से एक योजन की दूरी पर हैं। अब तो वे पहुँचते ही होंगे, फिर तो युद्ध की स्थिति ही बदल जाएगी।’

“बस, मैं उसके धोखे में आ गया।” पिताजी ने बताया—“ज्यों ही मैं विमान पर चढ़ा, वह शाल्व के शिविर की ओर उड़ा और मैं बंदी बना लिया गया।

“फिर मैं क्या कर सकता था!” पिताजी ने कहा, “मुझे एक शिविर में रखा गया। बाहर कठोर पहरा था। भीतर की व्यवस्था राजसी थी। मेरी सेवा में दास-दासी सब थे। सुना, मेरे बंदी होते ही युद्ध समाप्त हो गया। रात्रि में कई बार मेरे शिविर के सामने अट्टहास करता और यह कहता हुआ शाल्व गुजरा कि आज द्वारकाधीश का पिता मेरा बंदी है। मैं उसका कुछ भी कर सकता हूँ।”

“तब आप भयभीत नहीं हुए?” भैया ने पूछा।

“मुझे भयभीत करने के लिए तो उसने यह सब किया था। यह जानते हुए मैं भयभीत क्यों होता!” पिताजी ने कहा, “फिर मैंने तो कंस के बंदीगृह की यातना झेली है, बेटे, जहाँ हर क्षण प्राण सूली पर टँगा रहता था। मैं तो इस प्रकार का जीवन जीने का आदी था और आज भी हूँ।”

पिताजी बोलते गए—“सवेरा होते-होते शाल्व के शिविरों में एक विचित्र प्रकार का कोलाहल हुआ कि सत्राजित्, सात्यकि आदि कई यादव राजाओं की सेना आ रही है। यह सामूहिक आक्रमण भयानक होगा। बस शाल्व की सिट्ठी-पिट्ठी गुम हो गई।”

“दूसरे को भयभीत करनेवाला स्वयं भयभीत हो गया।” मैंने कहा, “जब आतंक युद्ध उलटता है तब ऐसे ही परिणाम होते हैं। जिन यादवों को आतंकित कर शाल्व एक-दूसरे से अलग कर देना चाहता था, वे उसीके विरुद्ध एकत्रित होने लगे।” इसके बाद मैंने विस्तार से पिताजी को पिछली घटनाएँ सुनाईं।

पिताजी हँसने लगे। बोले, “काग की चतुराई बहुधा उसे गंदगी में चोंच मारने को विवश कर देती है।” फिर वे चुप हो गए। लगा, कुछ कहना चाहकर भी उन्होंने कहना उचित नहीं समझा। मैंने कई प्रश्न किए; पर वे सभी इधर-उधर की बातों से टालते गए। बहुत जोर देने पर उन्होंने आपबीती का अंतिम अंश सुनाया—“फिर मुझे अचानक शाल्व के सामने उपस्थित किया गया। उसका अहं मुझे देखते ही चीखा—‘जानते हैं, इस समय आप मेरे बंदी हैं।

मैं चाहूँ तो आपकी हत्या कर सकता हूँ।’

“ ‘तुम करने को तो कुछ भी कर सकते हो।’ मैंने बड़ी निर्भीकता से कहा, ‘पर तुम करोगे नहीं।’

“ ‘क्यों?’

“ ‘क्योंकि तुमने अभी कहा है कि आप मेरे बंदी हैं—और बंदी को न्यायाधिकरण ही प्राणदंड दे सकता है, तुम नहीं।’ ”

पिताजी ने आगे बताया—“वह मेरा मुख देखने लगा। बोला, ‘मैं आपको मार नहीं सकता?’

“ ‘मारने के लिए मुझे मुक्त करना होगा।’ मैंने कहा, ‘तब मैं बंदी नहीं रह जाऊँगा। केवल तुम्हारा शत्रु रहूँगा। फिर भी तुम मेरी हत्या नहीं कर पाओगे; क्योंकि मैं निरस्त्र रहूँगा। निरस्त्र शत्रु को मारना शास्त्र-वर्जित है।’

“ ‘और यदि मैं आपको शस्त्र दे दूँ तब क्या होगा?’

“ ‘तब मुझमें और तुममें युद्ध होगा।’ मैं बोला। इसके बाद वह गंभीर हो गया। बोला, ‘अब आपसे क्या युद्ध करूँ! आप वय में मुझसे बहुत बड़े हैं।’ इस बीच गंभीर कोलाहल हुआ। उसकी व्यग्रता और बढ़ी। घबराकर उसने प्रहरियों से कहा, ‘जहाँ से इन्हें ले आए हो वहीं ले जाओ और इनपर दृष्टि रखो।’ ”

पिताजी कहते गए—“फिर मध्याह्न के बाद ही मैं छोड़ दिया गया। उसके सैनिक मुझे द्वारका के नगर द्वार तक छोड़ गए। सत्राजित् आदि मेरी खोज में निकलने ही वाले थे कि मुझे सकुशल देखकर बड़े प्रसन्न हुए।”

हम लोगों ने अनुभव किया कि शाल्व की व्यग्रता हमारे पूज्य पिताजी के लिए वरदान सिद्ध हुई, अन्यथा वह नीच कुछ भी कर सकता था। भैया तो इतने उत्तेजित थे कि उसका उपचार शीघ्र कर देना चाहते थे। संप्रति मैं मौन रहा।

हम बाहर आए तो फिर महामात्य हमारे साथ हो लिया। हमारे अभाव में द्वारका में क्या-क्या घटित हुआ, उसका लेखा-जोखा देने लगा। अचानक वह अपने विचार रथ के अश्वों को रोकते हुए बोला, “एक विचित्र घटना हुई, जिसके विषय में कुछ विशेष बताया नहीं जा सकता।”

हमारी जिज्ञासा विशेष रूप से उसका मुख देखने लगी।

उसने बताया—“एक चर आया था। वह सीधे मुझसे मिला। उसने कहा, ‘द्वारकाधीश जब आएँ तो उनसे कहिएगा कि मैं उनकी आज्ञा का पालन करने यहाँ तक आया था; पर यहाँ अपने स्वामी शाल्व को न पाकर उनसे द्वारकाधीश का संदेश कह नहीं पाया।’ इतना कहते-कहते वह गिर गया और देखते-देखते उसने दम तोड़ दिया।”

“आप लोगों ने उसे बचाने की चेष्टा नहीं की?” मैंने पूछा।

“बहुत की। उसे उठाकर चिकित्सालय में ले जाया जा रहा था।” महामात्य ने बताया—“चर ने कहा, ‘अब मुझे कहीं मत ले जाइए। मेरा पश्चात्ताप मेरे तन और मन को चाल चुका है। मैं थोड़े ही समय का मेहमान हूँ। गिनी-चुनी साँसें ही रह गई हैं। द्वारकाधीश का संदेश न देना होता तो मेरी जिजीविषा यहाँ तक शायद मुझे न ला पाती।’ इतना कहते-कहते वह श्लथ होने लगा और उसके प्राण-पखेरू देखते-देखते उड़ गए।”

मैं तो समझ गया कि वह कौन रहा होगा। फिर भी पूछा, “आप लोगों ने उसका नाम नहीं पूछा?”

“हाँ, पूछा था। वह तो बताना ही भूल गया।” महामात्य बोला, “उसका नाम था चंद्रकांत।”

अब मैंने अर्जुन की ओर देखा। वह भी बड़ा गंभीर हो गया। उसने कहा, “आपका क्षमा करना उसे बड़ा भारी पड़ा।”

“मैंने उसके दंड को क्षमा नहीं किया था, बल्कि क्षमा का दंड दिया था।”

इस संदर्भ को यहाँ हम और अर्जुन दो ही जानते थे, इसलिए और कोई समझ नहीं पाया।

□

यद्यपि रात अधिक जा चुकी थी, फिर भी मैंने अपने अतिथि राजाओं से आज ही मिलना उचित समझा।

“यदि वे सो गए हों तो?” अर्जुन ने शंका की।

“तो हम लौट आएँगे।” मैंने कहा, “उन्हें यह कहने का अवसर तो नहीं मिलेगा कि द्वारका में पहुँचते ही हमने उनकी सुधि नहीं ली।”

पर आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हमारी प्रतीक्षा में सभी जाग रहे थे। पहुँचते ही अतिथिभवन के प्रहरी ने हमें सूचना दी कि लोग मध्य के विशाल कक्ष में बैठे आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम लोगों के कक्ष में पहुँचते ही सत्राजित् को छोड़कर लोग खड़े हो गए। यथोचित अभिवादन का आदान-प्रदान हुआ।

सात्यकि ही पहले बोला, “द्वारका को विपत्ति में फँसी सुनकर ही हम दौड़ पड़े। हमने आपके बुलावे की प्रतीक्षा तक नहीं की।”

“हम आप सबकी इस कृपा के आभारी हैं।” मैंने सविनय कहा, “आप यह न सोचें कि हमने आपको स्मरण नहीं किया था। चर भोजना तो दूर, हम आप लोगों के यहाँ स्वयं गए थे; पर यह हमारा सौभाग्य ही था कि हमारे पहुँचने के पूर्व ही आप सभी द्वारका के लिए प्रस्थान कर चुके थे।”

“पर आपके और मित्र अभी तक नहीं पधारे!” चेकितान बोला।

“हो सकता है, वे देर-सबेर आएँ या न आएँ।” मैंने कहा, “वे लोग ही आएँगे न, जहाँ शाल्व ने सूचना भेजी है।”

“तो क्या यह सूचना शाल्व द्वारा भेजी गई थी?” मेरे श्वसुर सत्राजित् ने पूछा।

“आप इस तथ्य पर चकित हैं न!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह सूचना उसने ही भिजवाई थी और यादव राजाओं के यहाँ ही भिजवाई थी।”

“ऐसा क्यों किया उसने?”

“यादव राजाओं को आतंकित करने के लिए।” मैंने कहा, “जिससे लोग देख लें कि जब शाल्व द्वारका पर अधिकार कर सकता है, तो उसके सामने टिकने की औरों की हस्ती ही क्या है!”

“तो इस सूचना के प्रसारित करने का उसका एकमात्र उद्देश्य यही था कि लोग आतंकित होकर उसकी शरण में चले जाएँ!” चेकितान बोला।

“इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है!” मैंने कहा। फिर मैंने अचानक बात बदल दी—“जो भी हो, इस समय आप विश्राम करें। रात्रि अधिक जा चुकी है। कल प्रातः पूजन के बाद हम फिर मिलेंगे, तब विस्तार से चर्चा होगी। आप लोगों ने ऐन मौके पर पधारकर द्वारका को बचाया। हम आपके इस उपकार को कभी नहीं भूलेंगे।”

मैंने उन्हें यह कहने का भी अवसर नहीं दिया कि हमारे आगमन के पूर्व ही द्वारका बच गई थी। फिर हम अतिथिगृह से वापस चले आए। मैंने भैया को प्रथम उनके भवन पहुँचाया। अब मेरे साथ केवल अर्जुन रह गया था।

प्रकृति की अचानक मुद्रा बदली। ऐसा लगा कि तेज तूफान आने वाला है। मैंने रथ समुद्र की ओर मोड़ दिया।

“आज विश्राम नहीं करेंगे क्या?” अर्जुन बोला।

“जब प्रकृति की उत्पात की मुद्रा है तब हम विश्राम क्यों करें!” मैंने कहा।

“तब हम भी उत्पात करें।” अर्जुन मुसकराते हुए बोला।

“कहाँ?”

“शय्या पर।” इतना कहते ही वह जोर से हँस पड़ा—और मैं भी।

अर्जुन में एक विशेष बात थी। औरों की उपस्थिति में तो वह बड़ा गंभीर रहता था, पर एकांत होते ही वह मुझपर

चोट करने से बाज नहीं आता था। इस समय भी उसकी मुद्रा चुटीली थी—“अग्रजश्रेष्ठ, इतने दिनों तक भाभियों को आप छोड़े रहे। आज तो वे आँखें बिछाए करवट बदल रही होंगी। इस तूफान से कहीं अधिक हाहाकार करता उनके हृदय का तूफान होगा।”

“पर मुझे तो सागर का तूफान अपनी ओर खींचता है।” मैंने कहा, “पता नहीं क्यों, अंधकार में जब समुद्र तड़पता है तब मुझे बहुत अच्छा लगता है।”

“तुम बड़े निष्ठुर हो, कन्हैया!” अर्जुन के परिहास ने उलाहना भरी मुद्रा बदली—“तुम समुद्र को ही तड़पाया करो, भाभियों को नहीं। यदि तुम्हें उन्हें तड़पाना ही है तो भाभियों की संख्या क्यों बढ़ाते जा रहे हो?”

“मैं भाभियों की संख्या बढ़ा रहा हूँ! यह क्या कह रहे हो, पार्थ? मैं तुम्हारे जैसा थोड़े ही हूँ कि जहाँ जाऊँ वहीं एक विवाह कर लूँ।”

“अरे, विवाह करो या फँसाकर लाओ—कहने का तात्पर्य है कि भक्त बनाकर लाओ, दोनों में कोई अंतर तो है नहीं।”

“क्यों नहीं अंतर है!” मैंने कहा, “भक्ति में एकपक्षीय समर्पण है और विवाह में द्विपक्षीय। भक्ति में भगवान् की स्वीकृति है और विवाह में समाज की।”

“अरे वाह रे भगवान्! तुम भी अद्भुत हो।” अर्जुन इतना कहकर चुप हो गया। स्पष्ट लगा कि वह कुछ और कहना चाहता था, पर मेरे व्यक्तित्व ने उसके अधरों पर अँगुली धर दी।

अब हम समुद्र के किनारे आ गए थे। सामने उसका गर्जन था। उत्ताल तरंगों का हाहाकार था। वात्याचक्र में लहरों का नर्तन-विवर्तन था और थी समुद्र के फेनिल जल में गहन अंधकार की घुली-मिली कालिमा। वहाँ पहुँचकर हम दोनों आत्मकेंद्रित हो गए थे। बहुत देर तक मेरा मन उस सिंधु-गर्जन में खोता रहा। मैंने अंधकार का मौन तो अनेक बार सुना था, पर आज मौन का चीत्कार सुन रहा था। हमें समय की सीमा का भी ज्ञान नहीं रहा; पर तारों की झिलमिलाहट ने रात्रि के उतार की ओर हमारा ध्यान खींचा, तब हम वहाँ से चल पड़े।

□

पूर्व निश्चय के अनुसार दूसरे दिन प्रातः पूजन के बाद मैं भैया को लेकर अतिथिगृह के मंत्रणाकक्ष में पहुँचा। अर्जुन पहले से ही वहाँ उपस्थित था।

बातें शुरू हुईं।

“अब क्या करना चाहिए?” सत्राजित् ने पूछा।

“जैसी आप सबकी राय हो।” मैंने कहा।

“शाल्व ने आक्रमण किया था द्वारका पर। विपत्ति में थी द्वारका। संकटापन्न है आप लोगों की प्रतिष्ठा। ऐसे में हम लोग क्या कर सकते हैं?” सत्राजित् ने पूछा।

“कदाचित् आप गहरे भ्रम में हैं।” मैंने कहा, “यह समस्या द्वारका की ही नहीं है और न केवल हमारी प्रतिष्ठा संकटापन्न है। वस्तुतः यह संकट संपूर्ण यादव समाज का है।” मैंने कहा और शाल्व के रुद्र-पूजन तथा उसके संकल्प की पुनः चर्चा की और बताया—“द्वारका पर आक्रमण तो उसके संकल्प का आरंभ मात्र है। वस्तुतः उसने हमपर आक्रमण नहीं किया है वरन् हमारे माध्यम से समस्त यादवों पर आक्रमण किया है।”

अब सभी की चिंता स्वाभाविक थी।

चेकितान ने कहा, “तब तो हमें इस विषय पर नए सिरे से विचार करना चाहिए।”

“विचार क्या करना है!” भैया बोले, “नाग हमें एक-एक कर काटे, इसके पहले ही उसका फन कुचल देना चाहिए।”

लोग और गंभीर हो गए। उनके चिंतन पर शाल्व की बढ़ी हुई शक्ति का आतंक स्पष्ट दिखाई दिया।

“हम लोग जितनी सेना लेकर यहाँ आए हैं, क्या उतनी सेना से काम चल जाएगा, या उसपर आक्रमण करने के लिए हमें पूरी शक्ति लगानी पड़ेगी?”

मैंने हँसते हुए कहा, “शाल्व शक्ति युद्ध में कम विश्वास करता है। वह आतंक युद्ध का महारथी है। आतंक फैलाकर शत्रु को इतना आतंकित कर देगा कि वह सामने ही न आए। उसके युद्ध का मूल है आतंक। द्वारका की इस चढ़ाई में भी उसने शक्ति से कम और आतंक से अधिक काम लिया।” इसी क्रम में मैंने चंद्रकांतवाली पूरी कथा सुनाई—“उसके माध्यम से उसने आप लोगों को इतना आतंकित कर देना चाहा कि आप चुप होकर अपने-अपने प्रासादों में ही पड़े रह जाएँ। किंतु आप लोगों के साहस और मेरे प्रति आपकी चिंता ने उसकी योजना पर पानी फेर दिया।”

फिर मैंने उसकी युद्धनीति की विशेष चर्चा की।

“मानव होकर भी वह मानवी युद्ध की अपेक्षा राक्षसी युद्ध में अधिक विश्वास करता है—और राक्षसी युद्ध का आधार है आतंक पैदा करना। वस्तुतः राक्षस हमसे अधिक शक्तिशाली नहीं होते वरन् आतंक के कारण ही उनकी शक्ति कई गुना दिखाई देती है—और यही आतंक उन्हें पराजित भी कर देता है। यदि हम लोग सामूहिक आक्रमण करें तो प्रथम हमारे सामूहिक होने का आतंक ही उसे पराजित कर देगा।”

इसी सिलसिले में मैंने उन लोगों को पिताजी द्वारा बताई गई वास्तविकता से परिचित कराया और कहा, “आप लोगों द्वारा सामूहिक रूप से द्वारका में आ धमकने की व्यग्रता ने ही हमारे पिताजी को मुक्त कराया।”

“यदि आतंक युद्ध का ही सहारा लेना है तो अभी से ही क्यों नहीं लिया जाए!” सात्यकि बोला, “उसके राज्य में यह समाचार प्रसारित करा दिया जाए कि मार्तिकावत पर यादवों की सामूहिक चढ़ाई होने वाली है।”

मैं कुछ क्षणों तक मौन रहकर सात्यकि के प्रस्ताव पर विचार करने लगा और लोग भी चुप ही रहे। फिर मैंने कहा, “यह चाल भी उलट सकती है। इससे वह सावधान हो शक्ति-संग्रह में लग जाएगा।”

“तब हमें क्या करना चाहिए?” चेकितान बोला।

“मेरी राय में तो उसपर अप्रत्याशित और कई ओर से आक्रमण करना चाहिए। ऐसी शीघ्रता और चपलता दिखानी चाहिए कि उसकी प्रजा में भगदड़ मच जाए। सेना भी कुछ समझ न पाए। ऐसा आतंक छा जाए कि देखते-देखते हम शाल्व को बंदी बना लें। इसमें हमें रक्तपात भी कम करना पड़ेगा।”

“इसके लिए तो हमें अपनी सारी योजना गुप्त रखनी पड़ेगी।” सत्राजित् बोले, “शाल्व को कानोंकान भनक न पड़े कि ऐसा भी हो सकता है।”

यही योजना सर्वमान्य हुई। उसी समय इसे गोपनीयता की पिटारी में बंद कर दिया गया। महामात्य तक को आज की चर्चा के निष्कर्ष का आभास नहीं लगा; किंतु मैंने अपने महामात्य को तुरंत आदेश दिया कि सेना को हर समय तैयार रहने को कहें। एक घड़ी की सूचना पर उन्हें आक्रमण के लिए किसी भी समय चल देना पड़ सकता है।

“किधर जाना पड़ेगा?” महामात्य ने दबी जबान पूछा, “क्योंकि सेना को वहाँ की प्रकृति के अनुसार तैयारी करनी पड़ेगी।”

“यह भी अभी नहीं बताया जा सकता।” मैंने कहा, “पर इतना जानिए कि जहाँ भी जाना होगा वहाँ की प्रकृति और मौसम यहाँ से अधिक भिन्न नहीं है।”

महामात्य चुपचाप चला गया। उसने और कोई जिज्ञासा नहीं की।

द्वारका में पधारे अन्य यादव राजाओं के साथ आई सेनाओं को भी ऐसा ही सचेत रहने का आदेश दे दिया गया।

सेनाओं की सतर्कता ने एक अजीब दहशत-सी पैदा कर दी। द्वारका एक बार फिर थरथराने लगी।

□

दो दिनों तक लोग ऊहापोह की स्थिति में थे। तरह-तरह के अनुमान लगाए जा रहे थे; पर सारे अनुमान शाल्व पर ही केंद्रित थे। कोई कहता, शाल्व इस बार भारी सेना लेकर अपने मित्रों की सहायता के साथ आक्रमण करेगा। वह भाई सरीखे अपने मित्र शिशुपाल के वध से बहुत नाराज है। उसीके प्रतिरोध के लिए इतनी सतर्कता बरती जा रही है।

कुछ लोग शाल्व पर आक्रमण की भी बात सोचते थे; पर यह भी कहते थे कि द्वारकाधीश का व्यक्तित्व आक्रामक नहीं है। उन्होंने आज तक किसी विशाल सेना के साथ किसी राज्य पर चढ़ाई नहीं की है। राज्य स्तर के युद्ध से वे सदा विरत रहे हैं। हाँ, व्यक्तिगत युद्धों में उन्होंने बहुतों को परास्त किया है।

यह सत्य है कि मैंने सदा राज्य स्तर के युद्ध का विरोध किया है। इसमें निरपराध प्रजा मारी जाती है। उसकी बड़ी हानि होती है। दोषी है राजा तो प्रजा क्यों मारी जाए?

इस बार भी अचानक आक्रमण करने के पीछे मेरा यही उद्देश्य था। प्रजा को आतंकित करना, भयभीत करना; पर उसकी जरा भी हानि न होने देना। इसीलिए हमने उच्च कोटि की गोपनीयता बरती। न मैंने पिताजी से इसकी चर्चा की और न नानाजी से। अपने कुलगुरु आचार्य गर्ग को भी विश्वास में नहीं लिया। यहाँ तक कि बात फूट जाने के डर से मुहूर्त पर भी विचार नहीं किया गया। जिस दिन हमें आक्रमण करना था, उससे पहली रात के प्रथम प्रहर में हम लोगों ने विचार-विमर्श किया। अपने में वयोवृद्ध सत्राजित् को नेतृत्व सौंपा और सेना को सूचित कर दिया गया कि ब्राह्म मुहूर्त के पहले प्रस्थान करना है। पर कहाँ और किधर, इसका कोई निर्देश नहीं।

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही सैनिक शिविरों में खटपट होने लगी। मंदिर अभी जागे नहीं थे, पर धीरे-धीरे सारी द्वारका जाग गई। सहमी-सहमी, पर भयभीत नहीं। कुछ होने का मौन आभास चारों ओर छाता हुआ।

चलते समय नियमानुसार मैं सभी छोटे-बड़ों से मिला। सबने जिज्ञासा की; पर मैं सबको टालता गया। प्रद्युम्न ने भी पूछा।

मैंने बस इतना कहा, “तुम्हारे घाव अभी भरे नहीं हैं, अन्यथा तुम्हें भी ले चलते।”

वहीं रुक्मिणी भी थी। उसने तत्क्षण मुझसे प्रश्न किया—“क्या आपका घाव भर गया है? शाल्व ने जो आपकी प्रतिष्ठा पर आघात किया था, क्या वह चोट अच्छी हो गई है?”

“वह घाव ऐसे थोड़े ही भरेगा।” मैंने कहा, “उसे भरने ही जा रहा हूँ।”

बस इतना संकेत पर्याप्त था रुक्मिणी के लिए। धीरे-धीरे अन्य रानियों तक यह बात रेंग गई। उन्होंने तुरंत मेरा तिलक किया। आरती उतारी। युद्ध में जा रहे अपने पति—अर्थात् मुझे भावभीनी बिदाई देते हुए भगवान् से मेरी सफलता की कामना की।

बाद में पता चला कि भैया ने रेवती भाभी को भी बता दिया है। नारियों के बीच की बात को जंगल की आग बनते देर नहीं लगती। मैंने समझ लिया कि यदि शीघ्रता नहीं की गई तो गोपनीयता बिखर जाएगी। अतएव मैंने शीघ्र ही प्रस्थान की व्यवस्था की।

जब हमारी सेना नगर द्वार से पार हुई तब मंदिरों में मंगला की आरती के घंटे बजने लगे। हम सबका ध्यान अनायास उस ओर खिंच गया। हमने मन-ही-मन अपने इष्ट देवता को प्रणाम किया। हम लोगों ने सोचा कि यह शुभ लक्षण है। हमारी सफलता असंदिग्ध है।

सेना रसद सामग्री से भरी थी। हम सभी दृष्टियों से तैयार हो चले थे। हमारी गति भी सामान्य से अधिक थी। मार्ग में जो भी हमें देखता, उसकी प्रश्नवाची दृष्टि हमें निहारती रह जाती।

मार्तिकावत पहुँचने में हमें रात्रि का विश्राम भर लेना पड़ा। दूसरे दिन आधी रात को हम नगर में प्रवेश कर चुके थे।

मार्ग में सैनिकों को यह अच्छी तरह निर्देश दिया गया था कि प्रजा की जरा भी हानि नहीं होनी चाहिए। हमारे इस निर्देश का अक्षरशः पालन किया गया। जब हम लोगों ने नगर में प्रवेश किया, हमें एक बात सालने लगी थी कि आधी रात में किसी नगर में तो दस्यु आक्रमण करते हैं, योद्धा नहीं। और यह तो प्रचलित युद्ध विधान के विरुद्ध भी है। पर क्या करते! हमारी योजनानुसार तो यही समय उपयुक्त था। इसीलिए हम लोगों ने सैनिकों से प्रजा के लिए उद्घोष कराया—

“प्रजाजन अविचलित होकर विश्राम करते रहें। हमारा उद्देश्य नगर पर आक्रमण करना नहीं है। हमारा एकमात्र उद्देश्य है, उस शाल्व नामक जीव को उसकी करनी का फल चखाना।”

सेना का यह उद्घोष बराबर चलता रहा। इसका सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ कि प्रजा एकदम बीच में नहीं आई। वह चुपचाप अपने वातायनों से तमाशा देखती रही। यदि प्रजा सक्रिय होती तो हमें एक शक्तिशाली विरोध का सामना करना पड़ता; पर प्रजा की ओर से कोई विरोध नहीं हुआ। शाल्व के सैनिक तैयार ही नहीं थे, वे विरोध क्या करते! जब तक वे उठें, समझें तब तक हमारी सेना पूरे नगर में फैल चुकी थी; सैनिक छावनियों को घेर चुकी थी।

शाल्व और उसके परिवार के लिए यह भयावहता अप्रत्याशित थी। अचानक आई विपत्ति से वह घबरा उठा। सैनिकों का कोलाहल और हम लोगों की ललकार से वह और भी व्यग्र हो गया। उसने तुरंत अमात्यों के यहाँ चर भेजे। सेनापति को बुलाया। पर जब उसे पता चला कि मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ सात्यकि, सत्राजित्, चेकितान आदि अन्य यादव नरेश भी हैं तब तो उसके पैर के नीचे की धरती ही खिसक गई। अब हमारा सामना करने की उसकी हिम्मत छूट गई। इस बीच हम लोगों ने उसके राजप्रासाद को अच्छी तरह घेर लिया।

उसने चुपचाप अपने सौभ विमान को प्रासाद के पिछले द्वार की ओर मँगवाया। उधर चेकितान अपनी सेना के साथ था। उसने कभी यह विमान तो देखा नहीं था, अतः पहले तो वह समझ नहीं पाया; पर जब शाल्व उसपर चढ़ने लगा तब उसने आक्रमण किया। सैनिकों ने उसे घेर लिया; पर शाल्व को रोक पाना चेकितान के वश की बात नहीं थी। उसने उसका पहला आक्रमण विफल कर दिया। अकेले शाल्व ने चेकितान के कई सैनिकों को धराशायी कर दिया।

अब वह चिल्लाया—“देखिए, शाल्व भाग रहा है!”

उसकी यह चिल्लाहट एक मुख, दो मुख—और फिर कई मुखों से होती हुई मुझ तक पहुँची। मेरा रथ तुरंत उस ओर मुड़ गया।

“यादवों का समूल नाश करने का संकल्प लेनेवाले! कहाँ भाग रहा है? अब यादवों का सामना कर।”

इस स्थिति में भी उसने हमारी ललकार का उत्तर दिया—“मुझे नहीं मालूम था कि यादव चोर, लुटेरे और दस्युओं की तरह आ जाएँगे।”

सैनिकों के प्रबल विरोध को चीरता हुआ वह फिर विमान के निकट पहुँचा और उसपर चढ़ने की चेष्टा करने लगा कि मैंने अभिमंत्रित करके अपना सुदर्शन चक्र चलाया। विमान के टुकड़े-टुकड़े हो गए। अब वह लाचार था। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा हो गया।

चेकितान उसे बेधने ही वाला था कि मैं चिल्लाया—“देखो, इसपर प्रहार मत करना। इसे हमें बंदी बनाना है।”

मेरा इतना कहना था कि चेकितान ने पाश फेंका। शाल्व उसमें जकड़ गया।

पर भैया इस पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि क्या करोगे इस विषय को बंदी बनाकर? इसे यहीं कुचलकर समाप्त करो। इसके लिए वे काफी नाराज भी हुए।

मैंने उनसे धीरे से कहा, “मैं इसे द्वारका ले चलूँगा और इसी हालत में पूरे नगर में घुमाऊँगा।”

“इससे लाभ क्या होगा?”

“जो हमारी प्रजा इससे आतंकित है, उसका आतंक समाप्त होगा।” मैंने कहा।

हमारी बातें सात्यकि सुन रहा था। उसने तुरंत बीच में हस्तक्षेप किया और कहा, “इससे एक लाभ और होगा। चाचाजी (वसुदेव) के अपहरण का जो प्रचार इसने किया था और आर्यावर्त के यादव नरेशों पर इसने जैसा आतंक जमाया था, इसको बंदी बनाने के प्रचार से वह भी समाप्त हो जाएगा।”

“तुम तो कन्हैयावाली करोगे ही।” भैया बोले, “जैसा तुम लोग चाहो, करो। मुझसे कोई मतलब नहीं।” उन्होंने झिड़ककर कहा और हम लोगों से थोड़ा दूर हो गए।

भैया को समझाते हुए सात्यकि कुछ कहने ही वाला था कि मैंने उसका हाथ दबाकर चुप रहने का संकेत किया; क्योंकि भैया का यह स्वभाव था, जिसे झेलने के हम आदी हो गए थे। उनका क्रोध बड़ा फेनिल होता था। अचानक वह बड़ी तेजी से फफकता था और फिर थोड़ी देर बाद ही शांत हो जाता था।

बंदी शाल्व की देखभाल की और उसपर पूरी सावधानी रखने की जिम्मेदारी मैंने चेकितान को ही सौंपी। फिर भी मैंने उसका रथ चार सेनापतियों के बीच में ही रखवाया, जिससे वह किसी प्रकार निकलकर भाग न सके।

सूर्योदय के पूर्व ही हम लोगों ने मार्तिकावत छोड़ दिया। हम लोग अपनी योजना में पूर्ण सफल रहे। प्रजा का बाल बाँका न हो सका और राजा को बंदी बना लिया गया। हमें बाद में पता चला कि इसका मार्तिकावत की जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। वह किसी प्रकार से भी असंतुष्ट नहीं थी। उसका मानना था कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है। जिसने अपराध किया, उसे दंड मिला। उन्हें प्रसन्नता थी कि उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं हुई।

द्वारका में लाकर हम लोगों ने शाल्व को उसी स्थिति में नगर भर में घुमाया। प्रजा ने उसका खूब मजाक उड़ाया। शाल्व ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह पाश से आबद्ध रथ में चुपचाप बैठा रहा और जब उसका रथ राजभवन के सामने रोका गया तब उसका चेहरा तमतमाया था, एकदम लाल। लगा, ज्वालामुखी किसी भी समय फूट सकता है। भैया ने फिर वही पुरानी बात दुहराई। अब इसे छोड़ना चोट खाएँ साँप को छोड़ना है। यह बिना बदला लिये एक क्षण भी चैन से नहीं बैठेगा। यही विचार मेरे अन्य मित्रों के भी थे; पर मैं शाल्व के वध के पक्ष में नहीं था।

मुझे लग रहा था कि अब इसका वध करना बहुत बड़ी कायरता होगी। लोग क्या कहेंगे कि द्वारका में एक बंदी की हत्या कर दी गई। पर मैं अपना निर्णय औरों पर थोप पाने की स्थिति में नहीं था। मैं तो केवल अपनी राय दे सकता था। निर्णय तो यादवों को लेना था। संप्रति मैंने उसे कारा में डलवाकर उसकी मृत्यु की घड़ी कुछ समय के लिए टाल दी।

पूरे दिन द्वारका में विजयपर्व मनाया गया। द्वारका को तो ऐसा लग रहा था जैसे उसने अपने जीवन का पहला युद्ध जीता हो; जैसे एक पराजित और हताश को अचानक किसीने विजय के सिंहासन पर बैठा दिया हो।

राजभवन की प्रसन्नता का भी पारावार नहीं। जरासंध और नरकासुर के वध के बाद भी ये लोग उतने प्रसन्न नहीं दिखे जितने आज दिखाई दे रहे थे।

किसी और से तो मैं कुछ नहीं बोला, केवल रुक्मिणी से कहा, “आज जैसी प्रसन्न तो मैंने तुम्हें इसके पहले कभी

नहीं देखा; जबकि मेरी और उपलब्धियाँ इससे महत्त्व की थीं।”

“आपने वह दृश्य नहीं देखा है, जब हमारा बेटा युद्धभूमि में संज्ञाशून्य होकर गिरा था। सारी द्वारका रो रही थी। उस हताशा में अपना सिर धुनना बस हमारे अधिकार में रह गया था। वह तो कहिए जेठानीजी (रेवती) जैसी वीरांगना थीं, जिसने युद्ध का नक्शा ही बदल दिया।”

“यह ठीक है, पर हमारी प्रसन्नता को विजय के उन्माद की सीमा नहीं छूनी चाहिए।”

“भयानक अंधकार में जब सूर्य के उगने की कोई संभावना हो तब एक मिट्टी के दीये की ज्योति भी हमें कितनी आह्लादित करती है! किंतु आज तो सूर्योदय हुआ है। इस स्थिति में जो उन्मादित होते हैं, उन्हें उन्मादित होने दीजिए। उनके उन्माद पर आपका क्या अधिकार!”

“किसीके उन्माद पर मेरा कोई अधिकार नहीं; पर उसका अपना तो अधिकार है। लोगों को अपने उन्माद को स्वयं नियंत्रित करना चाहिए; क्योंकि उन्माद मस्तिष्क की विकृत अवस्था है। उससे व्यक्ति अपनी ही हानि कर सकता है।”

“आपने मुझसे ऐसी बातें कहीं तो कहीं, पर रुक्मवती और शुभांगी (प्रद्युम्न की पूर्व पत्नियाँ) के सामने ऐसी बातें मत कीजिएगा। उनका उन्माद देखना हो तो मंगला गौरी के मंदिर में देखिए, जहाँ वे नृत्य कर रही हैं। आज उनका सौभाग्य बुझते-बुझते भभक उठा है।”

इसके बाद ही मैंने अनुभव किया कि किसीको समझाने का कोई प्रभाव नहीं। आज सारी द्वारका विजयोन्माद में नाच रही है।

मैं वहाँ से चुपचाप निकला और आज संध्या को ही अतिथिगृह के मंत्रणा-कक्ष में यादव नरेशों की बैठक बुलाई। विषय था—कारागार में पड़े शाल्व के साथ क्या व्यवहार किया जाए?

उस बैठक में भैया पहले वक्ता हुए। उनका बस एक ही कथन था—“अभी तक हमने उस नीच को क्यों जीवित रखा है, यही बड़ा आश्चर्य है!”

“किसीके प्राण लेने के पहले हमें अच्छी तरह सोचना चाहिए।” मैंने कहा।

“यदि हर सैनिक तुम्हारे जैसा सोचेगा तो वह दार्शनिक हो जाएगा और युद्धस्थल दर्शनशास्त्रियों का आश्रम।” सत्राजित् बोला।

कोई मेरी बात सुननेवाला नहीं था। मैं सोचता था कि शाल्व का इतना अपमानित होना उसके मृत्युदंड से किसी प्रकार कम नहीं है। उससे सार्वजनिक रूप से वचन लेकर कि अब वह कभी यादवों के विरुद्ध सिर उठाने का साहस नहीं करेगा, उसे छोड़ देना चाहिए। मैं किसीके प्राण लेने का तभी समर्थन करता था जब उसका प्राण लेना अति आवश्यक हो, समाज के लिए अनिवार्य हो गया हो, उसके अतिरिक्त कोई और मार्ग दिखाई नहीं देता हो।

पर मैं इस बैठक में अपना पक्ष रख नहीं पाया। हर व्यक्ति एक ही राग अलाप रहा था—और वही हुआ, जो वे चाहते थे।

कल प्रातः शाल्व को प्राणदंड देने का निश्चय सर्वसम्मत हुआ। मेरी एक भी युक्ति काम नहीं आई।

शीघ्र ही द्वारका में यह प्रसारित हो गया कि कल प्रातः कारागार के समक्ष के प्रशस्त प्रांगण में शाल्व को मृत्युदंड दिया जाएगा। सूचना से ही नगर आह्लादित हो गया। दूसरे दिन समय से पूर्व ही वहाँ लोग इकट्ठे होने लगे। बस एक यही बात सबके जबान पर थी कि द्वारका के सर्वेसर्वा होने का जिसने स्वप्न देखा था, आज वह मृत्यु की गोद में सुला दिया जाएगा। उसकी मुट्ठी में बंद होती-होती द्वारका उसके प्राणों पर सवार हो गई।

कारागार के नियम के अनुसार ब्राह्म मुहूर्त से ही शाल्व को धर्मग्रंथों का पाठ सुनाया जाने लगा। ज्यों-ज्यों समय

खिसकने लगा, मृत्यु उसके निकट आती जान पड़ी।

ठीक समय पर शाल्व बलिस्थल पर लाया गया; पर उसके चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं थी वरन् कल से वह अधिक ऊर्जासंपन्न और प्रसन्न दिखाई दे रहा था। बलिमंच पर चढ़ने की क्षिप्रता और उसके उत्साह ने हम सबको चकित कर दिया।

सात्यकि ने मेरे कान में धीरे से कहा, “इसके पीछे कोई रहस्य अवश्य है।” फिर दंडनायक ने आकर शाल्व को उसका अपराध सुनाया और कहा, “आपके पास कुछ ही समय और है। आप चाहें तो अपने इष्टदेव की वंदना कर लें और अपनी अंतिम इच्छा बताएँ। यदि संभव होगा तो उसे पूरा करने की चेष्टा की जाएगी।”

“मेरी मात्र एक ही इच्छा है। मैं वसुदेव से बातें करना चाहता हूँ।” शाल्व ने कहा। उसके कथन में बड़ी निर्भीकता और साहस का भाव था, साथ ही बड़ी अशिष्टता और ऐंठ भी। पिताजी का नाम भी उसने आदर के साथ नहीं लिया था। फिर भी मरनेवाले की अंतिम इच्छा थी। पिताजी से उसकी भेंट कराना अनिवार्य था।

एक बात का हम सबको आश्चर्य था कि राजभवन का हर पुरुष सदस्य यहाँ उपस्थित था, पर न पिताजी थे और न नानाजी। नानाजी तो अशक्त थे, उनका आ पाना असंभव था; पर पिताजी को होना चाहिए था और वे नहीं थे।

पिताजी यथाशीघ्र बुलवाए गए। इस बीच शाल्व का रुद्रपाठ चलता रहा। स्वरों के आरोह-अवरोह और उसकी तन्मयता से ऐसा लगता रहा कि उसने अवश्य रुद्र को प्रसन्न किया होगा। उसकी तन्मयता की एक ऐसी भी स्थिति आई, जब जनता को उसकी ध्वनि छूने लगी और वहाँ खड़े अधिकांश लोग उसके स्वर में स्वर मिलाने लगे।

पिताजी आए। बलिमंच के निकट ही वे खड़े हुए। पर शाल्व की बंद आँखें, जो प्रार्थना में तल्लीन थीं, खुलीं नहीं। वधस्थल पर प्रार्थना चलती रही। और अंत में जब प्रार्थना समाप्त हुई, एक कुतूहल भरा सन्नाटा लोगों की आकृतियों पर चिपक गया।

शाल्व ने पिताजी की ओर देखा और बिना किसी अभिवादन के बोला, “आप मुझे देख रहे हैं! एक दिन आप भी मेरे यहाँ इसी स्थिति में थे। मैं भी आपका वध कर सकता था—और निश्चित करता, यदि आपने धर्म को लाकर बीच में न खड़ा कर दिया होता। आपने पूछा था कि बंदी का वध करना कहाँ तक युद्धसंहिता के अनुकूल है! याद है आपको?”

पिताजी ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“आपने कहा था कि धर्म के अनुसार बंदी को दंड देने का अधिकार राजा को भले ही हो, पर दंड निश्चित करने का अधिकार न्यायाधिकरण का है। आपको याद है?”

पिताजी ने स्वीकृति में फिर सिर हिलाया।

“पर आपके विषय में न्यायाधिकरण ने ही दंड निश्चित किया है।” इस बार दंडनायक बोला।

“कैसा न्यायाधिकरण!” शाल्व गरजा—“वह कौन सा न्यायाधिकरण है, जिसने मुझे सुने बिना ही अपना दंड निश्चित कर दिया? जिसने मेरे नैसर्गिक अधिकार का गला घोंटा? क्या यही द्वारका की न्याय व्यवस्था है? यही यादवों का धर्म है?”

सन्नाटा और अधिक गहरा हो गया।

शाल्व बोलता रहा—“मेरे शरीर को पाश में जकड़कर मुझे रथ में जिस तरह पूरी द्वारका में घुमाया गया, मेरा जो अपमान किया गया, क्या वह दंड नहीं था? यदि दंड था तो किस न्यायाधिकरण ने वह दंड निश्चित किया था?”

आप लोग जो आधी रात को चोर और दस्युओं की तरह चुपचाप मेरे नगर में घुस आए थे, उसमें किस युद्धनीति का पालन किया गया है?”

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा, “इस समय तुम्हें युद्धनीति याद आ रही है। उस समय तुम्हारी युद्धनीति कहाँ थी, जब राजाविहीन राज्य (द्वारका) पर तुम सदल-बल चढ़ आए थे?”

“उसीका फल तो मैं भोग रहा हूँ।” उसने तुरंत कहा। फिर अनेक बार मेरे द्वारा कही हुई बात उसके मुख से निकली—“हर व्यक्ति को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, चाहे वह फल नियति दे या कोई व्यक्ति दे।”

मेरे मन ने कहा, ‘व्यक्ति तो निमित्त है, माध्यम है। देती तो नियति ही है।’

वह फिर गरजा—“वसुदेव, यह मत समझना कि तुम इस नैसर्गिक नियम से मुक्त हो! तुम्हें नियति अवश्य ही इन कर्मों का फल देगी।”

मुझे लगा कि वधस्थल पर खड़े शाल्व के मुख से नियति ही हमें शापित कर रही है। मैं कुछ बोल नहीं पाया।

उसने फिर मेरे पिताजी को संबोधित करते हुए कहा, “ऐसे ही तर्क आपने उस समय दिए थे, जब आप मेरे बंदी थे। मैंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए आपको न केवल छोड़ दिया था वरन् अपने सैनिकों द्वारा द्वारका के नगर द्वार तक ससम्मान पहुँचाया भी था। अब आप सोचिए कि आप लोगों के द्वारा मेरे साथ क्या करना उचित होगा!”

पिताजी को ऐसा निरुत्तर होते मैंने बहुत कम देखा था। वे बड़े गंभीर हो गए। सभी लोग चुप—जैसे सन्नाटा भी शाल्व को सुनकर सन्न हो गया हो।

पिताजी ने पहले मुझसे कुछ कहना चाहा; फिर वे अचानक सत्राजित् की ओर मुड़े। उनके कान में कुछ कहा। कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर भी हुआ। सत्राजित् ने भैया से भी सलाह लेनी चाही; पर भैया मौन ही रह गए। क्रोध में उनकी आकृति लाल हो गई थी।

इसी बीच सत्राजित् ने उद्घोषणा की कि शाल्व को मुक्त किया जाए। फिर सेनापति को आदेश दिया गया कि उसे ससम्मान मार्तिकावत पहुँचाने की व्यवस्था करो।

हम, द्वारकावासी पूरे संदर्भ को एक नाटक की तरह देखते रह गए।



दो

शाल्व के अहं का ऐसा पतझड़ हुआ कि फिर उसमें वसंत नहीं आया, वरन् अपयश की झंझा ने उस पतझड़ के सूखे पत्तों को पूरे आर्यावर्त में बिखेर दिया। यादवों के विनाश का उसका संकल्प बालकों के घरोंदों की तरह चूर हो गया। राजा के पाप की छाया उसकी प्रजा पर भी पड़ी—मार्तिकावत श्रीहीन हो गई।

उसके सौभ विमान के टूटकर बिखरने के बाद ही उसकी यशकाया भी बिखर गई। किसीको विश्वास नहीं था कि वह दैवी यान कभी नष्ट भी हो सकता है। इसका सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि शाल्व के मित्र ऐसे बुझे कि उनका धुआँ भी उड़ता दिखाई नहीं दिया। इस संदर्भ में दंतवक्र और पौंड्रक वासुदेव की प्रतिक्रिया एकदम शून्य थी। जिज्ञासावश हमने उनके राज्यों में अपने गुप्तचर भी भेजे थे। गुप्तचरों का कहना था कि इस घटना से उनकी प्रजा भीतर-ही-भीतर बड़ी प्रसन्न थी, पर महाराज स्वयं एकदम निरपेक्ष लगे; जैसे इस सारे कांड से अनभिज्ञ हों। गुप्तचरों का कहना था कि बताने पर भी वे सुनी-अनसुनी कर गए।

उनकी राजधानियों में गए एक गुप्तचर ने यहाँ तक कहा कि राजाओं को तो जाने दीजिए, उनके मंत्रीगण भी इस विषय पर बंद कक्ष में अपनी जबान नहीं खोलते।

मैंने अर्जुन से कहा, “देखा, आतंक के मेघ जब दूसरों के यहाँ नहीं छा पाते तो अपने ही घर लौटकर बरसते हैं—और तब तक बरसते हैं जब तक कि उनके निर्माता का सपना चूर नहीं हो जाता।”

हमारा विश्वास था कि यदि शाल्व द्वारका में मारा जाता तो हमारा यश कलुषित हो जाता; पर भैया अब भी अपने विचार पर अटल थे। उनका कहना था कि शाल्व को छोड़कर हम लोगों ने ऐसी भूल की है, जिसका फल हमें एक-न-एक दिन भोगना पड़ेगा। उसके विषदंत अभी टूट गए हैं; पर जब वे फिर उगेंगे तो वह फुफकारता हुआ हमारे सामने होगा।

वस्तुतः इस समय द्वारका की निष्कलुष प्रतिष्ठा शिखर पर थी। सारे आर्यावर्त में हमारे यश की दुंदुभी बज रही थी। हर द्वारकावासी गर्वोन्मत्त था। सत्राजित्, सात्यकि, चेकितान के साथ ही जब हम लोगों ने अर्जुन को बिदाई दी, उसमें प्रजा की भूमिका अद्भुत थी। सारा नगर उमड़ पड़ा था, जिसमें अतिथि-आतिथेय और राजा-प्रजा सभी डूब-उतरा रहे थे। द्वारका का यह बिदाई समारोह अनुपम था।

इसी उत्साह के साथ समय का रथ चलता गया। जीवन आगे बढ़ता गया।

□

छंदक मेरा एक ऐसा साथी था, जिसके बिना मैं आधा-अधूरा हो जाता था। पर इधर वह अप्रत्याशित रूप से गायब था। पूरे विजय पर्व में वह कहीं दिखाई नहीं दिया; पर आज वह अचानक प्रकट हो गया था।

उसे देखते ही मैंने कहा, “बहुत दिनों बाद दिखाई पड़ रहे हो। इतने दिनों तक कहाँ थे?”

“आप लोग जब विजय पर्व में तल्लीन हो गए तब मैंने सोचा, मेरी यहाँ क्या आवश्यकता!” छंदक बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोला, “तो मैं उस स्थान की खोज में निकल गया, जहाँ मेरी आवश्यकता थी।”

“तब तुम यह क्यों नहीं कहते कि तुम शाल्व के साथ मार्तिकावत चले गए थे?”

“क्या मुझे अपनी हत्या करानी थी कि मैं शाल्व के साथ जाता!” छंदक बोला, “वह तो मुझे आपकी प्रतिमूर्ति समझता है। और इस समय आपसे इतना नाराज है कि यदि वह आपको पाए तो कच्चा चबा जाए। अब उसका सारा क्रोध यादवों से हटकर आप पर केंद्रित हो गया है।”

“चलो, यह अच्छा हुआ। यादव तो मुक्त हुए।” मैंने हँसते हुए कहा, “पर यह बात भैया से मत कहना। यह तो बताओ, तुम गए कहाँ थे?”

“सोचा, ससुराल होता आऊँ।” इतना कहते हुए वह हँसने लगा। उसका संकेत विदर्भ की ओर था।

अब मैं गंभीर हो उसका मुख देखने लगा। उसका मस्तिष्क उधर चला गया जिधर अभी हम लोगों की दृष्टि नहीं गई थी। मैंने मन-ही-मन उसके सोच को सराहा।

बात यह थी कि विदर्भराज भीष्मक (मेरे श्वसुर) बूढ़े हो गए थे। राज्य का सर्वेसर्वा उनका पुत्र रुक्मी था, जो मेरा कट्टर विरोधी था। शिशुपाल का घनिष्ठ मित्र भी था। उसके वध के बाद वह मेरे प्रति आग उगलने लगा था। शाल्व की इस घटना के बाद तो उसका विक्षिप्त हो जाना स्वाभाविक था।

पर एक दूसरी बात और थी। वह भोजवंशी था। भोजवंश मूल रूप में कहीं-न-कहीं से यदुवंश की किसी शाखा-प्रशाखा से जुड़ता था। इसलिए उसे मूलतः शाल्व का विरोधी होना चाहिए था। यदुवंशियों के विनाश का शत्रु होना चाहिए था। पर क्या इस संदर्भ में वह सोचता है?

छंदक ने बताया—“इधर अनेक दिनों से प्रजा ने उसकी आकृति तक नहीं देखी है। मुझे भी भ्रम हुआ कि हो-न-हो, वह मार्तिकावत न चला गया हो; पर वह राजभवन में ही था। किसीसे मिलता भी नहीं था। एकदम विषादग्रस्त, अवसाद की स्थिति में।”

मैं गंभीर हो सोचने लगा। मैंने छंदक से कहा, “यह अवसाद तो हमारे प्रति उसके वैरभाव को और अधिक गाढ़ा कर देगा। पर इसकी मुझे उतनी चिंता नहीं है। चिंता केवल इस बात की है कि इस समय कई ऐसे रुक्मी आर्यावर्त में अपने कोटर में पड़े होंगे, जो अवसर मिलते ही एकजुट हो जाएँगे।”

“तो इन्हें एकजुट होने का अवसर ही नहीं देना चाहिए।” छंदक बोला।

“यही तो हमारे हाथ में नहीं है।” मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की—“यही तो वह स्थिति है, जब नियति के प्रवाह के समक्ष हम अशक्त हो जाते हैं, छंदक!”

फिर अचानक मेरी दृष्टि में युधिष्ठिर आए और आई उनके संबंध में की गई भविष्यवाणियाँ। मैंने सोचा, वही एक बिंदु हो सकता है, जहाँ मेरे सारे विरोधी एक हो सकते हैं। पर मैं इस संबंध में क्या कर सकता हूँ। परम निरीह हूँ।

ऐसे ही तनाव के क्षणों में एक प्रतिहारी की अप्रिय आवाज सुनाई पड़ी—“एक भिखारी आपसे मिलना चाहता है।”

मेरी तनावग्रस्तता तुरंत झुँझला उठी—“मेरे राज्य में भी कोई भिखारी है!”

प्रतिहारी मेरी आवाज से सहम-सा गया; क्योंकि लोगों ने मेरी झुँझलाहट बहुत कम देखी है। न उसको मुझसे ऐसी उम्मीद थी।

वह दबी जवान ही बोला, “वह हमारे राज्य का नहीं है।”

“तो जो वह माँगता हो, उसे दे दो।” मैंने कहा, “आखिर उसकी कोई आकांक्षा होगी, उसे पूरा करो।”

“हम लोगों ने उससे उसकी आकांक्षा के संबंध में बहुत कुछ पूछा। बहुत कुछ देना भी चाहा; पर वह कुछ लेने को तैयार नहीं है।” प्रतिहारी ने बताया—“उसकी बस एक ही आकांक्षा है—आपसे मिलने की।”

अब मेरी आकृति पर मुसकराहट आई। मैंने कहा, “जो कुछ नहीं चाहता, उसे तुम भिखारी कैसे कह सकते हो?”

“महाराज, उसकी वेशभूषा तो ऐसी ही है।”

“मनुष्य वेशभूषा से नहीं वरन् अपनी अतृप्त इच्छा से भिखारी होता है।”

“पर वह हाव-भाव और आकृति से भी दरिद्र लगता है। हमारे भवनों को ऐसी सकपकाई दृष्टि से देख रहा है जैसे कोई आश्चर्यजनक सपना देख रहा हो।”

“कोई गुप्तचर तो नहीं है?” छंदक का सोच यहाँ तक पहुँच गया।

“गुप्तचर विभाग ने भी उसे इस संदर्भ में अच्छी तरह जाँचा-परखा है। उन्हें भी वह गुप्तचर नहीं लगा। वह केवल महाराज के ही बारे में बातें करता है और प्रसन्न होता है। कभी-कभी अतिशय भावुकता में उसकी आँखें टपकने भी लगती हैं—और फिर ऐसा लगता है कि वह कहीं खो गया है।”

“इतनी छानबीन करने के बाद भी तुमने उसका नाम और परिचय नहीं पूछा?” मैंने पूछा।

“पूछा गया था।” प्रतिहारी ने बताया—“पर वह हर बात में तो सहमता है। उसकी दृष्टि सहमी-सहमी, उसकी चाल सहमी-सहमी, उसकी ध्वनि भी सहमी-सहमी। कोई बात कई बार पूछने पर वह एक बार मुँह खोलता है।”

“कहाँ है वह?”

“प्रतीक्षागृह में।”

“जाकर कहो कि हमारे महाराज तभी मिलेंगे जब तुम अपना नाम और प्रयोजन बताओगे।” मैंने कहा, “यदि मुझसे मिलना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है तो उससे कहो कि जब संध्या-पूजन के लिए मैं मंदिर जाता हूँ तो मार्ग में मिल लेगा।”

प्रतिहारी चला गया। मैं भी सोचने लगा कि ऐसा कौन मेरे द्वार पर आया है, जिसकी पहचान करने में मेरा प्रशासन असमर्थ है। वह भी ऐसा दरिद्र, फटी धोती पहने। तार-तार हुआ उत्तरीय। बुढ़ापा भी लकुटी टेकता हुआ। प्रतिहारी का कहना था कि जितना वह द्वारका को देखकर सकपकाया है, उससे अधिक सकपकाई दृष्टि से द्वारकावासी उसे देख रहे थे। फिर वह मेरी अंतरंग बातों के विषय में जिज्ञासा करता है। मेरी रानियाँ कितनी हैं? मेरे पिताजी कैसे हैं? मेरे नाना और माताजी का क्या हाल है? मेरे भैया साथ रहते हैं या अलग हैं? आदि-आदि।

मैं सोचने लगा कि ऐसा व्यक्ति कौन हो सकता है, जिसका मुझसे इतना लगाव हो? वह भिखारी जैसा हो सकता है, पर भिखारी तो नहीं होगा; क्योंकि उसने कुछ चाहा नहीं, कुछ माँगा नहीं। भिखारी ऐसा त्यागी तो नहीं होता। भिखारी किसी वस्तु को त्याग नहीं सकता। यदि किसी चीज को त्याग सकता है तो संकोच को, लज्जा को; पर उसे तो बड़ा संकोची और लजाधुर बताया गया है।

मैं सोच ही रहा था कि प्रतिहारी लौटा। उसने बताया—“पूछने पर वह बोला, ‘मेरा नाम उन्हें बताकर क्या करोगे? शायद वह अब मुझे पहचान भी न सकें। कभी हम दोनों ने एक ही आश्रम में शिक्षा पाई थी—आचार्य सांदीपनि के यहाँ। तब से अब तक समय की यमुना का बहुत सा पानी बह गया। मेरा लड़कपन भी बुढ़ापे में बदल गया। जो पहचाना जा सकता था, वह सबकुछ चला गया।’”

इतना सुनते-सुनते मेरी व्यग्रता झुँझला उठी—“पर नाम तो वही होगा, नाम कहाँ बदलता है!”

“हाँ, नाम उसने बताया है—सुदामा।”

बस इतना सुनना था कि मेरी स्मृति में जैसे भूचाल आ गया। मैं बिना कुछ सोचे, बिना कुछ कहे, एकदम उठा और दौड़ पड़ा। पद में पदत्राण भी नहीं। एकदम नंगे पैर। छंदक तो मुझे देखता रह गया। प्रतिहारी भी अचंभे में पड़ गया। सत्य कहीं तो मैं अपने होश में नहीं था। यादों की झंझा मुझे उड़ा ले चली। अंतःपुर के द्वार के निकट मैं एक स्तंभ से टकरा भी गया। मेरा मुकुट सिर पर ही लड़खड़ाया, पर गिरा नहीं। वंशी कटि से निकलकर छटक गई। उत्तरीय ने भी कंधा छोड़ दिया और अंतःपुर के गलियारे में गिरा। रुक्मिणी ने देखा।

“अरे, क्या हुआ?” कहती हुई वह चकित-सी मेरे पीछे दौड़ पड़ी। जिस किसीने भी मुझे इस स्थिति में देखा, सभी

स्तंभित, अवाक् और विस्मित। कई लोग तो मेरे पीछे दौड़ते हुए द्वार तक आए।

मेरे प्रतीक्षागृह में पहुँचते ही सुदामा उठ खड़ा हुआ और मैंने उसे वक्ष से लगा लिया। उसके स्पर्श की यह प्रथम अनुभूति महान् कष्टप्रद थी। ऐसा लगा कि मैं किसी व्यक्ति से नहीं, मानव कंकाल से लिपट रहा हूँ।

इतिहास में मैंने अपनी अट्टालिकाओं के खंडहर देखे थे। आज खंडहर में मैं अपने बचपन का इतिहास देख रहा था। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि मेरा मित्र दरिद्रता की ऐसी गलित स्थिति में मिलेगा। मुझे रोना आ गया। जीवन में शायद मैं पहली बार रोया था और आखिरी बार भी। इतने दिनों से संगृहीत आँसू आज ही निकलकर बह जाना चाहते थे। कदाचित् इसीलिए वे थमने का नाम नहीं ले रहे थे। न सुदामा मुझे छोड़ रहा था और न मैं सुदामा को।

प्रतीक्षागृह के बाहर अच्छी-खासी भीड़ लग गई थी—मेरी पत्नियों की, बच्चों की, राजभवन के कर्मचारियों की। जिसने देखा, जिसने सुना, वही दौड़ा हुआ चला आया और चकित रहा। उन्होंने हमेशा मुझे मुसकराता हुआ देखा था। आज रोता हुआ देख रहे थे—सिसकियों भरी रुलाई। करुणा के बादल झूमकर नहीं, फटकर बरस रहे थे।

हमें हर देखनेवाला मौन था। आश्चर्य की चरम सीमा पर उसे जैसे काठ मार गया था। वैभव का दरिद्रता से ऐसा करुणार्द्र मिलन और इतिहास से वर्तमान का ऐसा द्रवित आलिंगन उनके लिए कल्पनातीत था। वे चुपचाप हमें देखते रह गए।

हम लोगों ने जब एक-दूसरे को छोड़ा, तब भी सिसकियाँ हमें न छोड़ पाई थीं। हम दोनों आँसुओं से लथपथ वहीं एक-दूसरे को देखते हुए बैठ गए। न मैं कुछ बोल पा रहा था और न वह। वह मुझे देख रहा था और मुझे वर्तमान के भीतर से झाँकता उसका बचपन दिखाई दे रहा था। उस समय वह कितना सुंदर था! कैसा गौर वर्ण और कितना आकर्षक! कैसा भभकता हुआ उसका ब्रह्मचर्य था! कितनी लगन से यह विद्याभ्यास करता था! कितनी शुद्ध थी आवृत्ति इसकी! शायद इसीलिए गुरुजी और उनकी पत्नी को सबसे प्रिय था यह।

इस समय यह केवल कंकाल रह गया है। वक्ष की प्रत्येक अस्थि गिनी जा सकती है। झूलते मांस की थैलियों में लकड़ियों की तीलियों की तरह चरमराती ये अस्थियाँ अपनी अशक्तता का बड़ी सफलता से बोध करा रही थीं। शरीर का बोझ भी सँभाल पाने में असमर्थ दिखते उसके काँपते पैरों को देखकर आश्चर्य होता था कि लकुटी टेकता हुआ यह अपने गाँव से यहाँ तक चला कैसे आया।

यह सत्य है कि सुदामा वय में मुझसे बड़ा था; पर इतना बड़ा तो नहीं कि वह इतना जीर्ण हो जाता। दरिद्रता से बड़ा जीवन का कोई शत्रु नहीं। उसकी मार से बड़ी संसार की कोई मार नहीं।

जब हम प्रकृतिस्थ हुए, बातें शुरू हुईं।

मैंने पूछा, “तुमने अपनी यह क्या दशा बना रखी है?”

“यह सब परिस्थिति का परिणाम है।” मुसकराने की असफल चेष्टा करते हुए वह बोला। धीरे-धीरे वह खुलने लगा—“तुम्हें देखकर अचरज हो रहा है न! पर यही अचरज हमारा जीवन है। इसे मैं झेलता नहीं, बड़े प्रेम से कर्मफल मानकर भोगता हूँ—आनंद लेते हुए। और शास्त्रों का अध्ययन करता हूँ। ब्राह्मण हूँ, भिक्षा ही हमारी जीविका है।”

“और तुम इसमें प्रवीण भी हो।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मुझे याद है, अध्ययन के समय आश्रम के लिए सबसे अधिक भिक्षा तुम्हीं माँगकर लाते थे।”

“पर अब मैं माँगता नहीं हूँ। माँगने का अभ्यास छूट गया।” सुदामा मुसकराते हुए बोला। फिर उसीका विस्तार किया—“पहले आश्रम के लिए माँगता था, अब तो अपने लिए माँगना होता। अब तो बिना माँगे जो मिल जाता है, उसी पर किसी तरह निर्वाह कर लेता हूँ।”

मेरे मन ने धीरे से कहा, 'तभी तो यह दशा है।' पर मैं कुछ बोला नहीं। केवल एक जिज्ञासा की—“तुमने आश्रम नहीं बनाया?”

“क्या करता आश्रम बनाकर!” उसके स्वर में पता नहीं कहाँ से वेदना उतर आई—“तुम देखते नहीं हो, कन्हैया, कि आजकल आश्रमों की क्या स्थिति है! समाज से उपेक्षित हैं। राज्य से उपेक्षित हैं। संपन्न लोग आचार्यों को स्वर्ण निष्कों में खरीद लेते हैं। आचार्य उनका पालित श्वान हो जाता है।...न वह आश्रम रहे, न वह आचार्य रहे और न वह शिक्षा रही। आश्रमों के नाम पर अभाव और दरिद्रता से भरे कहीं-कहीं कुछ झोंपड़े अवश्य रह गए हैं, जिनमें किसी वृद्ध नैतिकतावादी आचार्य की कराई जा रही आवृत्तियाँ अब भी सुनाई पड़ जाती हैं।”

आश्रम का नाम लेकर जैसे मैंने उसके मर्म पर ही अँगुली धर दी हो।

वह बड़बड़ाता रहा—“अब आश्रमों को राजकोष से दी जानेवाली वृत्तियाँ भी बंद हो गई हैं। आश्रम स्वयं राजभवनों में जाकर वेतनभोगी हो गए। जब राजाओं की यह स्थिति है तब प्रजा से आशा क्या! जैसा राजा वैसी प्रजा। अब समाज ने भी शिक्षा को सामाजिक से वैयक्तिक बना दिया है। वैयक्तिकता के घेरे में केंद्रित होकर शिक्षा स्वर्ण की चाकर हो गई है। अब आश्रमों का युग गया, कन्हैया! अब तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे राज्य में कितने आश्रम चल रहे हैं?”

वस्तुतः प्रश्न नहीं वरन् एक बड़ा चाँटा था, जो मेरे मुख पर मारा गया। मैं तो उस समय अपनी पीड़ा भी व्यक्त करने की स्थिति में नहीं था। अपने अतीत के गौरव को समेटते हुए देश की संपूर्ण मनीषा इस समय एक असहाय, अशक्त और दरिद्र ब्राह्मण के रूप में अपनी समस्या की तलवार लेकर मेरे सामने आक्रामक थी और वैभव का प्रतीक मैं चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा।

प्रतीक्षागृह के बाहर लोग इकट्ठा होते गए। वे हमारी बातें सुनते रहे और आश्चर्य करते रहे कि द्वारकाधीश का यह कैसा मित्र! उन्हें लग रहा था कि यह धरती-आकाश का मिलन है, संपन्नता और विपन्नता का मिलन है—और मिलन है असहाय का सहाय से।

बाहर भीड़ बढ़ती जा रही थी।

अभी तक तो हमें ध्यान ही नहीं रहा कि हम लोग खड़े हैं। मेरी आत्म-विभोरता ने न स्वयं को बैठने को कहा और न उसे बैठाया। अचानक मुझे लगा कि उसने कुछ अधिक लकुटी का सहारा लिया और पैर ढीला किया। मैंने तुरंत उसे प्रतीक्षागृह के स्वर्ण सिंहासन पर बैठाया। वह बैठ नहीं रहा था।

उसने कहा भी—“अरे! मेरे लिए यह नहीं है।”

“अब यह तुम्हारे ही लिए है।” मैंने कहा और उसे बलात् उसपर लगभग ढकेल ही दिया।

उसकी लकुटी बगल में गिरी। उसके कंधे से लटकती उत्तरीय में बँधी दो पोटलियाँ थीं, जो अचानक सरक आईं। उन्हें मैं उठाऊँ, इसके पहले ही उसने झपटकर उन्हें उठाया और अपनी बगल में दबा लिया; जैसे वे मेरे लिए अस्पृश्य हों। फिर उसने गिरी हुई अपनी लकुटी उठानी चाही।

मैंने स्वयं उसे उठा लिया—“अब यह तुम्हारे हाथ में अच्छी नहीं लगेगी। पर तुम इस स्वर्ण सिंहासन पर बहुत अच्छे लग रहे हो।”

“मेरा परिहास तो नहीं कर रहे हो, कन्हैया?” उस सिंहासन को सकपकाई दृष्टि से देखते और उसका कुतूहल से स्पर्श करते हुए वह बोला, “कभी दरिद्रता भी स्वर्ण सिंहासन पर बैठी है!”

“कभी बैठी हो या न बैठी हो, पर आज तो बैठी है। शायद इसीलिए बहुत अच्छी भी लग रही है।” मैंने कहा और उसके पैरों के निकट पड़े एक मंचक पर बैठ गया।

सुदामा जिस स्वर्ण सिंहासन पर बैठा था, उसीके सामने पग टेकने के लिए एक छोटी स्वर्ण की ही गद्दीदार मचिया थी। यह हर उच्च सिंहासन के सामने रहती है। मैंने देखा, वह उसपर मारे संकोच के पैर नहीं रख रहा था। सिंहासन के नीचे उसके पैर झूल रहे थे। कभी-कभी वह उन्हें उठाकर सिंहासन के ऊपर तक ले जाता। पद्मासन लगाने की मुद्रा भी बनाता। फिर यह सोचकर कि यह अभद्रता होगी, वह नीचे कर लेता।

इस स्थिति पर दृष्टि जाते ही अब उसके पैर के पंजे दिखाई दिए और मन रो पड़ा। कीचड़ और धूल से मांसपेशियाँ ऐसी अद्वैत हो गई थीं कि अँगुलियाँ फूल-फूलकर दूनी दिखाई दे रही थीं। मैं कुछ बोल नहीं पाया। चुपचाप अपने मंचक से उठकर उसके एक-एक पैर उठाकर बलात् उस मंचक पर धर दिए। वह 'अरे रे रे' कहता रह गया। इसके आगे बैखरी नहीं फूटी। आँखें टपकने लगीं।

मैं अनुभव कर रहा था कि बाहर भीड़ बढ़ती जा रही है। लोग झाँक-झूँक लगाए हुए हैं। इसका प्रभाव मुझसे अधिक सुदामा पर पड़ रहा था। उसे लग रहा था कि मैं कहाँ का जंगली जीव सिंहासन पर बैठा दिया गया हूँ। उसने एक बार कहा भी कि लोग क्या सोच रहे हैं।

मैंने प्रतिहारी से कहा कि बाहर के लोगों से चले जाने का आग्रह करे। मैं अपने बालसखा का दर्शन बाद में सार्वजनिक रूप से सबसे कराऊँगा।

फिर मैंने सुदामा के पैर धोने के लिए जल मँगवाया। साथ ही अंतःपुर की अपनी पत्नियों को भी बुलवाया। वे पहले से तैयार बैठी थीं। तुरंत उपस्थित हुईं।

मैंने सुदामा से उनका परिचय कराया—“हम लोगों ने आचार्य सांदीपनि के आश्रम में एक साथ शिक्षा पाई है। हम सहपाठी रहे हैं।”

मेरी पत्नियों ने तत्काल सुदामा के पैर छूकर अभिवादन किया।

सुदामा ने आशीर्वाद देते हुए कहा, “मैं तुम्हें पहली बार देख रहा हूँ। परंपरानुसार तुम्हें कुछ देना चाहिए।” फिर उसकी दृष्टि बगल की पोतलियों पर गई और अत्यंत संकोच के साथ वह बोला, “मेरा दुर्भाग्य है कि तुम्हें देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है।”

“आशीर्वाद तो है ही—और वह तुमने दे ही दिया।” मैंने कहा।

फिर मैं स्वर्ण थाल में उसके पैर पखारने चला। मेरी पत्नियाँ भी आगे बढ़ीं। मैंने उन्हें रोकते हुए कहा, “नहीं, इसके पैर मैं ही धोऊँगा। तुम लोग ऊपर कलश से पानी की पतली धार गिराती जाओ।”

ज्यों-ज्यों मैं पैर धोता जाता था, मिट्टी उतरती जाती थी। अंत में फटी बिवाइयों के बीच कुछ मिट्टी ऐसी जमी थी कि उसका निकलना मुश्किल था। मोटे कपड़े से पोंछ-पोंछकर उसका निकालना संभव हो सका। मिट्टियों के हटाते ही उनमें रक्त चुभचुभा आया।

मैंने कहा, “लगता है, तुम पैदल ही अपने गाँव से चल पड़े हो।”

“हाँ।”

मुझे बड़ी दया आई। मैंने पूछा, “तुमने इतना कष्ट सहा, पर यहाँ क्यों नहीं आए?”

“तुम मुझे देखकर जितने दुःखी हो रहे हो, मैं वस्तुतः ऐसा दुःखी नहीं हूँ।” सुदामा के इस कथन में मेरे प्रति सांत्वना थी और थी झेले गए कष्ट को छिपाने की संभावना। वह बोला, “मैंने कई बार यहाँ आने के लिए सोचा था, पर संकोच के कारण रह गया।”

“मित्र के यहाँ आने में तुम्हें संकोच लगा!”

पर वह चुप ही था। शायद वह कह रहा था कि जब तुम मित्र थे तब थे, पर अब तो द्वारकाधीश हो और मैं एक

भिखारी ब्राह्मण! तुम्हें क्या मालूम कि यहाँ तक आने में मुझे कितना साहस जुटाना पड़ा।

उसने बस इतना कहा, “अतीत की बात छोड़ो। अब उसपर काफी धूल जम चुकी है। वह धुँधला और लगभग अदृश्य हो चुका है।”

“क्या तुम्हें लग रहा है कि वह मित्रता अदृश्य हो गई?”

“इस समय तो नहीं लगता।” उसने कहा, “पर यह जरूर लग रहा है कि मैं समय की धरती के नीचे दबा इतिहास था, जिसे एक भूकंप ने ऊपर कर दिया। इसलिए वह मोहक भी है और आकर्षक भी।”

छंदक पीछे बैठा अब तक चुपचाप सबकुछ देख रहा था, सुन रहा था। फिर अचानक बोला, “उस संकोच की दीवार आज आपने कैसे लाँघ ली?”

“मैं आज भी न लाँघ पाता, यदि कन्हैया की भाभी ने दबाव न डाला होता।” इसके बाद वह खुलता गया —“उसने कहीं से सुन लिया था, या मैंने ही किसी बात के सिलसिले में कह दिया होगा कि द्वारकाधीश मेरे बालसखा हैं। हमने एक ही आश्रम में शिक्षा पाई थी।...फिर क्या था? वह खोज रही थी तिनका और मिल गया पहाड़। इतनी प्रसन्न हुई कि क्या बताऊँ।

“अब उसने तुम्हारे नाम की रट लगा दी। उसने कहा कि इतना महान् व्यक्ति तुम्हारा सहपाठी और तुम ऐसी दरिद्रता भोग रहे हो!”

“ठीक ही तो कहा भाभी ने।”

“मैंने उसे बहुत समझाया कि जो मिल जाता है, उसी पर संतोष करो। ब्राह्मण का धन उसका त्याग है, संग्रह नहीं। हमारी संपत्ति तो हमारा विद्याभ्यास है।” फिर उसने अपनी दिनचर्या बताई—“ब्राह्म मुहूर्त से ही अभ्यास आरंभ कर देता हूँ। फिर रात्रि में उसपर मनन करता हूँ। दिन में जो जिज्ञासु आ जाता है, उसकी जिज्ञासा शांत करने की चेष्टा करता हूँ और जो मेरे भिक्षापात्र में डाल देता है, उसीसे पेट भरता हूँ।”

मैं बातें करते हुए उसे अंतःपुर में ले आया था। यह बातचीत भी अंतःपुर में ही चल रही थी। मुझे लगा कि यह बड़ा स्वाभिमानी और सात्त्विक ब्राह्मण है। किसीसे कुछ माँगता नहीं है—और यहाँ तो और भी मुँह नहीं खोलेगा।

अब तक मेरी माँ भी चली आई थी। माँ को देखते ही सुदामा एकदम हड़बड़ाकर उठा और उसके चरणों पर गिर पड़ा।

माँ ने तुरंत उसे उठाया और छाती से लगाकर करुणार्द्र स्वर में बोली, “सुदामा, तुम बचपन में कितने सुंदर थे!”

“बचपन तो सुंदर होता ही है, माँ!” कहते हुए उसके पोपले मुख पर हँसी उभर आई; जैसे कुम्हलाया हुआ कोई फूल अपने कली जीवन को याद कर मन-ही-मन खिल उठा हो।

फिर मैंने पिछली बात आगे बढ़ाई—“फिर तो तुम्हें आने में बड़ा कष्ट हुआ होगा?”

“कोई शारीरिक कष्ट तो नहीं हुआ, पर संकोच ने बड़ा कष्ट दिया।” वह फिर मुसकराया—“पर नारीहठ और बालहठ के सामने तो हर व्यक्ति को झुकना ही पड़ता है।” इसके बाद उसने सत्यभामा एवं रुक्मिणी की ओर देखा और बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोला, “नारीहठ को तो तुम जानते ही हो!”

“और मैं बालहठ को जानती हूँ।” तुरंत माँ मेरी ओर देखकर बोल पड़ी।

हम सब हँसने लगे।

□

सुदामा को आए महीनों बीत गए। उसकी वेशभूषा बदल गई। उसके संकोच में भी कमी आई; क्योंकि जब मैं अपने सिंहासन पर बैठता, उसे बलात् खींचकर बैठा लेता था। वह ऐसा सिकुड़ता हुआ बैठता जैसे गद्दी में धँस ही जाएगा।

एक बार तो मैंने कहा, “तुम तो महिलाओं जैसा नाटक करते हो।”

“रुक्मिणी के स्थान पर बैठता जो हूँ!” उसने मेरे कान में कहा और हँसने लगा।

“तुम रुक्मिणी के स्थान पर नहीं, मैं भाभी के स्थान पर बैठता हूँ।” वस्तुतः मैं उसके बाएँ बैठता था और सम्मानार्थ उसे दाहिने बैठाता था।

सबकुछ बदलने के बाद दो चीजें ऐसी थीं, जो नहीं बदलीं। एक तो उसकी शरीरयष्टि। उसकी जर्जरता के लिए तत्काल उसका यौवन कहाँ से लाता! यों तो मैंने उसके अतीत पर एक बदला हुआ वर्तमान अच्छी तरह चिपका दिया था; पर इससे क्या होता! उसका यौवन तो लौट नहीं आया। यदि इतिहास बीते युग की कहानी न कहकर उस युग को ही लौटा पाता तो संसार चिरयुवा हो जाता। दूसरी वस्तु थी वे दो पोटलियाँ, जिन्हें प्रथम बार मिलते समय ही उसने अपनी बगल में छिपा लिया था। तब से आज तक उन्हें छिपाता रहा। उसके मत के सारे कपड़े बदल गए, पर वे पोटलियाँ जिस चीथड़े में बँधी थीं, वे नहीं बदलीं। उनके प्रति उसका मोह नहीं बदला। उन्हें वह अपने आसपास ही छिपाए रखता।

एक दिन वह अंतःपुर में ही मेरे परिवार के साथ भोजन पर आया। मैंने उसे अपनी बगल में ही बैठाया। कुहनियों के स्पर्श से लगा कि पोटलियाँ इसकी कमर में बँधी हैं। उनके ऊपर से इसने कटिबंध बाँध रखा है।

मैंने एक झटके में कटिबंध के नीचे से वे पोटलियाँ निकाल लीं और बड़ी बेरुखी से बोला, “बचपन की तुम्हारी चोरी की आदत अभी गई नहीं।”

वह एकदम सकपका गया। अब सबकी दृष्टि उस पोटली की ओर गई। मैंने तुरंत से उसे खोल दिया। उसमें धान का चिउड़ा था।

“बस इतनी सी मामूली चीज को तुम इतना छिपा रहे थे!” मैंने कहा।

वह मारे संकोच के कुछ बोल नहीं पाया।

“तुम्हें यहाँ खाने की क्या कमी थी कि तुमने उसे छिपाकर रखा था?” मैंने पुनः पुराने घाव पर ही अँगुली धरी — “तुम छिपाकर खाने में लड़कपन से ही प्रवीण रहे हो।”

उसे तुरंत पुरानी बात याद आ गई। उसका सारा व्यक्तित्व लज्जा से गड़ गया। उसने धीरे-धीरे पूरे संकोच के साथ कहा, “इसे मुझे खाने के लिए नहीं, तुम्हें खिलाने के लिए भेजा गया है।”

“किसने भेजा है?”

“तुम्हारी भाभी ने।” उसने बताया—“उसने इन्हें देते हुए कहा था कि अपने बचपन के साथी के यहाँ जा रहे हो, क्या खाली हाथ जाओगे!”

“तब तुमने इसे मुझे दिया क्यों नहीं?”

“क्या परिहास करते हो, कन्हैया!” सुदामा बोला, “मैं देख रहा हूँ कि जिसे नवनीत, दधि और दाख भी अच्छा नहीं लगता, उसे घुने चिउड़े खिलाऊँ!”

फिर वह चुप हो गया। मुझे लगा कि यदि वह बोलेगा तो रो पड़ेगा।

हम सब चुपचाप सुदामा की मुद्रा देखते रहे। हमारे यहाँ के भोजन की व्यवस्था जैसे थोड़े समय के लिए थम गई थी।

फिर उसने काँपते स्वरों से बताया—“घर में कुछ था नहीं। माँगने का अभ्यास नहीं। आखिर वह क्या करती! अंततः उसे वह करना पड़ा, जिसका मैं पक्षधर नहीं। पड़ोस में माँगने गई और माँगकर ले आई यह चिउड़ा। इसे तुम्हारे लिए बाँध दिया। मैं उसे भी ‘ना’ न कर सका और भला इन्हें तुम्हें क्या देता!”

“पागल हुए हो!” मैंने कहा और चिउड़ा उत्साह से चबाते हुए बोला, “भाभी जिसे तुम्हारे न माँगने के व्रत को भंग करके ले आई, उसकी मिठास का अनुमान तो मैं ही लगा सकता हूँ।”

सुदामा आँखें नीची किए मौन था। अन्य लोग चकित-से मुझे देखते रहे। आज क्या हो गया है कन्हैया को! जब एक मुट्ठी चबा लेने के बाद मैंने दूसरी मुट्ठी उठाई और उसे मुँह में डाला तो लोगों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। ऐसा लगा जैसे गजब हो गया। सत्यभामा ने तो अपनी आँखों पर दोनों हाथ रख लिये; जैसे वह कुछ और देखना ही नहीं चाहती हो।

पर जब मैंने अपनी तीसरी मुट्ठी उठाई तब रुक्मिणी बड़े झटके से उठी और मेरी बगल में आ गई। मैं चिउड़े को अपने मुँह में डालता, इसके पहले ही उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और बोली, “चिउड़ा ही खा लोगे तो और भोजन क्या करोगे!”

अब सुदामा भी बोल पड़ा—“बस-बस, अब बहुत हो गया। एक दरिद्र की वस्तु का आप इतना सम्मान करेंगे, इसकी कभी मुझे कल्पना न थी।”

“तुम दरिद्र कैसे?” मैंने कहा, “दरिद्र तो वह होता है, जो माँगता है; जो माँगने को ही अपना धन समझता है; पर तुम्हारा धन तो त्याग है, विद्याभ्यास है, विद्यादान है। और दानी कभी दरिद्र नहीं हो सकता; क्योंकि किसीसे वह कुछ चाहता नहीं है। तुम तो उन बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से भी महान् हो, जो दूसरों का राज्य हड़पने के लिए लालायित रहते हैं।”

मैंने सुदामा के अहं को शायद पहली बार सहलाया था। वह बड़ा संतुष्ट लगा।

भोजन के ही बाद अंतःपुर के एक कक्ष में विश्राम के लिए हम चले आए। मैंने उसे सबसे बहुमूल्य पर्यंक पर लिटाया। इस पर्यंक पर भी उसका संकोच उसे लेटने नहीं दे रहा था। मुझे उठना पड़ा। हलकी सी झटका-झटकी भी हुई। अंत में मैंने उसे पर्यंक पर बलात् ढुलका दिया। कितनी लंबी थकावट का शरीर था। शीघ्र ही सो गया। नाक बोलने लगी।

मैं और छंदक बगल के उससे अपेक्षाकृत छोटे पर्यंक पर लेट गए; पर हमारी आँखों में नींद कहाँ। मेरी आँखों में तो अतीत में डूबा आचार्य सांदीपनि का आश्रम था और छंदक के मन में जिज्ञासाओं का पुंज।

“यह बड़ा विचित्र ब्राह्मण है!” छंदक ने मेरी ओर करवट लेते हुए कहा।

“यदि विचित्र न होता तो इसकी यह हालत होती।” मैंने कहा, “यह बता रहा था कि जब पत्नी ने सुना कि मैं और तुम सहपाठी हैं, तब बड़ा हठ करके उसने इसे यहाँ भेजा। इसका तात्पर्य तुम समझते हो? यह मेरे यहाँ भी आने वाला नहीं था। इसने अपनी पत्नी से कहा, ‘क्या करूँगा जाकर! जब जीवन बीत गया ऐसे ही, किसीका एहसानमंद नहीं हुआ, तो इस बुढ़ापे में किसीका एहसान लेकर क्या करूँगा!’ इसका तात्पर्य भी स्पष्ट है।”

छंदक चुपचाप मुझे सुनता रहा।

“इसका मतलब यह है कि यह मुझसे भी कुछ नहीं माँगेगा।” मैंने कहा, “और यदि मैं कुछ देना भी चाहूँगा तो इसके अहं को चोट लगेगी।”

“यह आप कैसे समझते हैं?” छंदक ने पूछा।

मैंने देखा, सुदामा के खरटि और तेज हो गए थे। अब मैं विस्तार से उसकी बातें बताने लगा—“यह है बड़ा सरल। कल रात मेरी बगल में ही सोया था और देर तक बातें करता रहा। इसने बताया कि जब पत्नी ने बहुत हठ किया तब मैंने उसे डाँटा भी—‘तू क्या समझती है कि मेरे जाते ही वे छकड़े लदा देंगे! और यदि वे लदा भी देंगे तो मैं क्या उसे ले आऊँगा!...अरे, यह भी हो सकता है कि वह मुझे पहचानने से भी इनकार कर दें।’”

“पर ऐसा तो नहीं हुआ।” छंदक ने तुरंत कहा।

“यह तो ठीक है; पर दूसरी बात सबसे महत्वपूर्ण है कि यदि मैं इसे कुछ देना भी चाहूँगा तो यह लेगा नहीं।”

“यदि कोई नहीं ही लेना चाहेगा तो आप क्या करेंगे?”

“उसे देना चाहूँगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मैं तो चाहूँगा कि अपना पूरा राजपाट दे दूँ और इसका महामात्य बन जाऊँ।”

मेरा इतना कहना था कि पता नहीं कैसे रुक्मिणी अचानक भीतर चली आई। लगता है, वह दरवाजे के बाहर से हम लोगों का ध्यान रख रही थी। उसके मन में कोई उद्विग्नता थी।

उसने आते ही कहा, “मुझे आपकी इस मनःस्थिति का आभास उसी समय लग गया था, जब आप चिउड़ा चबा रहे थे।”

“तुम ठीक कहती हो, रुक्मिणी।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मुझे आश्चर्य है कि तुम्हें मेरे मन का आभास लग गया।”

“मैं आपकी पत्नी हूँ—और यदि कोई पत्नी अपने पति के मन की बात जानने का सामर्थ्य नहीं रखती तो उसे पत्नी होने का अधिकार नहीं।” फिर वह बड़ी चिंतित हो बोली, “फिर जरा सोचें, महाराज, तब हम लोग कहाँ जाएँगे? आपके बाल-बच्चों का क्या होगा?”

“पागल हुई हो!” मैंने हँसते हुए कहा, “वह ऐसा त्यागी ब्राह्मण है कि तुम उसे यदि राज्य भी देना चाहोगी, तो भी वह नहीं लेगा। तुमने अभी उसे ठीक से पहचाना नहीं।”

इसके बाद रुक्मिणी चुपचाप चली गई। मैंने देखा कि छंदक भी ऊँघने लगा है। मैं भी करवट बदलकर चुपचाप सो गया।

□

जब आँखें खुलीं, सूर्य पश्चिमी क्षितिज की ओर ढुलक रहा था। संध्या होने को थी। मैंने देखा और चुपचाप उठकर चलता बना; पर सुदामा अभी खरटे भर रहा था। उसको आए इतने दिन हो गए थे, पर उसकी थकावट नहीं गई थी। इसीसे जहाँ भी उसे अवसर मिलता, उसका शरीर आराम का पूरा लाभ उठाता। ऐसी संतोष भरी नींद शायद ही उसे अपने जीवन में कभी मिली हो।

मैंने उसे झकझोरकर जगाया—“अरे, उठो मित्र! लगता है, अपने जीवन की सारी संचित नींद यहीं खर्च कर दोगे!”

“संचय में तो मेरे पास नींद भी नहीं है।” सुदामा मुसकराते हुए बोला।

इसके बाद मैं उसे जलपान आदि से निवृत्त करा प्रमोद वन में ले गया। उसकी प्राकृतिक छटा और रमणीयता ने उसे मोह लिया। पश्चिम से आती तेज समुद्री हवा, सामने तरंगायित सरोवर, झूमते वृक्ष और नाचते मयूर देखकर वह स्वयं को खो बैठा। उसकी सारी इंद्रियाँ शिथिल हो जड़वत् हो गई।

मैंने उसका कंधा हिलाया और पूछा, “कहाँ खो गए?”

“मैं स्वप्न देख रहा हूँ या यथार्थ!” उसने जीवन भर प्रकृति की क्रूरता ही देखी थी। मनोरमता नहीं।

“अभी तक तो तुमने यथार्थ देखा है।” मैंने कहा, “पर अब मैं तुम्हें स्वप्न भी दिखाता हूँ।” इतना कहते हुए मैंने करतलध्वनि की। तीन-चार महिला प्रहरी तुरंत उपस्थित हुईं। प्रमोद वन के इस क्षेत्र में पुरुष प्रहरियों का प्रवेश निषेध था।

मैंने उन महिला प्रहरियों से पूछा, “कहाँ हैं कुलवधुएँ?” (इस प्रमोद वन के आसपास बसाई गई और नरकासुर के अंतःनगर से आई महिलाओं को यहाँ ‘कुलवधुएँ’ ही कहा जाता था।)

“उनके पधारने का अभी समय नहीं हुआ है।” प्रहरियों में से एक बोली।

“उनसे कहो कि महाराज के एक मित्र पधारे हैं। वे तुम लोगों से मिलना चाहते हैं।”

वह महिला प्रहरी चली गई और कुछ ही देर में वे कुलवधुएँ अपने क्षेत्र की परंपरागत नृत्य की वेशभूषा में पधारीं। वे उत्तर की ओर से उस प्रमोद वन की बनावटी ऊँचाई से रंग-बिरंगे वेशमुद्रा में तितलियों जैसी फुदकती हुई आईं और हम दोनों के सम्मुख एक पंक्ति में करबद्ध खड़ी हो गईं। उनकी मुद्रा पूछ रही थी—‘कहिए, क्या आज्ञा है?’

पहले मैंने सुदामा का परिचय दिया—“ये मेरे मित्र हैं। मित्र ही नहीं, घनिष्ठ मित्र हैं और बालसखा भी।”

“बालसखा!” उनका मुख खुला-का-खुला रह गया। उनका आश्चर्य उस अकालवृद्ध शरीर को देखकर था। सुदामा उन्हें मुझसे बहुत बूढ़ा लगा।

उनके आश्चर्य का समाधान भी सुदामा ने ही किया—“तुम्हारा चकित होना स्वाभाविक है; पर सत्य यही है कि मेरा मित्र चिरयुवा है और मैं चिरवृद्ध हूँ।”

वे सभी हँसने लगीं और बात वहीं समाप्त हो गई।

फिर उनका नृत्य शुरू हुआ। पहले तो वे स्वयं नाचती रहीं; फिर मैंने संकेत किया और सुदामा को वे अपने बीच खींच ले गईं। उस बेचारे की क्या स्थिति हुई, इसे तो भगवान् ही जाने। जिसने जीवन में कभी पर स्त्री का स्पर्श न किया हो, नर्तकियाँ उसकी दोनों बाँहें पकड़कर और कटि में हाथ डालकर नाचने को विवश करें, क्या गति हुई होगी उसकी!

पहले तो वह झुँझलाया, इधर-उधर थोड़ा झटकने की कोशिश भी की; पर वे सब कहाँ मानने वाली थीं। मेरा संकेत जो मिला था। उनका उद्देश्य तो उसे किसी तरह नचाना था। वे उसमें सफल भी हुईं। बूढ़े बाबा नाचते क्या! अंततः लाचार होकर उनके साथ हिलने-डुलने और कटि हिलाने लगे। मैं भी बाँसुरी बजाने लगा।

प्रकृति नाच रही थी, कुलवधुएँ नाच रही थीं, सुदामा नाच रहा था और नाच रही थीं मेरी वंशी के छिद्रों पर मेरी अँगुलियाँ।

इस स्थिति का सामना सुदामा अधिक देर तक कर नहीं पाया। वह चक्कर खाकर गिर गया। तुरंत नृत्य बंद हुआ। उसे उठाया गया और लाकर वहीं लिटा दिया गया जहाँ मैं बैठा था। मैंने उसका सिर उठाकर अपनी जाँघ पर रखा और सहलाने लगा।

सारी कुलवधुएँ चुपचाप हमें घेरकर खड़ी हो गईं। उनकी मुद्रा में एक प्रकार का अपराधबोध था कि यह हमने क्या किया!

मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, “तुम घबराओ मत! मेरे मित्र का अभ्यास नहीं था। उसे चक्कर आ गया।”

“मैं भी सोचता हूँ कि मैं किस चक्कर में पड़ा।” सुदामा आँखें बंद किए हुए ही बोला।

मुझे हँसी आ गई। वे सब भी मुँह पर हाथ रखकर हँसने लगीं।

“अब मेरा मित्र लेटे-लेटे ही तुम्हारा नृत्य देखेगा।” मैंने कहा और वे फिर नाचने लगीं। पर इस बार वह बात नहीं थी। न वह गति थी और न वह क्षिप्रता। केवल मेरे आदेश का एक औपचारिक पालन मात्र था।

“किस झमेले में तुम ले आए, कन्हैया!” सुदामा प्रकृतिस्थ होते हुए बोला, “मैं ब्राह्मण तपस्वियों का जीवन जीनेवाला व्यक्ति। इन सबसे मेरा क्या वास्ता!” उसके कथन में बड़ी वितृष्णा थी।

“इसीलिए तो तुम अधूरे हो।” मेरे इतना कहते ही उसने मेरी ओर बड़ी गंभीरता से देखा कि यह मैं क्या कह रहा हूँ। मैं उसी मुद्रा में कहता गया—“तपस्या जीवन नहीं है और न वह साध्य है। वह तो साधन है जीवन की पूर्णता

का।”

“तो यही तुम्हारा जीवन है?” उसने पूछा।

“न यह पूर्णता है और न वह पूर्णता है, जिसे तुमने जीया है।” मैंने कहा, “दोनों जीवन की अतियाँ हैं। एक ‘अति’ का छोर वह है और दूसरी का यह। मैं इन दोनों अतियों के मध्य में जीवन की पूर्णता खोजने के लिए तुम्हें यहाँ लाया हूँ।”

“खोजकर भी क्या करूँगा? मुझे तो वही जीवन जीना है।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मैं तो तुम्हारे ललाट पर लिखा राजयोग पढ़ रहा हूँ।” वह एकदम चकित हो उठा।

“यह तुम क्या कह रहे हो, कन्हैया?”

“ठीक कह रहा हूँ, सुदामा!”

□

इस घटना का सुदामा पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अंतःपुर छोड़कर अतिथिभवन में चला गया। जब मैंने इसके विषय में पूछा तो उसने बताया—“मैं एकांतजीवी हूँ। वहाँ मुझे पूजा-पाठ में बाधा पड़ती थी।”

वस्तुतः वह वैभव से घबराकर अंतःपुर से भागा था।

अतिथिभवन में जो सेवक और सेविकाएँ उसके साथ संलग्न की गई थीं, उन्हें भी उसने अपनी ओर से हटा दिया था। फिर भी मैंने उन्हें उसके पीछे लगा रखा था। अपने राजकाज से जब भी मुझे अवकाश मिलता था, मैं उसके पास पहुँच जाता था। भोजन तो मैं उसके साथ ही करता—चाहे राजभवन के भोजनालय में करना हो या अंतःपुर में या अतिथिभवन में। एक-एक पकवान उसके मुख में मुझे बलात् डालना पड़ता।

वह सकुचाते हुए कहता—“यह सब मेरे भाग्य में कहाँ, कन्हैया!”

“पर मैं तो तुम्हारे भाग्य में देख रहा हूँ।” मैं कहता और वह चकित होता; किंतु इसके आगे बात न बढ़ती।

जब कभी वह किसी तरह अंतःपुर में भोजन के लिए बुलाया जाता तब मेरी दोनों पत्नियाँ भी वहाँ साथ होतीं। मैं बैठता अपने मित्र के निकट ही, पर मुझे वहाँ उसके मुख में डालने की स्वतंत्रता न होती। इसीलिए मैं बराबर उसके मुख की ओर मुड़कर देखता जाता था।

एक बार रुक्मिणी ने मुझे टोका भी—“आप खाते समय बार-बार अपने मित्र की ओर क्यों देखते हैं? इसी संकोच में तो बिचारे खा नहीं पाते।”

“तब तुम्हीं खिला दिया करो।”

“मैं तो तैयार हूँ।” रुक्मिणी अपने स्थान से उठी।

इधर सुदामा महाराज भड़क उठे—“तुमने शुरू कर दी अपनी शरारत! तुम मुझे खाने दोगे कि मैं उठकर यहाँ से चला जाऊँ!”

“नहीं, महाराज, आप खाइए। आपको कोई तंग नहीं करेगा।” मैंने कहा, “मैंने उस दिन तो तुम्हें तंग किया ही नहीं, जब तुम चुराकर खा रहे थे, तो आज क्या तंग करूँगा!”

“चुराकर खा रहे थे!” पत्नियाँ हँस पड़ीं।

“इसमें आश्चर्य मत करो। मेरे मित्र को चुराकर खाने की पुरानी आदत है।” मैंने फिर सुदामा को संबोधित करते हुए कहा, “यदि तुम कहो तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूँ।”

“अब पोल खोलने में बच ही क्या गया है!” वह मुसकराते हुए बोला।

और मैं वह पुरानी कहानी सुनाने लगा—“बात उन दिनों की है, जब हम दोनों सांदीपनि आश्रम में शिक्षा ग्रहण

कर रहे थे। हमारे मित्र का विद्याभ्यास बहुत अच्छा था। परिश्रमी, आज्ञापालक और निर्लोभी—अर्थात् एक अच्छे शिष्य में जितने गुण होने चाहिए, वह सब इसमें थे। इसीलिए आचार्यजी—और उनसे भी अधिक आचार्यपत्नी इसे मानती थीं। इसीलिए इसे वे अपनी सेवा में अधिक रखती थीं। जहाँ कोई आवश्यकता हुई वहाँ सुदामा की पुकार हुई।”

मैं कहता जा रहा था। लोगों के भोजन की गति मंद पड़ती जा रही थी—“जाड़े के दिन थे और एक संध्या को जलावन की लकड़ी घट गई। मेरे मित्र की पुकार हुई। यह आचार्य की पर्णकुटी में गया। वहाँ से मैंने इसे कुल्हाड़ी लेकर निकलते देखा और फिर इसके पीछे हो गया। आचार्य ने मुझे टोकते हुए कहा, ‘तुम भी जा रहे हो?’ उनकी इच्छा मुझे जाने देने की नहीं थी। उनके मन में कहीं-न-कहीं यह बात अवश्य थी कि यह संपन्नता में पला बालक है। इससे इस प्रकार का काम लेना इसके स्वभाव और प्रकृति के प्रतिकूल है।

“पर माताजी तुरंत बोल पड़ीं—‘जाने दीजिए, दिन डूब रहा है। दोनों साथ रहेंगे तो अच्छा ही रहेगा।’

“हम लोग चल पड़े।” मैं देख रहा था कि ज्यों-ज्यों मैं कहानी सुनाता जा रहा था त्यों-त्यों लोगों की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी और मेरे मित्र की दृष्टि झुकती जा रही थी।

“चलते-चलते आचार्यजी ने अपना बार-बार दिया गया निर्देश पुनः दुहराया—‘देखो, हरा पेड़ मत काटना।’ हम लोगों ने सिर हिलाकर इस निर्देश को स्वीकार किया और चल पड़े।

“पर दुर्भाग्य से आसपास कोई सूखा पेड़ था ही नहीं। मैं तो पहली बार इस उद्देश्य से आश्रम से निकला था। मैंने इससे जिज्ञासा की—‘आसपास तो एक भी सूखा पेड़ नहीं है?’

“‘तुम क्या समझते हो, आसान है सूखी लकड़ियाँ खोजना!’ बड़े ताव से बोला था उस समय मेरा यह मित्र!” मैंने फिर सुदामा की ओर देखा। उसके अधरों के बीच हलकी-हलकी मुसकराहट उग आई थी।

मैंने बात आगे बढ़ाई—“तब इसने कहा, ‘मार्ग में देखते जाओ। जो सूखी टहनियाँ गिरी दिखाई पड़ें, उन्हें बीनते जाओ।’

“‘पर इससे क्या होगा? कहीं ओस चाटने से प्यास बुझेगी!’ मुझे याद है, सुदामा, उस समय भी तू बड़े ताव से बोला था, ‘हमें जंगल में चलना पड़ेगा। तुम जंगल में चलने से डरते हो! वहाँ बड़े सिंह, भालू, साँप रहते हैं। तुम्हें डरना ही चाहिए।’...उस दिन तो मित्र! रास्ते भर तुम मुझे डरवाते चल रहे थे।”

उसकी मुसकराहट क्षण भर के लिए हँसी में बदली।

“हम चलते गए, चलते गए। बहुत दूर निकल गए। अँधेरा हो गया। आकाश में मेघ घिर आए। अब अँधेरा और गाढ़ा हो गया। मार्ग दिखाई पड़ना भी कठिन हो गया। अब मैंने उलटे इसे डरवाना शुरू किया—‘अब क्या होगा, जब सिंह दहाड़ेगा, बड़े-बड़े अजगर आएँगे!’

“फिर मेरा मित्र काँपने लगा। मैंने कहा, ‘पहले तो बड़ी डींग मारते थे, अब काँपते क्यों हो?’

“यह बोला, ‘सर्दी लग रही है।’ ”

इतना सुनते ही सभी हँस पड़े। सुदामा भी जरा उभरकर मुसकराया।

भोजन तो लगभग समाप्त हो चुका था। बातें ही चल रही थीं और मैं बोलता ही जा रहा था। मैंने कथा का पुराना सूत्र आगे बढ़ाया—“हाँ, तो उसके बाद आकाश भी टपकने लगा। धीरे-धीरे वर्षा तेज हुई। अब प्रश्न था कि कहाँ शरण ली जाए? किसी घने वृक्ष पर चढ़कर बैठने के सिवा अब कोई चारा नहीं था।

“रात घनी होती चली गई। बारिश भी तेज होने लगी। जाड़े की रात और पेट खाली। सर्दी और भूख का पूरा आक्रमण। अब क्या किया जाए? किसी प्रकार समय काटना था। चुपचाप हम लोग डालों पर वृक्ष के मोटे तने के

सहारे बैठे थे। ऊपर की डाल पर यह (सुदामा) और नीचे की डाल पर मैं। अचानक लगा कि यह कोई कड़ी चीज खा रहा है। मैंने पूछा, 'क्या खा रहे हो, मित्र?'

“इसने कहा, 'कुछ तो नहीं।’

“ ‘फिर तुम्हारे दाँत क्यों बोल रहे हैं?’

“ ‘जाड़े से किटकिटा रहे हैं।’ इसने और काँपते हुए कहा।”

सभी फिर हँस पड़े। इस बार सुदामा का भी पोपला मुख पूरा-का-पूरा खुल गया।

“आपने भी विश्वास कर लिया?” इस बार सत्यभामा बोल पड़ी।

“विश्वास न करता तो क्या करता!” मैंने कहा, “सोचा थोड़े ही था कि यह इतना बड़ा छल करेगा मेरे साथ! वस्तुतः माताजी ने जंगल जाते समय इसे थोड़े से भुने चने दिए थे। उसीको यह चोर उस समय चुपचाप चबा रहा था।”

इस बार सबके सब तालियाँ पीटकर हँस पड़े।

सुदामा भी लज्जा भरी हँसी हँसते हुए बोला, “बहुत हुआ। सबके बीच बैठकर अब मेरा और पानी मत उतारो।”

इसके बाद हम लोग भोजन पर से उठ गए।

□

दिन पर दिन खिसकते चले गए। सुदामा को भी पधारे एक पक्ष से ऊपर हो गया। इस बीच हमारे परिवार से उसकी निकटता भी बढ़ी। भैया-भाभी उसे खूब मानते थे। नानाजी के यहाँ तो वह बहुधा चला जाता था और धार्मिक संदर्भ की अनेक कथाएँ सुनाता था। अध्यात्म रामायण तो वे उससे संपूर्ण सुनना चाहते थे। भोजन के बाद अब सुदामा नानाजी के यहाँ ही जाता था और संध्या तक वहीं रहता था। मेरे माता-पिता भी उस समय वहाँ पहुँच जाते थे।

इधर सुदामा को पूरी शासन व्यवस्था से परिचित कराया गया। वह सभी अमात्यों से परिचित हुआ। अमात्य मंडल की कई सभाओं में भी उसे आमंत्रित किया गया। पर इन सारे प्रसंगों में उसकी रुचि न थी।

कभी-कभी उसकी वितृष्णा मुखर भी हो जाती थी—“क्या करूँगा यह सब जानकर?”

मैं कहता—“जैसे तुम्हारे वस्त्र बदले हैं वैसे तुम्हारा सारा व्यक्तित्व बदल देना चाहता हूँ।”

“मैं यहाँ से जाते ही जैसे तुम्हारे वस्त्र उतारकर फेंक दूँगा वैसे ही इस व्यक्तित्व को भी फेंक दूँगा।”

“जब फेंकना ही था तो इसे पहना क्यों?”

“तुम्हारी प्रतिष्ठा के लिए।” उसने कहा।

मैं निरुत्तर हो गया। मन में बनी उसकी छवि पर रंग की एक परत और चढ़ गई।

इसके बाद मैंने उसकी पूरी देखभाल छंदक को सौंपी और उसे सावधान करते हुए कहा, “एक नितांत विलक्षण व्यक्तित्व तुम्हें सौंप रहा हूँ। इसका गहराई से अध्ययन करो।”

छंदक बोला, “है तो बड़ा त्यागी व्यक्तित्व!”

“तथाकथित त्यागियों से भी महान्!” मैंने कहा, “त्यागियों में भी एक अहंकार होता है—त्यागने का अहंकार। मैंने इस वस्तु का त्याग किया। मैंने उस वस्तु का त्याग किया। मैंने राजपाट छोड़ा। वैभव-विलास छोड़ा। सब छोड़ने के बाद भी वे त्याग के इस अहंकार को नहीं छोड़ पाते। उसे हृदय से बंदरिया के मरे हुए बच्चे की तरह चिपकाए रहते हैं।...पर इसमें यह अहंकार ही नहीं है।”

छंदक ने मेरी बात का समर्थन किया। उसने बताया—“एक दिन मैंने अतिथिभवन के उसके कक्ष में झाँका तो

देखा कि आपका मित्र उस बहुमूल्य पर्यंक पर नहीं वरन् कोरी धरती पर पड़ा खरटि भर रहा था। मैं उसी कक्ष में बैठ गया। जब वह जगा तब मैंने उससे पूछा। वह पर्यंक की ओर संकेत करते हुए बोला, 'वह हमारी नहीं है। हमारी तो केवल धरती है और उसी पर मुझे नींद भी आती है।' "

उसके इस कथन पर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मैंने मन-ही-मन समझ लिया कि यहाँ का दिया तो वह यहीं छोड़ दे रहा है। पर मुझे तो इसे देना ही है। तब क्यों नहीं मैं इसे न देकर इसकी पत्नी को दूँ! और वहीं जाकर इसे दिया जाए।

इतना होने पर भी मैं अपने मित्र का ग्राम नहीं जानता था। कई बार मैंने प्रकारांत से उससे पूछा भी था; पर वह हर बार टाल गया। इसी विशेष जानकारी के लिए मैंने छंदक को उसके पीछे लगाया था।

मैंने छंदक से कहा, "किसी प्रकार इसकी जानकारी लो। मुझे तो लगता है कि इसका ग्राम मेरी राज्य सीमा के किसी छोर पर ही पड़ता होगा; क्योंकि इसकी पैदल यात्रा से कुछ ऐसा ही अनुमान लगता है। हो सकता है, राज्य की सीमा के बाहर भी हो। तब उसे खरीदना होगा। जिस किसी राजा या सामंत की सीमा में पड़ता होगा, उससे संपर्क करना पड़ेगा। यह कार्य मैं गुप्तचरों और अपने अधिकारियों से भी करा सकता हूँ; पर मैं नहीं चाहता कि इस बात को मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त कोई तीसरा भी जाने।"

"आखिर इतनी गोपनीयता क्यों?" छंदक ने जिज्ञासा की।

"क्योंकि अपने मित्र को उस ग्राम का स्वामी बनाना चाहता हूँ।" मैंने कहा, "यदि तुम शीघ्र संभव कर दो तो मैं अपने मित्र के नाम पर एक छोटी सी नगरी ही बसा दूँ। यदि यह बात जरा सी भी फूटी तो सुदामा चुपचाप यहाँ से कहीं चला जाएगा; क्योंकि वह मेरा एहसान नहीं लेना चाहेगा। ऐसी स्थिति में यह अपनी पत्नी के यहाँ भी नहीं जाएगा। यह बड़ा विचित्र जीव है।"

"तो क्या समझते हैं कि उसके नाम की नगरी बसाकर आप उसे उसका स्वामी बना सकेंगे?" छंदक बोला, "मुझे तो लगता है, वह आपका कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा।"

"वह स्वीकार करे या न करे, उसकी पत्नी तो स्वीकार करेगी; जिसने उसे हठ कर यहाँ भेजा है।" मैंने कहा, "फिर तुम मेरी लीला देखते जाओ।"

□

फिर लंबे अरसे तक सुदामा द्वारकापुरी में रह गया। यद्यपि यहाँ उसका मन नहीं लगता था। प्रतिदिन सवेरे ही प्रयाण की योजना बनाता था; पर किसी-न-किसी बहाने उसे रोक लिया जाता था, क्योंकि मेरा उद्देश्य अभी पूरा नहीं हुआ था। अभी उसके ग्राम को 'सुदामापुरी' में बदला नहीं जा सका था। (आज भी पोरबंदर के पास एक सुदामापुरी है।) छंदक लगा था। दिन-रात काम जारी था।

अतएव सुदामा को उलझाए रखना आवश्यक था। इसके लिए उसे कथा-वार्ता में लगा दिया गया था। यों तो नानाजी को मध्याह्न में कथा सुनाता ही था। इसके अतिरिक्त संध्या को विशाल शिव मंदिर में और प्रातः द्वारका के पश्चिमी छोर पर सूर्य मंदिर में उसकी कथा होती थी।

यह दिनचर्या उसकी प्रकृति और ज्ञान के अनुरूप थी। फिर भी उसका जी उचटा-उचटा रहता था। वह बहुधा कहता था—"अब जाने दो, मित्र, बहुत हो गया। मेरी पत्नी क्या सोच रही होगी!"

"वह यही सोच रही होगी कि पति महोदय अपने बालसखा द्वारकाधीश के यहाँ गए हैं। वे जल्दी छोड़नेवाले थोड़े ही हैं।" मैंने कहा, "फिर तुम अपने मन से तो आए नहीं हो, भाभी ने ही तुम्हें भेजा है।"

वह मेरे सामने तो चुप हो जाता, अधिक खुलता छंदक के सामने। क्योंकि छंदक ने उसके हृदय के अत्यधिक निकट पहुँचने में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी।

एक दिन सुदामा उससे कह रहा था—“मैं तो यहाँ विलास कर रहा हूँ। इतना अच्छा खाता-पीता हूँ, नित्य नए उत्तम वस्त्र धारण करता हूँ। अब धरती पर सोना तो दूर, धरती पर पैर रखना भी यदा-कदा ही होता है; पर वह बेचारी कैसी होगी? एक समय के लिए भी कुछ जुटा पाती होगी या नहीं?”

“इस प्रश्न का उत्तर तो द्वारकाधीश ही दे सकते हैं।” छंदक ने कहा।

सुदामा गंभीर हो गया।

छंदक ने फिर कहा, “आप इस विषय में द्वारकाधीश से बातें करें।”

“उनसे बातें करने से क्या होगा! मेरी चिंता तो बनी ही रहेगी।” उसने कहा, “वह तो हर बात परिहास में उड़ा देता है।”

“फिर भी आप उनके अतिथि हैं। आपकी पूरी चिंता करना उनका कर्तव्य है।” छंदक ने कहा और उसे इतना समझाया कि वह किसी प्रकार बातें करने मेरे पास आया।

“कल तक मुझे जाने दो।” उसने आते ही कहा।

“क्यों?”

“बहुत दिन मुझे आए हो गए।”

“मैं तो चाहता हूँ कि कुछ दिनों यहाँ और रहते। जैसे तुम्हारी वेशभूषा बदली, दिनचर्या बदली वैसे ही तुम्हारा रंग-रूप भी बदल जाता। तुम्हारी हड्डियों पर थोड़ा और मांस चढ़ जाता।”

“तब तो बड़ी विचित्र स्थिति होगी।” इस बार सुदामा ने ही परिहास किया। वह मुसकराते हुए बोला, “यदि मेरा व्यक्तित्व ही बदल जाएगा, तब तो एक बड़ा खतरा हो सकता है।”

“वह क्या?”

“तुम्हारी भाभी ही मुझे पर पुरुष समझकर अस्वीकार कर दे तो?”

“फिर तो वह कभी अस्वीकार नहीं करेंगी। क्योंकि ‘स्व’ से ‘पर’ में ज्यादा रस होता है।” मैंने कहा और हम दोनों ठहाका मारकर हँस पड़े। उस दिन भी इसी हँसी में मुख्य बात उड़ गई।

जीवन ऐसी ही सामान्य गति से आगे बढ़ता रहा। कुछ दिन और बीते।

एक दिन एक विचित्र घटना हुई।

अभी मध्याह्न नहीं हुआ था। मैं कार्यालय में अमात्य मंडल की बैठक कर रहा था। राज्य की प्रगति का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा रहा था कि अचानक लगा जैसे कोई मुझे पुकार रहा है। मेरी दृष्टि तुरंत वातायनों की ओर गई। कहीं कुछ नहीं दिखा। फिर भी मुझे लग रहा था कि कोई मुझे पुकार रहा है।

मैंने परिचर प्रधान से कहा, “जरा बाहर दिखवाओ, कोई मुझे पुकार रहा है।”

अमात्य मंडल के सदस्यों के भी कान खड़े हुए। उन्होंने भी बड़े ध्यान से सुनने की चेष्टा की; पर कहीं कुछ सुनाई नहीं पड़ा। परिचर भी निराश ही लौटे।

“बाहर कोई नहीं है।” उनमें से हर एक ने कहा।

पर आवाज बराबर सुनाई पड़ रही थी। घबराई हुई आवाज, पीड़ा से भरी हुई आवाज, जानी-पहचानी आवाज।

मैंने फिर कहा, “कोई पुकार रहा है, जरा आप लोग ध्यान से सुनिए।”

बैठक अपनी कार्यवाही पर जैसे थम गई। अब उसके सामने एक यही विषय था।

मैंने फिर कहा, “कोई बुला रहा है। बार-बार बुला रहा है। उसकी ध्वनि मुझे व्यग्र कर रही है।”

मेरी व्यग्रता ने सभी अमात्यों को विचलित कर दिया। सभी उठ गए। कुछ वातायनों से झाँकने लगे। कुछ

सकपकाई दृष्टि से चारों ओर देखने लगे। कुछ आवाज की खोज में बाहर भी निकल गए। मनुष्य, पशु-पक्षी सभी दिखाई पड़े; पर आवाज कहीं न सुनाई पड़ी और न कोई पुकारता सुनाई पड़ा।

लोगों को परम आश्चर्य था कि यह क्या चमत्कार है; पर मैं कहे जा रहा था—“नहीं, कोई पुकार रहा है। वह विपत्ति में है। मुझे जल्दी वहाँ पहुँचना चाहिए।”

मैंने यही बात जोर-जोर से कई बार दुहराई। ज्यों-ज्यों मैं अपनी बात दुहराता गया, मेरे अमात्य चक्कर में पड़ते गए। मेरी स्थिति देखकर उन्होंने समवेत आग्रह किया—“महाराज, आप अशांत हैं। आपको विश्राम की आवश्यकता है।”

तुरंत राजभवन से शिविका मँगवाई गई और अंतःपुर में विश्राम के लिए भेजा गया। सभी चिंतित थे कि मुझे क्या हो गया। मेरे मस्तक पर पसीने की बूँदें भी उन्होंने देखीं। उन्हें लगा कि मेरे स्वास्थ्य की असामान्य स्थिति है।

महामात्य ने राजवैद्य को बुलाने के लिए परिचर भेजा। इधर अंतःपुर के विश्रामकक्ष में मेरी घबराहट करवटें बदलने लगी। मुझे वही आवाज व्यग्र किए जा रही थी। बड़ी पीड़ा भरी आवाज, वही आर्तध्वनि—“बचाओ! कन्हैया, बचाओ! मेरी लज्जा रखो, कन्हैया! भरी सभा में मैं नग्न की जा रही हूँ। तुमने कहा था न कि जब मैं पुकारूँगी, तुम आ जाओगे! आज मैं पुकार रही हूँ। असहाय होकर पुकार रही हूँ। अब कोई सहारा नहीं रहा। यदि तुम नहीं आए तो मैं लुट जाऊँगी।”

यह आवाज मुझे और तेज सुनाई पड़ने लगी। मेरी व्यग्रता बढ़ती गई। मेरी पत्नियाँ मेरे पर्यंक के चारों ओर घेरकर बैठी थीं।

मैंने उनसे पूछा, “तुम्हें कुछ सुनाई पड़ रहा है?”

उन सबने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। मेरी व्याकुलता और बढ़ी। मैं पसीने-पसीने हो गया। मेरी पत्नियाँ और घबराईं। उन्होंने कभी मुझे ऐसी स्थिति में देखा नहीं था। उन्होंने तुरंत शीतल जल मँगवाया। मुझे पिलाया। मुझपर छिड़काव भी किया। मेरे सामने तो आवाज थी, उनके सामने कोई आवाज नहीं थी। इसलिए वे और भी व्यग्र थीं। मुझे शांत करने की उन्हें कोई युक्ति दिखाई नहीं दे रही थी।

मैंने अपनी पत्नियों को शांत करने की चेष्टा की—“जब तुम्हें कुछ नहीं सुनाई दे रहा है तब तुम सब क्यों व्यग्र हो?”

“आपकी व्यग्रता देखकर।”

“तो लो, अब मैं शांत हो रहा हूँ।” मैंने कहा तथा इसके बाद आँखें बंद कीं और ध्यान किया। फिर समाधि में चला गया। मेरे पास योग साधने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा।

लोगों ने मुझे बाद में बताया कि कुछ ही क्षणों बाद मेरी काया संज्ञाशून्य हो गई थी। लोगों ने उस समय मेरे शरीर को छुआ था। कहीं कोई स्पंदन नहीं। लोग और घबराए। तब तक राजवैद्य भी आ चुके थे। उन्होंने सारा वृत्तांत सुना। मुझे बड़े ध्यान से देखा। फिर नाड़ी पर हाथ रखा और बहुत देर तक मौन रहे।

फिर बड़ी गंभीरता से बोले, “इन्हें किसी ओषधि की आवश्यकता नहीं है।”

मेरी पत्नियाँ अब और घबराईं। रोने लगीं।

“क्या इनमें जीवन शेष नहीं?”

“संप्रति नाड़ी में स्पंदन तो नहीं है, पर शरीर निर्जीव नहीं है।” वैद्यराज ने कहा, “आप ही देखिए, पहले से अधिक तेजस्विता है आकृति पर। तन की कांति निखरी पड़ रही है। यह शरीर की साधारण अवस्था नहीं, असाधारण अवस्था है। यह योगिराज की योगसिद्ध स्थिति है। महाराज योगनिद्रा में हैं। अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को

अलग कर लिया है।”*

“तो इनका सूक्ष्म शरीर कहाँ होगा?”

“इस ब्रह्मांड में कहीं भी हो सकता है।” वैद्यराज ने कहा, “आप लोग घबराएँ नहीं, वह सूक्ष्म शरीर अपना कार्य पूरा कर कभी भी आ सकता है।”

लोगों ने मुझे बताया था कि उस समय तक मेरे परिवार का प्रत्येक सदस्य मेरे निकट उपस्थित हो गया था। सभी व्यग्र; पर शांत, स्थिर, एकदम जड़वत्।

उन्हींमें सुदामा भी था; पर वह ध्यानावस्थित था। कुछ देर तक वह कुछ सोचता रहा। फिर चुपचाप वहाँ से उठा और आचार्य को बुला लाया।

गर्गाचार्य के आते ही लोगों की जड़ता टूटी। इधर-उधर हटकर मुझ तक पहुँचने के लिए लोगों ने उन्हें मार्ग दिया। उन्होंने भी मुझे ध्यान से देखा और उसी निष्कर्ष पर आए, जिसपर राजवैद्य आ चुके थे।

उन्होंने मुसकराते हुए कहा, “कन्हैया की यह योगस्थ काया है।” फिर उन्होंने मेरी योग साधना की सविस्तार चर्चा की।

पिताजी ने कहा, “किंतु हम लोगों ने कभी इसे इस स्थिति में देखा नहीं था।”

“तो आज देख लीजिए।” गर्गाचार्य मुसकराते हुए बोले। उनकी आकृति पर न तो कोई व्यग्रता थी और न तनाव। उन्होंने बड़े सहजभाव से पिताजी से कहा, “आपने तो अपने पुत्र की लीला जन्म से देखी है। आज भी देखिए; किंतु शांत और सहजभाव से।”

आचार्यजी के आने से स्थिति एकदम बदल गई। व्यग्रता शांति में बदलने लगी। मेरे शरीर को किसी प्रकार कष्ट न हो, मेरी योगनिद्रा में किसी प्रकार का व्यवधान न पड़े, इस दृष्टि से लोग चुपचाप हटने-बढ़ने लगे। भैया ने तो पूरे राजभवन में और उसके चारों ओर शांति की व्यवस्था कराई।

धीरे-धीरे समाचार नगर में भी फैल गया। लोगों को काठ मार गया। देखते-देखते द्वारका की ऐसी स्थिति हो गई जैसे समय ही थम गया हो। लोग योगनिद्रा से जगने की मेरी प्रतीक्षा साँस रोककर करने लगे।

मुझे पहले ही से लग रहा था कि छटपटाती आवाज मेरी जानी-पहचानी है। अब ज्यों ही मैंने अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग किया त्यों ही वह आवाज और स्पष्ट हो गई। यद्यपि सूक्ष्म शरीर इंद्रियविहीन होता है; फिर भी सांसारिक अनुभूति वह ग्रहण कर सकता है। मुझे अब वह चीख स्पष्टतः द्रौपदी की लग रही थी। निश्चित ही वह भयंकर विपत्ति में है और बड़े कातरभाव से मुझे स्मरण कर रही है।

मेरा यह सूक्ष्म शरीर उस आर्तध्वनि को पकड़कर आकाश मार्ग से उड़ चला। मेरे लिए समय और स्थान दोनों अत्यधिक सिमट गए थे। देखते-देखते मैं हस्तिनापुर के राजदरबार में पहुँच गया। मैंने देखा, एकवस्त्रा द्रौपदी घबराई हुई सभा में खड़ी है। उसके केश बिखरे हैं। क्रोध से उसका सारा तन काँप रहा है। आँखों से चिनगारियाँ छूट रही हैं। फिर भी वह वधियों से घिरी हुई हिरणी की तरह निरीह है। उसके पाँचों पति केवल कटिवस्त्र पहने सभा में मूक-असहाय बैठे हैं। केवल रह-रहकर भीम का क्रोध कभी-कभी भभक रहा है; पर वह फेनिल सागर की तरह उफान लेकर व्यर्थ हो जा रहा है। मैं कुछ समझ नहीं पाया। आखिर पितामह, आचार्य द्रोण, कृप, विदुर और महाराज धृतराष्ट्र जैसे वरेण्य वृद्ध मौन क्यों हैं? गांधारी तो आँखों पर पट्टी बाँधे ही रहती है, इन लोगों ने मुँह पर पट्टियाँ क्यों बाँध रखी हैं? मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था कि स्थिति क्या है।

मैं शीघ्र ही द्रौपदी के समक्ष आ गया।

वह बोल पड़ी—“आ गए, नाथ!”

लगा कि मैं उसे दिखाई पड़ रहा हूँ। लोगों की दृष्टि भी सकपकाई; पर उन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया।

द्रौपदी बोलती गई—“मैं कब से पुकार रही हूँ, प्रभो! तुमने इतनी देर क्यों कर दी? यदि क्षण भर की ओर देर हो जाती तब तो मेरी इज्जत ही उतर जाती।” उसने दुःशासन की ओर संकेत करते हुए कहा, “यह दुष्ट मेरे केश खींचते हुए मुझे अपने भवन से यहाँ तक ले आया है। इस समय मैं सभा में आने की स्थिति में भी नहीं थी। मैं रजस्वला हूँ, एकवस्त्रा हूँ। यहाँ यह दुष्ट मेरा चीर खींचकर मुझे नग्न करना चाहता है। तुम्हारे रहते मेरी यह स्थिति होने जा रही है, नाथ!”

पूरी सभा सकपकाई हुई चारों ओर देखने लगी कि द्रौपदी किसको संबोधित कर रही है; पर किसीको कुछ दिखाई नहीं दिया। मैंने देखा कि पितामह की दृष्टि एकदम नीची है, धरती में गड़ी जा रही है; जैसे उन्हें न तो कुछ सुनाई पड़ रहा है और न कुछ दिखाई पड़ रहा है। मैंने उनकी ऐसी निरीह स्थिति कभी नहीं देखी थी। और वृद्धों की आकृतियों पर भी दुःख था, आक्रोश था तथा दासों जैसी लाचारी थी।

दुर्योधन अट्टहास करते हुए बोला, “इस नाटक से कोई लाभ न होगा। तुम समझती हो कि यहाँ भी तुम्हारा कोई जादू चलने वाला है। अब तुम जुए में हारी हमारी दासी हो। हम जैसा चाहें, तुम्हारे साथ व्यवहार कर सकते हैं।”

इसके बाद दुर्योधन ने दुःशासन से कहा, “अब तुम अपना काम पूरा करो। यह कृष्ण को पुकारती है, पुकारने दो। देखें, इस समय कहाँ से आता है इसको बचाने के लिए इसका कन्हैया!”

अब द्रौपदी चीखी—“अरे पापियो! वह कहाँ से आता नहीं है वरन् आ चुका है। तुम्हारे पास उसे देखने की आँखें नहीं हैं। तुम सब अंधे हो चुके हो।”

अब मैं दुःशासन को दिखाई देने लगा था। मेरे दाहिने हाथ की तर्जनी पर अभिमंत्रित चक्र चलने लगा था। दुःशासन शिशुपाल वध के समय का ही मेरा रूप देखने लगा था। वह चमत्कृत भी हुआ और हतोत्साहित भी। लगभग स्तब्धता की स्थिति में।

तब तक कर्ण का प्रतिशोध गरजा—“क्या अपाहिजों जैसे मौन खड़े हो! युवराज की आज्ञा का पालन करो।”

अब दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्र पर हाथ लगाया। मेरे मन में आया कि मैं अभी इसका अंत कर दूँ; पर उसी समय द्रौपदी पुनः चीखी—“तुम्हारे रहते मैं नग्न हो जाऊँगी, कन्हैया! मेरे भैया!”

बस मेरा विचार बदल गया। मैंने सोचा कि द्रौपदी की मुख्य प्रार्थना दुःशासन के वध की नहीं वरन् उसके नग्न न होने देने की है। मेरा सूक्ष्म शरीर तुरंत द्रौपदी के निकट आया।

अब दुःशासन ने मुझे द्रौपदी के वस्त्र की ओर हाथ बढ़ाते और अट्टहास करते देखा। उसने मेरे मुख से यह कहते हुए भी सुना कि ‘खींचो वस्त्र, जितना खींच सकते हो, खींचो। पूरी शक्ति से खींचो। देखूँ, कितनी शक्ति है तुममें!’

मेरे द्वारा ललकारा जाना, मेरा आक्रोश भरा अट्टहास और यह सब उसीको दिखाई देना। मुझे न देख पाने के कारण कौरवों और विशेषकर कर्ण द्वारा उसे ललकारना—“क्या देखता है! खींच ले वस्त्र और निर्वस्त्र कर दे इस मानिनी को।”

एक ओर मेरी आवाज और दूसरी ओर उस सभा की। एक ओर ललकारता हुआ मेरा अट्टहास और दूसरी ओर सभा का कुत्सित दुराग्रह। दुःशासन बिल्कुल हतप्रभ हो गया। उसने सचमुच साड़ी को खींचना भी चाहा, पर मेरे रूप में अपना अंत देखकर उसकी शक्ति समाप्त हो गई। वह अचेत होकर गिर पड़ा।

हाहाकार मच गया।

“यह क्या हुआ? यह क्या हुआ?” लोग चिल्ला पड़े।

“यह मेरे कन्हैया की कृपा है।” द्रौपदी विह्वल होकर बोली।

लोगों की दृष्टि फिर चारों ओर गई। मैं कहीं दिखाई देता तब तो।

“कहाँ हैं कन्हैया?” कई लोगों ने एक साथ पूछा। शायद इसमें पितामह की भी आवाज थी।

द्रौपदी अब भी मुझे मुसकराता हुआ देख रही थी। उसने फिर कहा, “यह तो अंधों की सभा है। इसीलिए इन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है।”

इसी समय एक विचित्र बात और हुई। गांधारी दौड़ी हुई अंतःपुर से आई। वह एकदम घबराई हुई थी। उसने अपने पति के चरण पकड़ते हुए कहा, “महाराज! यह क्या अनर्थ हो रहा है! आप कुछ सुन रहे हैं?”

पूरी सभा सकते में आ गई। आवाजें अब और साफ तथा भयावह सुनाई दे रही थीं। यज्ञशाला में सारे शृगाल एक साथ होकर रो रहे थे। गदहे रेंक रहे थे। पक्षी उड़ते हुए विशेष ध्वनि करने लगे थे। लोगों को ये सारे अपशकुन एक साथ होते दिखाई दिए।

महाराज धृतराष्ट्र एकदम घबरा गए। बोले, “बंद करो यह सब नाटक और अनिष्ट की आवाज सुनो।”

अब विदुरजी को भी मौका मिला। उन्होंने स्पष्ट कहा, “यह सत्ता के विनाश के सूचक हैं।”

संपूर्ण सभा में आतंक छा गया। अचानक अन्याय के इस नाटक का पटाक्षेप हो गया। द्रौपदी छोड़ दी गई। पांडव दासत्व से मुक्त हुए। शकुनि अपने हाथ में ही पासे लिये अवाक रह गया।

अब मैंने फिर द्वारका की ओर देखा। मेरा स्थूल शरीर पर्यंक पर पड़ा है; जैसे बड़े शांतभाव से मैं सो रहा हूँ। चारों ओर लोग मौन ध्यानावस्थित हैं। मेरी सभी पत्नियाँ आँखें बंद किए चुपचाप बैठी मानो कोई जाप कर रही हों। पूरे अंतःपुर का गलियारा लोगों से भरा है। उन्हींमें प्रमोद वन की कुलवधुएँ भी हैं।

हस्तिनापुर में मेरा काम पूरा हो चुका था। भक्त को त्राण मिल चुका था। मैं तुरंत लौट पड़ा। ज्यों ही मेरे सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर में प्रवेश किया, मेरी शांत आकृति पर मुसकराहट लौटी।

मैंने वहाँ बैठे लोगों से मुसकराते हुए कहा, “आप सब चकित हो गए थे न!”

“चकित ही नहीं, हम सब दुःखी भी थे।” रुक्मिणी ने कहा।

“दुःखी थे! आखिर किसलिए?” मैंने कहा, “शायद आप लोगों ने सोचा कि मेरा अंत हो गया है, या हो रहा है; पर विश्वास कीजिए, मेरा कभी न अंत हुआ है और न होगा। मैं अनंत हूँ। जन्म और मृत्यु के बीच रहकर भी मैं जन्म और मृत्यु से परे हूँ।”

मैंने देखा कि मेरे इतना कहते ही सामने खड़े मेरे माता-पिता की आँखें भक्तिभाव से झुक गई थीं। मेरे देवत्व को वे श्रद्धा से प्रणाम कर रहे थे। उनकी इस मानसिकता को यथार्थ के धरातल पर लाने के लिए मैं तुरंत उठा और उनके चरण छुए। इसी क्रम में मैं सभी अपने से बड़ों के पैर छूने के क्रम में आगे बढ़ा। उनमें भैया भी थे और भाभी भी थीं। भाभी तो मेरे चरण छूने से इतनी गद्गद हुई कि उन्होंने मुझे गले लगा लिया। कैसे कहूँ कि वे मुझे गले लगाती थीं तो बहुत अच्छा लगता था।

बात यह भी थी कि माता-पिता और नानाजी के चरण छूने के बाद मैं पुनः पर्यंक पर चला गया था; क्योंकि मेरे मस्तिष्क पर हस्तिनापुर पूरी तरह छाया था। उसीमें औरों के पग छूने का विस्मरण हो गया। जब मुझे अपनी भूल याद आई तब मैं पुनः उठकर उनके पैर छूने लगा। इससे भैया से अधिक भाभी खुश हुई। मैंने स्वीकारा कि मुझसे भूल हुई।

“क्या भूल हुई?”

“यात्रा से लौटकर सभी बड़ों का चरण न छूना।”

मेरे इस कथन पर लोगों के आश्चर्य ने मुझे एक बार फिर घेर लिया था—“तो तू क्या यात्रा पर गया था?” सबकी शंका भाभी ने ही मुखरित की—“हम तो देख रहे थे कि तुम पर्यक पर मौन पड़े हो।”

“वह तो मेरा स्थूल शरीर था। मैं तो यात्रा सूक्ष्म शरीर से कर रहा था।”

सब चकित हो मुझे देखते रहे और सबकी शंका को भाभी ही वाणी देती रहीं—“तो क्या सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से अलग किया जा सकता है?”

“यदि न किया जा सकता तो मैं कैसे करता!” मैंने हँसते हुए बड़े सहजभाव से कहा, “आज मैंने इस स्थूल शरीर को छोड़ा है। एक दिन ऐसा आएगा कि यह स्थूल शरीर मुझे ही छोड़ देगा।”

मैंने ऐसी बातें इसलिए छेड़ दीं कि पूरे माहौल को योग और दर्शन की ओर ले जाना चाहता था। मेरा मन इन प्रश्नों का सामना नहीं करना चाहता था कि मैं कहाँ गया था, क्यों गया था और मैंने क्या किया। पर मैं जितना दूर हटना चाहता था, यह स्थिति मेरा उतना ही पीछा कर रही थी।

अंत में रेवती भाभी ने न चाहते हुए भी पूछ ही दिया—“यह यात्रा कहाँ की थी?”

“हस्तिनापुर की।” मैंने कहा, “मुझे लगा कि द्रौपदी मुझे पुकार रही है और बड़ी पीड़ा से पुकार रही है। सचमुच उसे मेरी आवश्यकता थी।”

“द्रौपदी और हस्तिनापुर में!” मेरी माँ का माथा ठनका—‘क्या बात हुई कि उसे इंद्रप्रस्थ से वहाँ जाना पड़ा?’ उन्होंने तुरंत प्रश्न किया—“ऐसी क्या आवश्यकता हुई कि तुम्हें यहाँ से जाना पड़ा? सब कुशल तो है?”

अब मैं क्या उत्तर देता! सही बात बताकर मैं अपनी चिंता को पूरी द्वारका पर लादना नहीं चाहता था। मैंने टालने के लिए कहा, “कुशल ही समझिए।”

फिर मैं गंभीर हो गया। पर महर्षि वेदव्यास की भविष्यवाणी झूठी तो होगी नहीं। जो ‘होनी’ है, वह तो होकर रहेगी। हम उसे टाल नहीं सकते। केवल सजग रह सकते हैं।

मुसकराते हुए मैंने दूसरी बात छेड़ दी—“मेरे अचानक चले जाने के बाद तो आप लोग बहुत व्यग्र हो गए होंगे?” “यह भी कोई पूछने की बात है!”

□

मैंने कुछ बताया तो नहीं, पर मन निरंतर व्यग्र था। भीतर-ही-भीतर घुटता रहा। मन में यही विचार आता रहा कि शकुनि की नीचता, दुर्योधन की महत्वाकांक्षा और कर्ण की द्रौपदी से प्रतिशोध लेने की भावना पांडवों को शांति से जीने नहीं देगी। जो कुछ मैंने उस दिन देखा था, उसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। पर यह सब कैसे हुआ, क्यों हुआ, मुझे कुछ भी पता नहीं।

लगता है, पांडवों के साथ कोई भयानक धोखा किया गया। जो कुछ हुआ, अवश्य ही आनन-फानन में हुआ। अन्यथा वे मुझे अवश्य सूचित करते। इस प्रकार मैं अंधकार में पांडवों की परिस्थिति को टटोलता रहा और घुटता रहा। अन्य लोग भी मेरे विषय में उतने ही अंधकार में थे जितना मैं पांडवों के विषय में। किसीसे कुछ कहने की स्थिति में भी नहीं था। फिर भैया का अभी तक का रुख बहुत स्पष्ट नहीं था। पांडवों के पक्ष में होते हुए भी उनकी आत्मीयता दुर्योधन से थी। वह उनका प्रिय शिष्य था। मेरे विचार से भी दुर्योधन उतना बुरा नहीं था जितनी बुराइयों का वह अगुआ बना।

यदि भैया को कुछ पता चल जाता तो वे तुरंत सक्रिय हो जाते। वह स्थिति पांडवों के विपरीत भी हो सकती थी। इसीलिए मैंने इसे अत्यंत गोपनीय रखा; पर भीतर की अग्नि का ताप मेरे बाह्य व्यक्तित्व पर उभर आया था। लोगों को मैं काफी सुस्त और चिंतित दिखाई दे रहा था; पर किसीने कुछ पूछा नहीं। यदि पूछा भी तो मैं टाल गया। एक दिन एकांत में मुझसे सुदामा मिला। उसने कहा, “अब मुझे जाने की अनुमति दो।”

“क्यों? तुम यहाँ से इतनी जल्दी घबरा गए?”

“मैं तो घबराया हुआ हूँ ही, पर तुम मुझसे अधिक घबराए लगते हो।” सुदामा ने कहा, “इसमें तुम्हारा दोष क्या! अतिथि का बहुत दिनों तक रहना भी बहुधा उबाऊ हो जाता है। और तो और, अब तुम्हारा मित्र छंदक भी मुझसे नहीं मिलता। पहले तो वह छाया की तरह मेरे साथ लगा रहता था; अब जो गायब हुआ, सो हुआ।”

मैं उसकी बात सुनकर हँसने लगा। जिस मानसिक स्थिति में था, उसमें हँसने के सिवा मैं करता भी क्या! मैंने छंदक को एक कठिन कार्य में लगाया था। उसे सुदामापुरी बसानी थी। हँसी-खेल नहीं था। हमें तो इंद्रप्रस्थ को बसाने का अनुभव था। कैसी-कैसी बाधाएँ आती हैं, उन्हें मैं ही जानता था। बेचारा क्या झेल रहा होगा! हस्तिनापुर की समस्या के कारण उसकी भी खबर नहीं ले सका और न वह दे पाया।

मैंने सुदामा की किसी बात का उत्तर नहीं दिया। केवल इतना ही कहा, “अच्छा भाई, अब मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा। अब तुम भी प्रसन्न रहोगे और मैं भी।”

इतना कहना था कि उसने मेरी बात पकड़ ली—“इसका तात्पर्य है कि तुम प्रसन्न नहीं हो। कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई चिंता अवश्य है। आज ही नहीं, समाधि लगाने के पहले से ही और बाद में जब तुम्हारा सूक्ष्म शरीर इस शरीर में लौटकर आया है तब से जब भी मैंने देखा, तुम चिंतित ही दिखाई दिए।”

मैंने फिर बात टाली—“घर छोड़कर चले जाने के बाद फिर घर में आकर व्यवस्थित होने में कुछ समय तो लगता ही है।”

“मुझे व्यर्थ समझाने की कोशिश मत करो।” सुदामा ने कहा, “कहीं अपने घर में व्यवस्थित होने में समय लगता है! मैं ही जब यहाँ से जाऊँगा तो क्या घर में व्यवस्थित होने में मुझे समय लगेगा?”

“मुझे तो लगता है कि जरूर समय लगेगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मुझे तो अपना घर पहचानने में देर नहीं हुई, तुम तो शायद अपना घर ही पहचान न पाओ।”

“क्या व्यंग्य कर रहे हो!”

मैं फिर हँसा। इस बार मेरी हँसी उसे रहस्यमय लगी।

“और चमत्कार तो तब हो जब भाभी ही तुम्हें पहचान न पाएँ।”

वह और चक्कर में पड़ा।

मैंने फिर कहा, “अच्छा, कभी तुमने अपना मुख दर्पण में देखा है? क्या तुम अपने को पहचानते हो?”

“अपने को पहचानना तो बड़ी बात है। शायद ज्ञान की चरम सीमा है यह।” वह और भी गंभीर हुआ—“पर दर्पण के सामने जो जाता है, वह मेरा शरीर है। उसे मैं पहचानता हूँ। उसकी मांसलता बढ़ी है। आकृति पर तुम्हारे वैभवपूर्ण आतिथ्य से अरुणिमा आ गई है। वस्त्र-भूषा बदल गई है। इससे भी मेरा शरीर अपनी पहचान खो नहीं पाया है।”

“इसकी सत्यता का प्रमाणपत्र वह देगा, जो तुम्हें इतने दिनों बाद अचानक देखेगा।” मैंने हँसते हुए कहा।

“इसका तात्पर्य क्या यह है कि तुम्हारी भाभी भी मुझे पहचान नहीं पाएंगी?”

“यह मैं कैसे कहूँ!” मैं हँसा और मेरे साथ वह भी।

अब मैं अपना निश्चित समय उसके साथ बिताता। हम बड़े आनंद में रहते। पुरानी बातें होतीं। गप्पें लड़तीं। कभी-कभी मैं उसे प्रमोद उद्यान में भी ले जाता और उन महिलाओं की केलिक्रीड़ाओं में भी उसे ढकेल देता।

वह झुँझलाता था—“तुम मेरे संस्कार बिगाड़ रहे हो!”

“बिगाड़ नहीं, बदल रहा हूँ।”

“एक सात्त्विक व्यक्ति को राजसी बनाना क्या उसे बिगाड़ना नहीं है?”

“तुम इसे बिगाड़ना कह सकते हो!” मैंने कहा, “पर मैं सोचता हूँ कि आज का हर राजा यदि तुम्हारे जैसा सात्त्विक होता तो आर्यावर्त की यह स्थिति न होती।...बल्कि तुम्हें राजसी नहीं, राजा बनाना चाहता हूँ।”

“आखिर दोनों में अंतर क्या है?” सुदामा ने हँसते हुए कहा, “केवल एक शाब्दिक उलझाव है।”

“तुम भी रह गए पोंगा पंडित ही!” मैं हँसते हुए ही बोला और उसे प्रेम का एक धौल जमाया—“तुम स्वयं शास्त्रज्ञ हो। यों तो शास्त्रों में बहुत सी बातें लिखी हैं, पर सात्त्विकता को राजस से अलग करनेवाली बस एक ही खतरनाक विभाजन रेखा है, वह है महत्वाकांक्षा। आज सिंहासनों की महत्वाकांक्षा को देख रहे हो! कोई राजसूय यज्ञ कर रहा है, चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता है। कोई इंद्रासन की ओर दौड़ लगा रहा है। महत्वाकांक्षा के पिशाच का यह तांडव किसलिए? दूसरों को हड़पने के लिए। सही ढंग से न हो तो गलत ढंग से ही सही। आज आर्यावर्त का राजसमाज ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’—उपनिषद् का यह वाक्यांश भूल गया है।” मुझे लगा कि मेरा कथन गंभीर भी हो गया और लंबा भी। मैंने पुनः अपनी मुद्रा बदली। हँसते हुए बोला, “इसीलिए मैं तुम्हें ऐसा राजा बनाना चाहता हूँ, जो त्याग करते हुए सिंहासन का भोग करे। एक आदर्श स्थापित हो।”

“तो क्या मैं राजा बनूँगा?” सुदामा बड़े नाटकीय ढंग से हँसा—“रहूँगा झोंपड़ी में और स्वप्न देखूँगा राजमहल का!”

“नहीं, तुम राजमहल में रहोगे और तुम्हारे स्वप्नों में रहेगी झोंपड़ी।”

वह अब भी मेरी बातों को परिहास समझता और हँसता रहा। मैं भी उसे ऐसे भुलावे में ही रखना चाहता था। पर इतना अवश्य कह देता रहा कि तुमने सारे शास्त्र पढ़े हैं, पर भाग्य का लिखा नहीं पढ़ा है। कौन जाने नियति कब किसके साथ कौन सा खेल खेल दे! किसे राजा बना दे और किसे क्षण में रंक!

“तुम्हारा लड़कपन गया नहीं, कन्हैया! तुम आज भी वैसा ही मूर्ख बनाते हो जैसा आचार्य सांदीपनि के आश्रम में बनाया करते थे।” उसने कहा और हँसा।

□

कुछ दिन और बीते। मैं छंदक की प्रतीक्षा करता रहा। आखिर एक दिन आकर उसने शुभ सूचना दी कि आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन हो गया।

“कमाल कर दिया तुमने, छंदक! यह कार्य उतना आसान नहीं था, जिस आसानी से मैंने तुम्हें सौंपा था।”

“इसे तो अपना दायित्व स्वीकार करते ही मैं समझ गया था।” छंदक बोला।

“तुमको कई बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा?”

“अरे, कुछ मत पूछिए।” अब छंदक विस्तार से बताने लगा—“बात यह हो गई कि शिल्पियों के अनुसार पास के और ग्राम मिलाए बिना नगर का स्वरूप ही नहीं बन रहा था। इनमें कुछ ग्राम ऐसे सामंतों के प्रभाव में थे, जो उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहते थे।...फिर आपकी भाभी ही अपनी झोंपड़ी छोड़ना नहीं चाहती थीं। उनका सोचना था कि भले ही यह झोंपड़ी है, पर है तो अपनी। इसे मैं अपने हाथ से जाने देना नहीं चाहती।”

“जब उनकी यह हालत थी तब गाँव के लोगों ने भी बाधाएँ खड़ी की होंगी?” फिर मैंने पूछा, “हमारे अधिकारक्षेत्र में तो बाधाएँ नहीं खड़ी हुई होंगी?”

“आप भी कैसी बातें करते हैं!” छंदक बोला, “जब पक्षी अपना नीड़ सरलता से नहीं छोड़ना चाहता तब मनुष्य अपना घर आसानी से छोड़ देगा! जब मैंने उनसे यह कहा कि हम तुम्हारी इन सामान्य झोंपड़ियों और पर्णकुटियों के स्थान पर अपना भवन बनाकर देंगे, तो उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। वे कहने लगे कि इस युग में ऐसा कौन दाता-दानी पैदा हुआ है, जो दीनों पर इतनी कृपा करे!”

छंदक ने कहा, “आपने पहले ही सावधान कर दिया था कि कुछ भी बलात् मत करना। इस कार्य में एक बूँद भी रक्तपात न होने पाए। इसलिए मेरे पास समझाने के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं था।”

मैंने हँसते हुए कहा, “तुम दाता-दानी की बात करते। बताते कि अब भी ऐसे लोग हैं, जिन्होंने यह सारा ग्राम दूसरों को दान कर दिया है।”

“आप क्या समझते हैं कि मैंने ऐसा नहीं कहा! कहा था। तब उनका प्रश्न था—‘ऐसा कौन है?’

“मैंने कहा, ‘द्वारकाधीश।’

“‘द्वारकाधीश ने इन सारे ग्रामों को दान कर दिया!’ सभी चकित हो गए—‘पर किसे?’

“अब मैं क्या कहता! आपका निर्देश था कि बात बिल्कुल फूटने न पाए। मैंने कहा, ‘एक ब्राह्मण को। अब तुम लोग यादव राज्य से मुक्त होकर ब्राह्मण राज्य में आ जाओगे। कितना अच्छा होगा! कितनी शांति होगी!’ तब जानते हैं, उन्होंने क्या कहा?”

छंदक के कथन ने मेरी जिज्ञासा को और भी जगाया।

छंदक ने बताया—“तब उन्होंने कहा, ‘हाँ, रावण का राज्य भी ब्राह्मण का राज्य था।’

“मैंने कहा, ‘रावण राक्षस था। यहाँ जिसका राज्य होगा, वह देवता है।’ तब तो उन्होंने अद्भुत उत्तर दिया।” इतना कहकर छंदक मेरी आँखों में आँखें डालकर मुसकराने लगा।

“क्या हर बात को रहस्य बना देते हो, छंदक! स्पष्ट कहते क्यों नहीं?”

छंदक हँसने लगा। बोला, “आप नहीं समझ पाए न कि उन्होंने क्या कहा!” उसने बताया—“वे बोले, ‘अब तक यहाँ भगवान् का राज्य था। अब हमारे यहाँ देवता का राज्य होगा।’ ”

इतना सुनते ही मैं स्तब्ध रह गया। अब तक मैं सोचता था कि मेरे प्रति यह सोच मेरे द्वारा उपकृत लोगों की या हितैषियों की है। मैं यह नहीं जानता था कि सुदूर ग्रामों के लोग भी मुझे भगवान् मानने लगे हैं। मैं भीतर-ही-भीतर बड़ा गद्गद हुआ। सोचने लगा, शायद ही किसीको समाज द्वारा उसके जीवनकाल में ऐसी मान्यता मिली हो।

मन बड़ी देर तक इस कल्पना की अनुभूति में डूबा रहा।

“क्या सोचने लगे?” छंदक ने मुझे झकझोरा।

“सोचता हूँ, तब तो तुम्हें उनके घर लेने में और भी कठिनाई हुई होगी?”

“उसमें परेशानी तो बिल्कुल न होती, यदि उन्हें मारकर ठीक कर देना होता; पर आपकी वर्जना से बँधा था। किसी प्रकार प्रलोभन देकर स्वर्ण निष्कों से उन्हें क्रय करना पड़ा।”

“बहुत ठीक किया। अब तो सुदामापुरी देखने योग्य हो गई होगी?”

“इसका उत्तर तो उसे देखने पर ही मिल सकता है।” छंदक बोला, “मैं तो बहुत संतुष्ट हूँ।”

इसके बाद छंदक फिर सुदामा की सेवा में लग गया। उसके सान्निध्य से मेरे मित्र का मन एक बार फिर द्वारका में रम गया। अब मेरे सामने दो समस्याएँ पैदा हुईं। एक तो सुदामा की बिदाई की पूरी तैयारी हो गई थी। अब मैं उससे कैसे कहूँ कि तुम यहाँ से जा सकते हो। कई बार भाभी (उसकी पत्नी) की चर्चा की; पर या तो उसने ध्यान ही नहीं दिया या टाल गया।

एक बार मैंने उससे कहा, “भाभी ने जो चिउड़ा भेजा था, उसका स्वाद बहुत दिनों तक याद आएगा।”

“तुम्हें तो चिउड़े का ही स्वाद याद आता है।” उसने हँसते हुए कहा, “पर मुझे तो भाभी का ही स्वाद नहीं भूलता।”

सुदामा की इस बात पर गहरा अट्टहास हुआ। हमने अनुभव किया कि आज सुदामा का परिहास अपनी मर्यादा

के कुछ नीचे आ गया है। यह भी शायद मेरी संगति का ही फल हो। फिर मित्रता में सबकुछ चलता है।

उसकी इस मनःस्थिति के बाद भी अभी यहाँ से उसके बिदा होने की घड़ी नहीं आई।

इधर हस्तिनापुर की अनजान स्थिति मुझे व्यग्र किए जा रही थी। मेरे पास छंदक के अतिरिक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जिसे चुपचाप भेजकर मैं कोई गोपनीय सूचना वहाँ भिजवाता।

एक दिन मैंने छंदक को एकांत में बुलाकर पूछा, “तुम मेरे मित्र से कब तक मुक्त होगे?”

“यह तो आपका मित्र ही जाने।” उसने मुझपर व्यंग्य भी किया—“जब आपने सात्त्विकता पर राजस का लेप चढ़ाया, तब आप उसे भोगिए भी।”

मुझे इसकी प्रसन्नता तो थी ही कि मैंने सुदामा को बहुत बदल दिया, पर विश्वास यही था कि सब ऊपर-ऊपर ही हो रहा है। यही होना भी चाहिए और यही हुआ भी। भीतर पुराना सुदामा ही जीवित था। उसे जीवित रहना भी चाहिए।

एक दिन सवेरे-सवेरे अचानक वह बड़ा घबराया हुआ आया और बड़े अप्रत्याशित रूप से उसने कहा, “आज मैं अपने गाँव जाना चाहता हूँ।”

मुझे भी आश्चर्य था कि अचानक यह क्या हो गया! कहीं छंदक ने कोई युक्ति तो नहीं लगाई?

मैंने पूछा, “बात क्या है? कल तक तो ऐसा कुछ नहीं था। अचानक क्या हो गया? कहीं सत्कार में कोई चूक हो गई क्या?”

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। अब बहुत दिन हो गया। मुझे जाने दीजिए।” उसने कहा, “मैंने स्वप्न देखा कि मेरी झोंपड़ी किसीने उजाड़ दी।”

“तो इसमें घबराने की क्या बात है?” मैंने कहा, “हो सकता है, किसीने झोंपड़ी उजाड़कर तुम्हारे लिए महल बनवाने का सोचा हो!”

“क्या बात करते हो, कन्हैया!” उसने बड़ी वितृष्णा से कहा, “यदि आज दीनों पर दया करनेवाले ऐसे लोग होते तो मुझे तुम्हारे यहाँ आने की आवश्यकता न होती।”

सचमुच सुदामा की निर्धनता ने ही उसे यहाँ भेजा; पर वह कुछ माँग न सका। आज उसकी विवशता खुलकर मेरे सामने आ गई; पर मैं भी कुछ बोल न सका। उसे देखता और मुसकराता हुआ चुप ही रहा।

मैंने तुरंत उसके भिजवाने की व्यवस्था की। छंदक को बुलाया। उसके कान में धीरे से कहा, “वह स्थिति अपने आप आ गई, जिसकी हम प्रतीक्षा कर रहे थे।”

छंदक भी अवसर की खोज में था। उसने तत्काल उसकी व्यवस्था आरंभ की। इसी बीच मैंने अपने परिजनों से उसे मिलवाया। उनको अचानक उसके चले जाने का दुःख था।

मेरे माता-पिता ने एक ही बात कही—“फिर आना, सुदामा!”

“भगवान् करे वह परिस्थिति फिर तुम्हारे जीवन में न आए, जिसके कारण तुम्हें यहाँ आना पड़ा।” मैंने कहा क्या, उसने समझा क्या। पर उसकी आँखें अवश्य डबडबा आई थीं।

मैंने अपने रथ पर ही उसे बिदा किया। अपना रथ, अपना सारथि दारुक और अपना साथी छंदक उसके साथ कर दिए। पर वह बड़ा सकपकाया-सा था; पर क्यों, मेरी कुछ समझ में नहीं आया।

“इस रथ आदि की क्या आवश्यकता थी? मुझे ऐसे ही जाने दीजिए।” उसने बड़ी वितृष्णा से कहा, “जैसे आया हूँ वैसे ही बिना माँगे जो मिलेगा, खाते-पीते पैदल चला जाऊँगा।”

“क्या बात करते हो!” मैंने हँसते हुए कहा, “अब तुम्हें जो देखेगा, वह माँगने पर भी भीख नहीं देगा। भीख

माँगनेवाले व्यक्ति का भी एक वेश होता है, जिसे तुम खो चुके हो।”

“ऐसा!” उसका मुख खुला-का-खुला रह गया।

वह इतना दुःखी होगा, इसकी मुझे कल्पना तक नहीं रही। शायद वह पूछना चाहता था कि उस व्यक्तित्व को खोकर मैंने यहाँ आखिर पाया क्या?

पर मैं उसका क्या उत्तर देता।

जब उसका रथ चला, मैं दूर तक उसे बिदाई देने पैदल ही उसके रथ के साथ चला। मेरी देखा-देखी मेरे अधिकारी, अमात्य मंडल के सदस्य, मेरे परिजन-पुरजन; जिसने भी देखा, मेरे साथ हो लिये।

छंदक तो पहले से ही मेरे साथ पैदल चल रहा था। मैंने उसके कान में धीरे से कहा, “देखना, यह बड़ा निराश जा रहा है। इसकी सारी प्रतिक्रिया मन पर लिखते जाना और अंत में मुझे बताना।”

द्वारका के प्रथम द्वार तक मैं ऐसे ही आया। फिर उसे बिदा करते हुए बोला, “भाभी से मेरा चरण स्पर्श कह देना। उन्होंने जैसे मीठे चिउड़े भेजे थे वैसी मिठास द्वारका की किसी वस्तु में न थी, नहीं तो उसकी पोटली बाँधकर अपनी ओर से भाभी को भेजता। केवल अपना हृदय भेज रहा हूँ। शायद उसमें उन्हें कोई मिठास मिल जाए।”

इस वाक्य पर भी उसकी आकृति प्रतिक्रियाशून्य थी। शायद वह किसी परिस्थिति पर गंभीरता से विचार कर रहा था।

बहुत कुछ सोचते रहने के लिए देकर सुदामा चला गया।

□

मैं अपने राजकाज में लगा। मेरी व्यस्तता भी इधर काफी बढ़ गई थी। इस बीच पत्तन पर जल दस्युओं का उत्पात कुछ बढ़ गया था। मैं सैनिकों का अभी प्रयोग करना नहीं चाहता था, इससे राज्य में आतंक बढ़ता। प्रजा की व्यग्रता बढ़ती। अतएव पत्तन सुरक्षा का एक नया विभाग बनाकर स्थिति सँभालने का सारा दायित्व उसे दे दिया। यह सब करने में कई दिन बीत गए। इस स्थिति में उलझे रहने के कारण इतना तो अवश्य हुआ कि मन में बैठा सुदामा मस्तिष्क की ओर नहीं बढ़ा। उसकी चिंता करने का अवसर नहीं मिला।

पत्तन की समस्या से हटते ही छंदक के बारे में सोचने लगा। अब तक तो उसे आ जाना चाहिए। आखिर नई सुदामापुरी यहाँ से कितनी दूरी पर है, जो उसे इतना समय लग रहा है।

इधर मन की बड़ी विचित्र स्थिति थी। सुदामा की मुझे अधिक चिंता नहीं थी। फिर भी मैं मानसिक रूप से बड़ा उद्विग्न था। जैसे कहीं कुछ गड़बड़ हो गया है, या हो रहा है, जो मेरे अनुकूल नहीं है। वस्तुतः मैं किसी अमूर्त अनिष्ट की आशंका से चिंतित हो उठा था। सोचता था कि ऐसा क्यों हो रहा है? मैंने कई बार ध्यान में जाने की चेष्टा की; पर मन को एकाग्र कर नहीं पाया।

इसी बीच छंदक आ गया। मेरी चिंताधारा बदली। यह तो मैं सोच ही रहा था कि छंदक कोई विशेष सूचना लाता होगा; पर वह जिस तरह खुश और हँसता हुआ मिला, उसकी कल्पना मुझे नहीं थी। उसने जो कुछ बताया, वह इतना हास्यप्रद और नाटकीय था कि क्या बताऊँ।

उसका कहना था—“नगर के बाहर निकलते ही आपके मित्र ने प्रश्न करने शुरू कर दिए—‘क्या आपके यहाँ ब्राह्मण को बिदाई देने की परंपरा नहीं है?’”

“मुझे हँसी आ गई। नगर के बाहर निकलते ही आपके मित्र को अभाव ने ग्रसना शुरू कर दिया।”

तब मैंने छंदक से पूछा, “फिर तुमने क्या कहा?”

“मैंने कहा, ‘ब्राह्मण को बिदाई देने की परंपरा तो है ही।’ इतना सुनकर सुदामा चुप ही रहा। मैं उसके मन की बात समझ गया। मैंने कहा, ‘पर आप तो द्वारकाधीश के लिए ब्राह्मण नहीं वरन् अंतरंग मित्र थे। उन्होंने आपको मित्र

की तरह ही बिदा किया। देखा नहीं, वे कैसे भावविभोर थे! पैदल दौड़ते हुए नगर द्वार तक चले आए थे। उनकी आँखें बराबर रिसती चली जा रही थीं।’

“सुदामा चुप ही था। मैं कहता जा रहा था—‘आप जब आए थे तो ब्राह्मण की तरह आए भी नहीं थे। उनके एक अंतरंग मित्र की तरह आए थे। एक मित्र की तरह उनको देने के लिए भाभी ने भेंट भी दी थी।’

“इसपर सुदामा गंभीर हो गया। बहुत देर तक चुप था। थोड़ी देर बाद बड़े टूटे मन से बोला, ‘तुम अपने मित्र के बड़े योग्य सहायक हो।’ ”

छंदक के इस कथन पर मुझे फिर हँसी आई। मैंने उससे हँसते हुए पूछा, “तुमने उसे कुछ बताया नहीं?”

“कैसे बताता! आपने तो मना किया था।” छंदक बोला, “फिर इस रहस्य को मैंने भी न तोड़ने का मन बना लिया था। मुझे भीतर-ही-भीतर मजा आने लगा था। इसके लिए मैंने एक योजना बनाई।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम भी मेरे मित्र के अभाव की अनुभूति का आनंद लेने लग गए।” मैंने कहा।

“मैं उसकी उस मनःस्थिति की प्रतिक्रिया देखना चाहता था, जो अप्रत्याशित रूप से सबकुछ बदला देखकर व्यक्त होती।”

मुझे फिर हँसी आ गई।

“तुमने कहा कि मैंने इसके लिए योजना बनाई?” मैंने पूछा।

“हाँ, बनाई न!” छंदक बोला, “नवनिर्मित सुदामापुरी क्षेत्र के पहले पड़ने वाले अरण्य में मैं रुक गया। वहीं एक जलाशय के किनारे एक शिव मंदिर था—टूटा-फूटा, जीर्ण-शीर्ण; जैसे उसपर किसीका ध्यान ही न गया हो। मैं वहीं रुक गया। मैंने आपके मित्र से क्षमा माँगते हुए कहा, ‘इस अरण्य के बाद ही आपका क्षेत्र आ जाएगा।’ उसने बड़े विश्वास के साथ कहा, ‘हाँ, जानता हूँ।’

“‘तब तो कोई समस्या नहीं।’ मैंने कहा, ‘मुझे इस मंदिर में पूजन-अर्चन करने की अनुमति दें।’ ”

अब छंदक ने मेरी ओर देखकर मुसकराते हुए कहा, “तब आपका मित्र मुझे देखता ही रह गया और टूटे हुए मन से बोला, ‘इसका तात्पर्य है कि आप मेरी झोंपड़ी तक नहीं चलेंगे!...एक दृष्टि से यह अच्छा ही है।’

“‘क्यों?’ मैंने पूछा।

“‘शायद मेरी मड़ैया आपके स्वागत योग्य न हो।’ सुदामा ने कहा।

“‘आप क्या बात करते हैं!’ मैं बोला, ‘मैं इतना भाग्यवान् हूँ कि जिस स्थान पर जाता हूँ, उस स्थान में मेरे स्वागत का सामर्थ्य स्वयं आ जाता है।’ इतने पर भी आपके मित्र की सहज प्रकृति कुछ भी सोचने-समझने या अनुमान लगाने के लिए तैयार न थी वरन् अपने ही विचारों में डूबी रही—और ऐसी बात उसने कही, जिसका पूर्व अनुमान मुझे नहीं था।”

“क्या कहा मेरे मित्र ने?”

“कहा कि ‘मैंने कन्हैया को जाड़े की उस भयानक बरसाती रात में चने खाने को नहीं दिए थे। झूठ बोलकर और छिपाकर सब खा गया था। शायद आज कुछ न देकर उसने उसी समय की कसर निकाली है।...फिर भी मित्र तो है ही। कभी-न-कभी कृपा तो करेगा ही।’ ”

मेरा हृदय पिघल गया। मेरे मुँह से स्वतः निकल पड़ा—“दरिद्रता से सताए व्यक्ति की अंतःपीड़ा थी यह, जो हजार छिपाने पर भी उघड़ गई। फिर क्या हुआ?”

“सुदामा को दारुक ले गया। मैंने उसे आश्वस्त किया कि चार-पाँच घड़ी बाद मैं आ रहा हूँ। तुमसे मिले बिना नहीं जाऊँगा; पर वह कुछ नहीं बोला। यह भी नहीं पूछा कि आप कैसे आएँगे? जाकर यह रथ भेज दूँ, या क्या करूँ?”

कुछ भी नहीं।”

बात इस मोड़ पर चली आई थी कि छंदक सुनाता गया और मैं सुनता गया।

पाँच-छह घड़ी बाद पहुँचने पर छंदक ने जो सुनाया, वह अद्भुत था। छंदक बोलता गया—“पहले तो आपके मित्र को लगा, किसी दूसरे नगर में आ गया हूँ। उसने दारुक से कहा, ‘हम लोग मार्ग तो नहीं भटक गए हैं? यह तो भव्य नगर है; पर हमारा तो गाँव था। इसी पहाड़ी पाद से पूरा गाँव दिखाई देता था। ऐसा तो नहीं कि हमारे न रहने पर गाँव पर किसी राजा का आक्रमण हुआ हो? उसने यहाँ के लोगों को मारकर भगा दिया हो और अपनी नगरी बसा दी हो? मेरी पैंडाइन का क्या हुआ होगा?’

“दारुक का कहना था कि इतना सोचते-सोचते वह एकदम घबरा गया था। तरह-तरह की आशंकाओं से घिरा वह बराबर बड़बड़ाता रहा—‘उसने बार-बार कहा था, पर द्वारका जाने को मेरा मन तैयार नहीं हो रहा था। मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं थी; पर वह अपने हठ पर अड़ी रही और उसका फल भी उसने भोग लिया। पता नहीं, वह कहाँ होगी और किस स्थिति में होगी!’ इतना कहकर वह सिसक-सिसककर रोने लगा।”

छंदक ने बताया—“दारुक का कहना था कि उसकी तो विचित्र स्थिति हो गई। वह तो कुछ जानता ही नहीं था कि बात क्या है। उसने सुदामा को ढाढ़स बँधाना चाहा—‘आप घबराते क्यों हैं? वास्तविकता क्या है, इसका पता न आपको है और न मुझे है। आगे तो चलिए।’

“‘अब आगे चलकर क्या होगा! मैं तो लुट चुका हूँ, दारुक!’ इतना कहते-कहते सुदामा फूट-फूटकर रोने लगा। दारुक रथ बढ़ाता चला गया। नगर में प्रवेश करते-करते सुदामा को पहचाननेवाले मिलते गए। वे उसका अभिवादन भी करते; पर सुदामा अपने में ही खोया था। दारुक का कहना था कि अब तक वह बहुत कुछ जान गया था। उसने सुदामा से कहा, ‘महाराज, यही सुदामापुरी है।’

“‘मेरे नाम की कोई पुरी तो थी नहीं, जरूर इसमें कहीं धोखा है।’ सुदामा बोला। उसकी आँखों पर व्यग्रता का ऐसा पट पड़ा था कि यथार्थ दिखाई नहीं दे रहा था। उसकी आशंका ही उसके समक्ष साकार थी—‘अवश्य ही मेरे साथ कोई षड्यंत्र किया गया है। लोग मेरा राजाओं जैसा स्वागत कर रहे हैं। लगता है, उन्हें भ्रम हो रहा है। कन्हैया ठीक कह रहा था कि मैं तुम्हारी पहचान मिटाकर ही रहूँगा। अवश्य ही वह इसमें सफल हो गया। मेरी हड्डियों पर मांसलता बढ़ गई है। उसपर उसने राजसी वस्त्र भी पहना दिए। अवश्य ही मैं लोगों को राजा लग रहा होऊँगा। लोग भ्रम में नहीं पड़ेंगे तो क्या करेंगे! ऐसी स्थिति में छंदक ने भी साथ छोड़ दिया। यह उसीका षड्यंत्र तो नहीं?’ दारुक ने बताया कि एक स्थिति तो ऐसी आई कि सुदामाजी बड़बड़ाते-बड़बड़ाते जोर से चिल्ला पड़े—‘अरे, मैं राजा नहीं हूँ! मैं वही सुदामा पांडे हूँ—दरिद्र ब्राह्मण। मुझे पहचानने की कोशिश करो।’

“कई बार उसने ऐसा कहा। लोग मुसकराते हुए रथ के चारों ओर एकत्र होने लगे। विक्षिप्तों-सा बार-बार वह इसी बात को दुहराता रहा।

“अजीब स्थिति थी। कोई हँसता, कोई मुसकराता तो कोई उसकी चेतना को झकझोरने के लिए कहता—‘मैं पहचानता हूँ। आप सुदामा पांडे ही हैं।’

“‘मुझे मूर्ख मत बनाओ। मेरा मजाक मत उड़ाओ। यह वेश मैं नहीं हूँ। मैं वही सुदामा पांडे हूँ।’ दारुक ने बताया कि उसका रथ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, सुदामा और बड़बड़ाता गया। यहाँ तक कि अपने भवन के समीप पहुँचकर वह एकदम सकपकाया-सा दिखाई पड़ा। उस समय उसकी आँखों में बाढ़ आ गई थी। उसे यही लग रहा था कि यहीं कहीं मेरी झोंपड़ी थी। उसे उजाड़कर किसी सामंत या राजा ने अपना भवन बनवा लिया है।

“अंत में दारुक को कहना पड़ा—‘ऊपर अलिंद में खड़ी एक स्त्री दूर से लगातार आपको देख रही है। वह

आपकी पत्नी तो नहीं?’

“इतना सुनते ही सुदामाजी एकदम दारुक पर उबल पड़े—‘तुम भी मुझे मूर्ख बनाने लगे! वह भला मेरी पत्नी हो सकती है! वह कहाँ झोंपड़ी में रहनेवाली, मैले-कुचैले वस्त्र पहननेवाली और कहाँ यह अलंकारों से सुशोभित महलवासिनी!’ ”

छंदक का कहना था—“इसी समय मैं पहुँच गया। मैंने देखा कि आपका प्रिय मित्र लगभग विक्षिप्त हो गया है। वह मुझे देखते ही रथ से जैसे कूद पड़ा और मुझसे लिपटकर रोने लगा—‘अब तुम आ गए, छंदक! मैं तो बरबाद हो चुका हूँ!’

“तब तक ऊपर से उतरकर उसकी पत्नी भी आ गई थी। वह उसके चरणों पर गिर पड़ी। उसने सुदामा का कुशलक्षेम भी पूछा। कई बार उसके लिए ‘स्वामी’ शब्द का प्रयोग भी किया; पर सुदामा का मानसिक संतुलन इतना गड़बड़ा गया था कि वह उसे पहचान नहीं पा रहा था।

“जब लोगों ने बार-बार उसे झकझोरा तो वह गंभीर रूप से मौन हो अपनी पत्नी को देखता रहा और बाद में सहमा-सहमा बोला, ‘मेरी वह पैंड़ाइन आपकी ही तरह थी। विपत्ति की मारी वह इस समय कहाँ होगी?’ उसकी आँखें फिर डबडबा आईं।

“‘वह यही है, स्वामी, आपके सामने खड़ी है।’ अपने पति की यह स्थिति देखकर उसकी भी आँखों में आँसू आ गए।”

“इसका मतलब है कि मेरा मित्र अपना मानसिक संतुलन एकदम खो बैठा था!” मैंने कहा।

“क्यों नहीं खोता!” छंदक बोला, “अचानक और अप्रत्याशित एक दरिद्र को कुबेर का भंडार जो मिल गया था।” मैं उसकी बात सुनकर गंभीर हो गया। पता नहीं क्यों, उसकी यह उपमा मुझे अच्छी नहीं लगी; पर वह अपनी बुद्धि के अनुसार इससे अच्छी दूसरी उपमा दे नहीं सकता था।

“क्या सोचने लगे आप?” छंदक बोला।

“सोच रहा हूँ कि अपनी काल्पनिक आशंका से ही सुदामा कितना डर गया था! वह अपनी पत्नी को पहचानते हुए भी नहीं पहचान रहा था। द्विविधा उसे घेरे थी। इसीलिए वह अपनी पत्नी को सीधे-सीधे ‘पत्नी’ कहने से हिचकिचाया। उसने ‘पत्नी’ कहा और कहीं वह दूसरे की पत्नी निकल गई, तब तो लेने के देने पड़ जाएँगे। इसीलिए उसने कहा, मेरी वह पत्नी तुम्हारी ही तरह थी।”

मैं इस स्थिति पर जितना सोचता उतनी हँसी आती। छंदक भी मेरे साथ हँसता रहा।

पर मेरी यह हँसी बहुत देर तक ठहर न सकी। हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के संबंध में बराबर बनी रही मेरी घबराहट ने उस हँसी को बहुत देर तक रहने नहीं दिया।



तीन

संघर्ष! संघर्ष! संघर्ष! जब से पैदा हुआ तभी से संघर्ष मेरे पीछे लग गया; क्योंकि वह मेरे जन्म के पहले ही पैदा हो गया था। जीवन का वही साथी बना। एक दिन भी मैं उससे मुक्त हो नहीं पाया। छंदक कहता है, यदि चिंता और संघर्ष से मुक्त होना होता तो आपका जन्म निरर्थक होता। निष्प्रयोजन संसार में कुछ नहीं होता। शायद मेरा जन्म भी किसी प्रयोजन के निमित्त हो।

यह विचार बराबर मेरे मन में आता रहा। इसीसे मुझे समस्याओं से जूझने में शक्ति भी मिलती रही और संतोष भी। और क्या कहूँ समस्याओं के विषय में? एक खत्म नहीं होती और दूसरी आ धमकती है।

अभी मैं पांडवों के विषय में ही चिंतित था। क्योंकि मैंने जो कुछ देखा था, वह एक अंश था अपने विकराल स्वरूप का। आखिर यह स्थिति क्यों आई? अब पांडव किस स्थिति में हैं? कौरवों का द्वेष और वैरभाव किस सीमा तक पांडवों को घेर बैठा है? यह सब मैं कुछ नहीं जानता था। कल्पना में जो परिस्थिति उभरती थी, वह अस्पष्ट होते हुए भी भयावह थी। मैं यह भी नहीं जानता था कि द्वारका के और लोग भी उस स्थिति से अवगत हैं या नहीं। इसीसे मैं किसीके सामने खुलता नहीं था। केवल भीतर-ही-भीतर घुटता था।

मेरी चिंता का एक पक्ष और था कि इतनी बड़ी बात हो गई, फिर भी पांडवों ने मुझे अवगत नहीं कराया। अरे, उनका कोई भाई, उनका कोई अमात्य, उनका कोई साथी—कोई भी तो समाचार दे ही सकता था; पर किसीने ऐसा नहीं किया। आखिर रहस्य क्या है? सबकुछ जानने के लिए मैंने एक अमात्य सुव्रत को भेजा था और उससे कहा था कि जो कुछ जानकारी प्राप्त करना, सीधे मुझसे कहना। पर वह भी अभी तक लौटा नहीं था।

इसी बीच एक घटना घट गई।

पाँच-छह दिनों से प्रद्युम्न का कहीं कोई पता नहीं था। बहुधा वह आखेट में दूर निकल जाता था, फिर दो-तीन दिनों में चला आता था; पर इस बार छह दिन हो गए। चिंता बढ़ी। सबसे ज्यादा चिंतित रुक्मिणी थी। पहले तो उसे समझा दिया कि कहीं दूर निकल गया होगा, आ जाएगा; पर इसी तरह प्रतीक्षा में कई दिन और निकल गए। अब मेरी भी व्यग्रता बढ़ी। मैंने तुरंत गुप्तचर विभाग को लगाया और आदेश दिया कि प्रतिदिन का समाचार देते रहना।

दूसरे दिन ज्ञात हुआ कि प्रद्युम्न अपना रथ भी नहीं ले गया है। वह अकेला गया है या उसके साथ और लोग भी हैं, यह पता नहीं चला। गुप्तचर विभाग के अधिकारी ने कहा कि इसकी गहरी छानबीन की जा रही है।

धीरे-धीरे चिंता का दायरा बढ़ा और वह गंभीर होती गई। लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि कहीं-न-कहीं उसका अपहरण हुआ है। अब रुक्मिणी की व्यग्रता और बढ़ी। उसका सोचना था कि यह किसी अप्सरा का कुकृत्य है; क्योंकि प्रद्युम्न अद्भुत सुंदर था। जो कोई उसे देखता, काम देवता का अवतार कहता। उसकी अवस्था भी बीस वर्ष के पार थी।

व्यग्र तो मैं भी था, पर भीतर-ही-भीतर। अमात्य मंडल द्वारा अपहरण के अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने पर भी मैं शांत और प्रकृतिस्थ था। यदि मैं भी व्यग्र दीखता तो संपूर्ण द्वारका व्यग्र हो जाती और रुक्मिणी का बुरा हाल होता। अतएव मैं शांत ज्वालामुखी की तरह भीतर से धधकता हुआ भी ऊपर हरियाली ओढ़े रहा। जब कोई उसके संबंध में व्यग्रता व्यक्त करता तब मैं बड़े सहजभाव से कहता कि आजकल के लड़कों को तो आप लोग जानते ही हैं।

जितने लोग, उनके उतने अनुमान। भैया का सोचना था कि अपहरण के पीछे उस दुष्ट शाल्व का हाथ है। तुमने उसे जीवित छोड़कर बहुत बुरा किया।

नानाजी बहुत दुःखी थे। लगभग ज्योति खो चुकी बूढ़ी आँखें दिन-रात पसीजती रहती थीं। उनका कहना था—“प्रद्युम्न के जीवन के साथ भी कोई कंस लगा है। तुम्हें याद होगा, बचपन में किसीने उसे उठाकर समुद्र में फेंक दिया था। यह तो कहो कि एक मछुए के जाल में फँसकर वह निकल आया। तब वह इतना छोटा था कि कुछ भी बता नहीं पाया।”

उस समय की घटना पर विचार करते हुए मैंने कहा, “यह भी हो सकता है, वह खेलते-खेलते स्वयं सिंधुतट पर चला गया हो और लहरों उसे खींच ले गई हों।”

इतना सुनना था कि नानाजी एकदम भड़क उठे—“कभी-कभी तुम बच्चों से भी नादान लगते हो! क्या कोई राजपरिवार का बच्चा समुद्रतट पर चला जाएगा और उसपर किसीकी दृष्टि न पड़े; जबकि समुद्रतट पर रात-दिन पहरा भी रहा करता है!”

वे बड़े आवेश में थे। यों भी उनके प्रति मेरा आदरभाव उनसे विवाद करने की मुझे अनुमति नहीं देता था। उस समय भी मैं चुप ही रह गया।

वे बोलते गए—“तुम बड़ी जल्दी ही सब भूल जाते हो। मुझे याद है, उसके दूसरे या तीसरे ही दिन तुमने तटरक्षकों की एक बड़ी समिति बुलाई थी। उन्हें बड़ी डाँट-फटकार पड़ी थी। तब गहन पड़ताल हुई और पता चला कि एक सुंदर सा बच्चा किसी मछुआरे के जाल में फँसकर आता दिखाई दिया था। तब उस मछुआरे की खोज आरंभ हुई थी।”

मुझे तो सारी बातें याद ही थीं। मैंने उन्हें शांत करते हुए कहा, “हाँ, नानाजी, मुझे सब याद हो आया। मैं फिर से सघन जाँच के निर्देश देता हूँ।”

यह कहकर मैं नानाजी के यहाँ से चल पड़ा। मार्ग में सोचता रहा कि उस समय भी बड़ी विचित्र स्थिति हो गई थी, जब वह मछुआरा पकड़कर लाया गया था और जाल में जीवित बच्चा फँसकर आने की बात स्वीकार की; पर साथ ही उसने यह भी कहा, ‘पर वह बच्चा अब मेरे पास नहीं है।’

‘फिर कहाँ गया?’

बच्चा कहाँ गया, यह बताने के लिए वह जल्दी तैयार नहीं हो रहा था। पहले उसने आनाकानी की। बड़े बहाने बनाए। जब उसे विश्वास हो गया कि अब वह किसी तरह बच नहीं सकता तब उसने अत्यंत गिड़गिड़ाते हुए कहा था—‘न बताऊँ तो आप प्राण ले लेंगे और बताऊँ तो दूसरे लोग।’ लगभग रुआँसा होकर वह बोलता गया—‘मेरे प्राण तो दोनों ओर से संकट में हैं।’

‘उनमें से एक तुम्हें चुनना होगा।’ मेरे प्रहरियों में से एक तड़पा।

‘यदि आपका बच्चा आपको वापस मिल जाए तो?’

‘तो तुम पुरस्कृत होगे।’

‘तब आप लोग मेरे साथ चलें।’ इसके बाद मछुआरा उन प्रहरियों को लेकर चला गया।

द्वारका ने इतनी बड़ी राजनीतिक भूल कभी नहीं की थी; क्योंकि हमारे यहाँ के सैनिक और गुप्तचर विभाग ने यह जानने की बिल्कुल चेष्टा नहीं की थी कि वह उन सैनिकों को लेकर किस ओर गया।

दिन बीता, रात बीती; पर किसीको पता नहीं कि वे सैनिक किधर गए। मछुआरा उन्हें कहाँ ले गया। पूरा परिवार व्यग्र हो उठा। पूरी द्वारका चिंतित हो उठी।

अब हर व्यक्ति का सोच एक ही बात पर केंद्रित था कि यदि बालक जीवित होगा तो अब उसके जीवन पर भी खतरा आ जाएगा। उन सैनिकों की सुरक्षा भी खतरे में होगी। अब क्या किया जाए? कोई मार्ग दिखाई दे नहीं रहा

था। उस समय भी रुक्मिणी की दशा बड़ी खराब हो गई थी। वह रह-रहकर चेतनाशून्य हो जाती थी। और जब चेतना में लौटती थी तो प्रद्युम्न के लिए छटपटाने लगती थी।

एक-दो दिनों तक तो अनिश्चितता, भय और आशंकाओं ने पूरी नगरी का गला दबोच रखा था। सन्नाटे में हमारा सोच डूबता-उतराता रहा। हमें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था कि तीसरे दिन बड़े नाटकीय ढंग से बालक प्रद्युम्न मिला।

तीसरे दिन की आधी रात को अचानक एक प्रहरी को लहरों पर खेलती हुई एक नौका दिखाई दी। उसने यह भी देखा कि उस नाव को छोड़कर एक बड़ी नाव भाग रही है। अमा निशीथ। घने-काले अंधकार के नीचे गरजता सिंधु। तुरंत लोगों के मस्तिष्क में आया कि किसी जल दस्यु का करतब है यह। कुछ हो सकता है। आसपास के प्रहरी भी आ गए। घंटे और शंख बजाकर तट की सुरक्षा के संकेत दिए गए। ज्योति स्तंभों का प्रकाश तेज किया गया। अविलंब कुछ नावें लेकर तट सैनिक उस छोटी नाव की ओर लपके। निकट जाकर देखा, उसमें एक बालक सो रहा है। वह कोई और नहीं, प्रद्युम्न ही है।

फिर क्या था, निशीथ में ही पूरी द्वारका जाग उठी। जो अब भी सो रहे थे, उन्हें इस कोलाहल ने झकझोर-झकझोरकर जगा दिया।

अमा के काले अंधकार ने प्रद्युम्न को उगल दिया। कभी ऐसे ही काले अंधकार ने मुझे भी उगला था। हर सूर्य को ऐसा ही अंधकार उगलता है। मैं सोचने लगा, पर वह कहानी यहीं खत्म नहीं हुई।

न वह भागती नाव मिली और न वह मछुआरा पकड़ा जा सका। बड़ी खोज की गई; पर सब व्यर्थ। प्रद्युम्न तो छोटा बच्चा था। कुछ भी बता पाने में असमर्थ। हमने अपने साथियों के यहाँ गुप्तचर भी भेजे; पर कुछ हाथ न लगा। रहस्य रहस्य बना रह गया।

अब लगभग बीस वर्ष बाद उसके फिर अचानक लुप्त होने को लोग उसी पिछली घटना से जोड़ रहे थे; क्योंकि उसका कहीं अता-पता नहीं था। लोगों का व्यग्र होना स्वाभाविक था। नानाजी की भी आशंका निर्मूल नहीं थी कि तुम्हारी ही तरह उसका भी जीवन है। किसी कंस की काली छाया उसपर बराबर पड़ रही है।

“अगर यही बात है, तो देखिएगा कि वह भी किसीके मारे नहीं मरेगा; वरन् मेरी तरह वह विरोधियों का संहार कर किसी-न-किसी दिन अवश्य अवतीर्ण होगा।”

रुक्मिणी तो मेरे इस तरह के उत्तर पर एकदम चिढ़-सी गई—“तुम बाप हो न, यदि माँ होते तो मेरी व्यथा समझ सकते।”

“माँ होता कैसे!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यदि तुम्हारी तरह मैं भी उसकी माँ होता, तब तो वह पैदा ही न होता।”

रुक्मिणी इसपर एकदम खीज उठी और मैं हँसता हुआ चला आया। ऐसी गंभीर स्थिति में मेरे इस तरह के परिहास को कुछ लोग मेरी लापरवाही समझते थे—जैसा मुझे नहीं होना चाहिए था—और कुछ लोग इसे मेरी लीला से भी जोड़ते थे। सोचते थे कि इसके भी पीछे मेरा कोई रहस्य है। मेरे माता-पिता इसी दृष्टिकोण के थे; पर नानाजी नहीं थे। उनका सोचना पहले प्रकार का था। वे मुझपर काफी नाराज थे।

मुझपर कुछ-न-कुछ करने का अत्यधिक दबाव भी था। पर मैं करूँ भी तो क्या करूँ? किंकर्तव्यविमूढ़ था, ऊपर से निश्चितता ओढ़े हुए।

रुक्मिणी के उलाहने पर उलाहने सुनता रहा—“द्रौपदी की पुकार पर योगसाधना से उसके पास पहुँच सकते थे, पर उसी साधना से अपने पुत्र के पास नहीं पहुँच सकते?”

“क्यों नहीं पहुँच सकता, यदि वैसी ही पुकार उसकी भी हो!” मैंने उसे समझाया—“कई बार प्रयास किया और अपने निष्कर्ष के अनुसार यही कह सकता हूँ कि वह जहाँ है, प्रसन्न है।”

फिर भी वह मेरी बात माननेवाली थोड़े ही थी।

मैं प्रासाद में था। अचानक कुतूहल और अवसादपूर्ण अप्रसन्नता ग्रहण-मुक्त हुई। किसी ओर से सुनाई पड़ा, प्रद्युम्न आ रहा है। जैसे मरुभूमि में कोई झरना फूटा हो, जैसे सूखते वृक्ष में अचानक फल आ गया हो। सारी द्वारका खुशी से नाच उठी।

आया भी तो बड़ी शान के साथ। कई रथ और सैनिक साथ में थे। विजयी योद्धा की तरह। सभी प्रसन्न और संतुष्ट थे; पर किसीको उसने कुछ बताया नहीं। बहुतों से तो कुछ बोला तक नहीं। घरवालों ने जब पूछा कि बात क्या थी? कहाँ चले गए थे? हम लोगों को तुम्हारे अपहरण किए जाने की आशंका थी। तब उसने दबी जबान से कहा, “किया तो गया था अपहरण ही।”

“तब तुमने किसी तरह हम लोगों को सूचना क्यों नहीं भिजवाई?” यह उसकी माँ रुक्मिणी ने पूछा।

यहाँ यह बात जान लेने की है कि उसका संपर्क उसकी माँ से ही अधिक था। मेरी-उसकी दूरी तो अंत तक बनी रही। इसीसे उसमें और उसकी माँ में आत्मीयता भी अधिक थी और उसकी उसके प्रति आकांक्षा भी अधिक थी।

उसने माँ के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, “पहले तो मैं सूचना दे पाने की स्थिति में नहीं था और जब स्थिति में आया तो सोचा कि पूरी सूचना मैं ही चलकर दूँगा; क्योंकि अपनी सफलता की शुभ सूचना, वह भी अपनी माँ को स्वयं देना चाहिए।” इतना कहते हुए उसने अपनी माँ के गले में माला की तरह अपनी भुजाएँ डाल दीं। मैं चुपचाप वहाँ से हटकर बगल के कक्ष में चला गया।

कुछ समय तक गुड़चूँ-गुड़चूँ होता रहा। फिर अचानक रुक्मिणी की तेज आवाज सुनाई पड़ी—“तुमने हम लोगों की अनुमति के बिना यह कार्य किया। निकल जा यहाँ से!”

ध्वनि से स्पष्ट लगा कि रुक्मिणी क्रोध में आपे से बाहर है। मैं दौड़कर आया, तब मालूम हुआ कि राजा शंबर ने उसका अपहरण किया था। कुछ दिनों तक प्रद्युम्न उसका बंदी था। किसी तरह मुक्त हुआ तो उसने शंबर की हत्या कर दी और उसकी पत्नी मायावती से विवाह कर लिया। इसी पर रुक्मिणी आगबबूला हो गई।

उसका कहना था—“विवाह तो जीवन का एक महत्वपूर्ण संस्कार है। इतना बड़ा काम कर लिया और हमें सूचना तक नहीं दी! मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहती। इससे कहिए कि यह मेरी आँखों से अभी ओझल हो जाए।”

मुझे हँसी आ गई। उसी हँसी के बीच मैं बोला, “शायद हम अपना विवाह भूल गए हैं। क्या हम लोगों ने अपने माता-पिता से अनुमति ली थी? क्या उन्हें कोई सूचना दी थी? वृक्ष जैसा होगा, उसका बीज वैसा ही होगा न!”

इसपर रुक्मिणी और भभक उठी—“आपको तो इसको भूल बतानी चाहिए, इसे समझाना चाहिए—और न माने तो इसे दंडित करना चाहिए। आप तो इसे सिर चढ़ा रहे हैं। और हमारे व इसके कृत्यों की तुलना क्या! आपने तो कन्या का हरण किया था। वह कन्या भी वय में आपसे छोटी थी। इसने तो एक राक्षस की पत्नी का हरण किया है। वह भी अवस्था में कम-से-कम इससे दस वर्ष बड़ी है। और आप इसका समर्थन कर रहे हैं!”

मैं चुप रह गया। मैंने देखा कि क्रोध में रुक्मिणी काँप रही है। मुझे लगा कि उसने प्रद्युम्न के संबंध में बड़े-बड़े स्वप्न देखे थे, जो अचानक चूर हो गए।

अपने पुत्र को प्राणों से भी अधिक माननेवाली माँ की ममता घायल हो गई थी। आक्रोश में जलती रुक्मिणी चीख उठी—“इसे अभी मेरी आँखों के सामने से हटा ले जाइए! मैं इसे देखना तक नहीं चाहती।”

मैंने कभी रुक्मिणी को इतने क्रोध में नहीं देखा था। उसपर जैसे कराला काली सवार हो गई थी। मेरी अन्य पत्नियाँ भी उसके इस रूप को देखकर चकित थीं। मैं प्रद्युम्न को लेकर कक्ष से बाहर निकल आया।

दोपहर हो गई थी। मैंने उससे कहा, “पहले स्नानादि से निवृत्त हो भोजन करो। फिर मेरे ही कक्ष में विश्राम करो। शाम को बातें होंगी।” मैंने उसे सावधान भी किया—“अब द्वार बंद कर लो, न किसीसे मिलना और न बातें करना।”

मैं भी नहीं चाहता था कि जब तक वस्तुस्थिति जान न ली जाए तब तक विवाह की बात कहीं फूटे। इस संबंध में मैंने रुक्मिणी को भी सचेत किया। पर माँ-बेटे के बीच तनाव की बात तुरंत फैल गई। क्या बात है कि जो माँ बेटे के लिए इतनी व्याकुल थी, वही उसको देखते ही आगबबूला हो गई। बेटे के आगमन पर राजभवन खुलकर किसी प्रकार की खुशी न मना सका। एक विचित्र प्रकार के तनाव ने जन्म लिया। एक ओर द्वारका की प्रसन्नता थी तो दूसरी ओर द्वारका का आक्रोश।

संध्या को एकांतवार्ता के लिए मैं प्रद्युम्न को लेकर प्रमोद उद्यान चला आया। मेरा विचार था कि प्रद्युम्न अब बच्चा नहीं रहा। वय भी बीस के पार है। उसे न तो शारीरिक रूप से दबाया जा सकता है और न मानसिक रूप से। मैंने मित्रवत् बातें आरंभ कीं। साफ-साफ कहा, “तुमने विवाह करके कोई अपराध नहीं किया है।”

“यही तो मैं सोचता हूँ।” प्रद्युम्न बोला, “कभी-कभी परिस्थिति ऐसी आ जाती है कि हमें वह करना पड़ता है, जिसे हम करना नहीं चाहते। क्या आपको इसका अनुभव नहीं है?”

मैंने अनुभव किया कि प्रद्युम्न का सीधा प्रहार मुझपर है। वह सीधे-सीधे तो नहीं कह पाया कि आपने भी तो ऐसा ही किया था; पर वह यही बात बड़ी चतुराई से कह गया। मुझे हँसी आ गई।

“फिर माँ इतनी अप्रसन्न क्यों हैं?” उसने पूछा।

“अप्रसन्नता का कारण तो स्पष्ट है। तुम्हारा विवाह पहले ही हो चुका है और तुम यह भी जानते हो कि वह कौन है!”

प्रद्युम्न का मौन स्वीकृति के लिए पर्याप्त था। उसकी आकृति पर अपराधबोध की गंभीरता भी दिखाई पड़ी।

मैंने इस गंभीरता पर एक परत और चढ़ाई—“यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारी पत्नी शुभांगी तुम्हारे मामा की बेटी है। क्या कोई भी बहन यह चाहेगी कि मेरे भाई की लड़की उपपत्नी बने और वह भी उसका पुत्र चुपचाप बिना किसीको कोई सूचना दिए उसके रहते दूसरी पत्नी ले आए। फिर उसने जब यह सुना कि वह असुर कन्या है, तब तो उसका अप्रसन्न होना और भी स्वाभाविक है।”

वह इसका भी उत्तर दे सकता था; क्योंकि सुभद्रा-हरण के समय वह नादान बच्चा नहीं था। फिर भी वह मौन ही रह गया। मेरी गंभीर आवाज उसपर भारी पड़ रही थी। फिर उसमें और मुझमें वह निकटता नहीं थी, जो एक पिता और पुत्र में होनी चाहिए। यह दूरी प्रकृति ने ही बना रखी थी। इसमें संयोग की कुछ विचित्र भूमिका रही। शायद इसीलिए मेरे कहने पर उसका साहस आवश्यकता से अधिक डगमगाया।

“तुम तो यह जानते ही हो कि असुरों की संस्कृति हमारी संस्कृति से मेल नहीं खाती। जब संस्कृति एक नहीं तब संस्कार भी एक कैसे हो सकते हैं?”

“यह ठीक है कि उसकी जीवन-पद्धति मेरी जीवन-पद्धति से भिन्न है।” उसने दबते-दबते ही कहा, “पर पिताजी, वह असुर होकर भी असुर नहीं है।”

“यह तो तुम दोनों बातें एक साथ कह रहे हो।” मैंने कहा, “फिर वय में भी तो वह तुमसे बहुत अधिक है।”

“दोनों बातें एक साथ हैं, इसलिए एक साथ कह रहा हूँ।” उसने अपना थोड़ा साहस और बटोरा—“वय में तो

जितना आप समझते हैं, हो सकता है कि वह उससे भी बड़ी हो; पर वह देखने में बड़ी नहीं लगती।”

“तुम तो एकदम पहेली बुझा रहे हो।” मुझे फिर हँसी आ गई। मैंने कहा, “रहस्य को और रहस्य बनाते जा रहे हो। अब तुम मेरे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दो।”

मेरा पहला प्रश्न था—“तुमने उससे विवाह क्यों किया?”

“मैंने उससे विवाह नहीं किया, उसने ही मुझसे विवाह किया।” वह बोला, “यदि मैं उसे स्वीकार न करता तो शायद मेरे जीवन की रक्षा न हो पाती। फिर भी मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने अपनी जीवनरक्षा के लिए ही विवाह नहीं किया।”

“तब क्यों किया?”

“क्योंकि मेरा विवाह मेरे जन्म के पूर्व ही हो चुका था।”

उसके इस कथन पर मैं अवाक् रह गया। अवश्य ही यह किसी रहस्य में उलझा दिया गया है। अब मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। मैंने उसे निर्भयतापूर्वक सबकुछ बता देने के लिए आश्वस्त करते हुए कहा, “सारी बातें सहजभाव से जान लेने के बाद ही कोई मार्ग निकाला जा सकता है।”

अब उसने जो कुछ बताया, वह नितांत रहस्यमय और आश्चर्यजनक था। उसकी पूरी कहानी इस प्रकार है—

“मैं उस दिन आखेट के चक्कर में बहुत दूर निकल गया था। वस्तुतः मैं श्याम मृग की खोज में था। मुझे अपनी शक्ति और बाहुबल पर भरोसा था। मुझे शंबरसुर के बहुत से सैनिकों ने मार्ग में रोका भी कि यहाँ आप दूसरे के राज्य की सीमा में घुस आए हैं। नियमतः आप यहाँ आखेट नहीं कर सकते। तब मैंने कहा, ‘जानते नहीं हो, मैं द्वारकाधीश का पुत्र हूँ!’

“उस समय तो सैनिक कुछ नहीं बोले; पर लगता है, बाद में उन्होंने अपने महाराज शंबरसुर को इसकी सूचना दी। संध्या को आखेट से लौटते समय सहस्रों सैनिकों द्वारा मेरा अपहरण कर लिया गया।”

मैं मौन था। सिंधु से आता मंद गंधवाह हमारी मानसिकता को सहलाता रहा। प्रद्युम्न अपनी कथा सुनाता रहा—“फिर मैं बंदीगृह में डाल दिया गया। मुझे कुछ नहीं मालूम कि ऐसा मेरे साथ क्यों किया गया। आपके जीवन की तरह एक अदृश्य नियति मेरे जीवन के पीछे भी पड़ी। तीन दिनों बाद मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि दो-एक दिन में मेरी हत्या कर दी जाएगी।”

“यह तुम्हें कैसे पता चला?” मैंने पूछा।

“जो मुझे भोजन देने मेरे बंदीगृह में आते थे, उनमें से एक की अप्रत्याशित कृपा मुझपर हो गई। उसने यह अशुभ सूचना दी। तब मैंने उससे पूछा, ‘जब मेरा वध ही करना है तब दो दिन बाद क्यों? मुझपर कोई वाद तो चलाया नहीं जाएगा। मैं आपके महाराज की प्रजा तो हूँ नहीं। आपके राज्य में अनायास घुस आया एक विदेशी हूँ।’

“‘बात देशी-विदेशी या वाद चलाने की नहीं है।’ इतना कहते-कहते उस प्रहरी को लगा कि दूर खड़े उसके दो साथी उसे बड़े ध्यान से देख रहे हैं। उसने उनकी ओर संकेत किया और फिर भेंट होने की बात कहकर वह चला गया।

“दूसरे दिन सवेरे-सवेरे उस बंदीगृह के एकमात्र गवाक्ष से उसी प्रहरी ने ताका। मुझे गवाक्ष की ओर पीठ किए पड़ा देखकर उसने एक कंकड़ी मुझपर फेंकी। मैंने उधर देखा। उसने गवाक्ष की ओर मुँह सटाकर धीरे से निकट आने के लिए कहा। मैं तुरंत उधर गया।

“उसने बताया—‘लगता है, तुम्हारे ग्रह अनुकूल चल रहे हैं। तुम्हें लेकर महाराज और महारानी में अनबन हो गई है। इसलिए तुम्हारे वध की घड़ी बार-बार टलती जा रही है और शायद हमेशा के लिए भी टल जाए।’ इतना कहकर

उस दिन वह चला गया।”

प्रद्युम्न की कहानी विचित्र और कुतूहलपूर्ण लगी। बिना कोई जिज्ञासा व्यक्त किए मैं ध्यान से उसे सुनता रहा। वह कहता गया—“मैं फिर कारागार के अँधेरे से अधिक अनिश्चितता के अँधेरे में घिरता चला गया। पास खड़ी मौत भी मुझे निहारती रही।

“ठीक उसके दूसरे दिन मध्य रात्रि के घने अँधेरे में बंदीगृह की सीढ़ियों से उतरने की किसीकी आहट लगी। मैं सचेत हो गया। शीघ्र ही मुझे ऐसा लगा कि कोई छाया प्रतिमा मेरी ओर बढ़ रही है। इसका भी आभास हुआ कि वह कोई नारी है। उसके पीछे उसकी दो सेविकाएँ और थीं। वह मेरे बहुत करीब आकर बोली, ‘आप मुझे नहीं पहचान रहे हैं, पर मैं आपको पहचानती हूँ।’

“उसकी आवाज में बड़ी आत्मीयता एवं श्रद्धा का भाव था। मैंने कहा, ‘यदि अंधकार न होता तो मैं भी आपको पहचानने की चेष्टा करता।’

“‘फिर भी आप न पहचान पाते।’ उस अंधकार में भी उसके मुसकराने का आभास लगा। ‘शायद मैं भी आपको न पहचानती, यदि सरस्वती की कृपा न होती।’ फिर वह रहस्यमय ढंग से हँसने लगी।

“‘मैं अवाक् था। मेरी वाणी ने अपनी सारी शक्ति मेरी दृष्टि को दे दी थी। आँखें और गहराई से उसे टटोलने लगीं। उसने अपना पिछला वाक्य फिर दुहराया—‘शायद मैं भी आपको न पहचानती, यदि सरस्वती की कृपा न होती।’

“‘वह ज्यों-ज्यों बोलती जा रही थी, रहस्य और भी घना होता जा रहा था। ‘यह सरस्वती कौन है? उसने मेरे बारे में और क्या बताया? और फिर उसने ऐसी कौन सी बात बताई कि वह मेरे प्रति ऐसी आकर्षित है?’ मैं सोच ही रहा था कि वह बोल पड़ी—‘सूर्योदय के पूर्व ही मैं अपना रथ लेकर आऊँगी। आपको मेरे साथ चलना पड़ेगा।’

“‘कहाँ? वधस्थल की ओर?’ मैंने कहा। राजकीय परंपरा के अनुसार, किसीको वध का दंड देने का सामान्यतः यही समय होता था। शायद इसीलिए इस सोच तक मैं पहुँच गया।

“‘वह एकदम हँस पड़ी। बोली, ‘आप परिहास अच्छा कर लेते हैं।’ फिर उसने बताया—‘आपको सरस्वती मंदिर में चलना है।’

“‘कौन सा सरस्वती मंदिर है? कहाँ है सरस्वती मंदिर?’ मैं कुछ भी नहीं पूछ पाया और वह चली गई। इसके बाद मुझे नींद नहीं आई। झपकियाँ लेते हुए मैं उस स्त्री के पुनः आने की प्रतीक्षा करने लगा।

“मुख्य द्वार के निकट के गवाक्ष से अब कुछ-कुछ प्रकाश आने लगा था। बंदीगृह का अँधेरा धुँधला पड़ गया था कि अचानक मुख्य द्वार खुलने का आभास हुआ। मेरी मानसिकता पहले से ही बन गई थी। मैंने स्वयं को नियति की धारा में बहने देने के लिए तैयार कर लिया था।

“आहट लगते ही मैं बंदीगृह की सीढ़ियों की ओर बढ़ा। एक क्षण के लिए मेरा विश्वास डगमगाया भी—यह सामान्य स्त्री तो नहीं दीखती, कहीं कोई रहस्य तो नहीं। उसी समय मेरे मन में एक दूसरी आवाज उठी। जो भी हो, इसका सामना करो। तुम अपने को पूरी तरह नियति को सौंप चुके हो।”

मैं मौन सुनता रहा। प्रद्युम्न कहता रहा—“पर मेरी आशंका निर्मूल थी। वह स्त्री धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतरती हुई चली आई। वह बंदीगृह धरातल से नीचे था। स्त्री सैनिक वेश में थी। आते ही उसने कहा, ‘बस, उठिए! चलिए।’

“मैंने बाहर आकर उसे देखा और चकित-सा कुछ क्षणों तक उसे देखता ही रहा। सचमुच ऐसी अनिंद्य सुंदरी मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखी थी।” इतना कहते ही प्रद्युम्न एकदम चुप हो गया; जैसे किसीने उसके अधरों पर अँगुली धर दी हो। लज्जा से उसका सिर झुक गया। उसकी चेतना ने उसे झकझोरा था कि वह अपने पिता से बातें कर रहा है। किसी स्त्री पर मोहित होने की बात इतनी भावुकता और आकर्षण के साथ उसे कहनी चाहिए थी? क्या

यह उसकी निर्लज्जता नहीं है? फिर कुछ देर तक प्रद्युम्न मौन ही रहा।

पहले तो मैं चुप ही रहा। फिर उसके मौन का अंतराल लंबा होता देखकर मैं बोल पड़ा—“तो आगे क्या हुआ?”

“उसने मुझे अपने ही रथ पर बैठा लिया। उसके साथ सैनिकों के कई रथ थे। लगता है, राजाज्ञा से उसने ऐसा किया था, या अपने स्वामी की सीधी अवज्ञा पर उतर आई थी।”

“अच्छा! तो अपने स्वामी की उसने तुम्हारे लिए अवज्ञा की!” मेरा इतना कहना था कि प्रद्युम्न और भी लजा गया।

अब मैंने हँसते हुए कहा, “इसमें संकोच क्या! जब पुत्र बीस से अधिक का हो जाता है तब वह पुत्र तो रहता ही है, पिता का मित्र भी हो जाता है। इसलिए जो घटित हुआ हो, उसे निस्संकोच भाव से कहो।”

अब वह आँखें बंद कर कहने लगा; जैसे वह मेरी अनुपस्थिति में या अपनी प्रेयसी की उपस्थिति में बोल रहा हो—“अब भी वह बराबर देखती जा रही थी। उसके इस आकर्षण का मुझपर भी प्रभाव पड़ा। मेरी भी आँखें उसपर चिपकने लगीं।

“‘इतना ध्यान से क्या देख रहे हो?’ उसने मुझसे पूछ ही लिया।

“‘आप क्यों देख रही हैं?’ मैंने कहा।

“‘आप यदि मुझको ‘आप’ न कहकर ‘तुम’ कहिए तो मैं आपको बताऊँ।’ वह बड़े रहस्यमय ढंग से बोली, फिर हँसते-हँसते दोहरी हो गई। मैं आश्चर्य से उसे देखता रह गया।

“‘क्योंकि मैं आपकी पत्नी हूँ।’ उसकी खिलखिलाहट और बढ़ गई। मेरा विस्मय भी बढ़ा। यह मुझे किस मायावी चक्कर में डाल रही है। इसकी माया मुझे किसी मंदिर में ले जाकर बलि चढ़ाने की तो नहीं? मैं तरह-तरह की आशंकाओं से घिरने लगा।

“‘चुप क्यों हो गए आप?’ उसने पूछा।

“‘मैं चकित हूँ कि यह कैसी माया है!’

“‘यही सत्य है। माँ सरस्वती इसकी साक्षी हैं।’

“‘तुम तो असुर पत्नी हो। हमारे देवी-देवताओं में विश्वास करती हो?’

“‘असुर पत्नी अवश्य हूँ, पर आसुरी नहीं हूँ—देववर्णी हूँ।’ उसने कहा।

“‘ज्यों-ज्यों वह अपने बारे में बताती गई त्यों-त्यों वह मुझे रहस्यमय लगती गई। रथ की गति इतनी तीव्र थी कि हम शीघ्र ही सरस्वती नदी के कछार के ढूँहे पर स्थित एक अत्यंत पुराने मंदिर के पास पहुँचे।

“‘दिन का प्रथम प्रहर चल रहा था। सामने के क्षितिज पर अग्निपिंड-सा उठा सूर्य उधर से ही बहते चले आ रहे सरित प्रवाह में सोने के एक विशाल गोले की तरह ढुलक रहा था। पर उस प्राचीन मंदिर में अब भी अंधकार था। रथ से उतरकर हम दोनों वहाँ पहुँचे। हम लोगों के साथ और कोई नहीं था।

“‘मेरी बाईं ओर एकदम मुझसे सटकर वह चल रही थी। ड्योढ़ी पर पहुँचते ही उसने अपना मस्तक टेका और मेरा भी सिर पीछे से पकड़कर उसने झुका दिया।

“‘आओ, रति और कामदेव।’ भीतर से एक अति गंभीर स्वर सुनाई दिया, जो मंदिर में कई ओर से गूँजता रहा। मैंने चारों ओर देखा, कहीं कोई नहीं। मैं इस चमत्कार पर विस्मृत था। सामने सरस्वती की प्रतिमा थी और पार्श्व में थी उसकी उन्मुक्त मुसकराहट।”

प्रद्युम्न कहता गया—“मैं विस्मृत एवं नितांत भ्रमित, एकदम पाषाणवत् खड़ा रहा। उसने माँ के चरणों में अपना मस्तक टेका। यदि उसने मेरा सिर भी पूर्ववत् दबाकर झुकाया न होता तो मैं वैसा ही खड़ा रह जाता।

“‘जब हम पूर्वजन्म की बातें भूल जाते हैं तब सत्य हमें ऐसा ही चकित करता है।’ यह आवाज भी हमारे मंदिर

प्रवेश के समय के जैसी थी—‘जब पहले पहल वह यहाँ आई थी तो वह भी ऐसे ही अचरज में पड़ी थी।’ फिर ऐसा लगा जैसे देवी खिलखिला रही हों।

“मेरे मुख से निकला—‘मैं कुछ समझ नहीं पाया!’

“‘समझने के लिए इसके सिवा और कुछ नहीं है कि तुम पूर्वजन्म में कामदेव थे और यह रति।’

“‘यह कैसे?’

“‘इसका उत्तर तुम अपने मन में ढूँढ़ो। वहीं तुम्हें मिल जाएगा।’

“मैं मौन खड़ा रहा।

“वहाँ से वह शीघ्र ही बाहर निकली। पीछे-पीछे मैं भी आया। दूर खड़ी महिला सैनिकों को उसने संकेत से बुलाया। पूजन का थाल लेकर वे यथाशीघ्र उपस्थित हुईं और हम लोगों ने विधिवत् माँ की पूजा की।

“सम्मुख के गवाक्ष से सूर्य की सीधी किरणें मूर्ति की आकृति पर पड़ रही थीं। माँ मुसकरा रही थीं—मानो हम दोनों को आशीर्वाद दे रही हों।”

फिर प्रद्युम्न चुप हो गया; जैसे कहना चाहकर भी कुछ न कह पाया हो।

मैंने फिर कहा, “लगता है, संकोच पुनः तुम्हारी वाणी के सामने खड़ा हो गया।” मैंने मुसकराते हुए सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया—“जब नाचना शुरू ही कर दिया है तब इसका संकोच मत करो कि वस्त्र कहाँ जा रहा है!”

वह भी मुसकराया और बोला, “फिर तो वह मुझे रति ही दिखाई देने लगी।”

“और तुम उसे कामदेव!” मैंने उसका अधूरा वाक्य हँसते हुए पूरा किया।

यद्यपि मेरे कथन में न व्यंग्य था और न वक्रध्वनि, मैंने तो बड़े सहजभाव से सीधी बात कही थी; पर इस बार फिर लज्जा की लालिमा उसके चेहरे पर दौड़ती दिखाई दी।

मैंने पुनः कहा, “हमारी बदली हुई मानसिकता वस्तु को बदल देती है; क्योंकि हम किसी वस्तु को वैसा नहीं देखते जैसी वह है वरन् जैसा मन होता है, वस्तु हमें वैसी दिखाई देने लगती है।”

“यह हो सकता है।” प्रद्युम्न बड़ी दबी जबान बोला।

फिर हम लोग वहाँ से चल पड़े। रात घिर आई थी। प्रमोद उद्यान में अपने निर्दिष्ट स्थानों पर मशालें जलाई जा चुकी थीं। मैं अपने रथ पर ही उसे ले गया था और उसी पर लौट चला।

मार्ग में मैंने एक दूसरा संदर्भ छोड़ा—“जानते हो, तुम्हारी माँ तुमपर नाराज क्यों हैं?”

जानते हुए भी प्रद्युम्न ने कहा, “इसे तो भगवान् जाने।”

“भगवान् ही नहीं, मैं भी जानता हूँ।” मैंने मुसकराते हुए पूछा, “क्या तुम्हारी पूर्व पत्नियाँ सुंदर नहीं हैं?”

“सुंदर तो हैं, पर वे रति नहीं हैं।” इतना कहते हुए प्रद्युम्न की आँखें फिर झुक गईं।

□

उस रात प्रद्युम्न को मैंने उसके कक्ष तक छोड़ा और सीधे अंतःपुर में पहुँचा। मैंने रुक्मिणी को समझाया—“अब तुम प्रद्युम्न से कुछ मत कहना। वह बेचारा एक विषम परिस्थिति से घिर गया था।”

“मैं सब समझती हूँ।” रुक्मिणी का क्रोध एक बार फिर भभका—“बाप-बेटे को विषम परिस्थितियाँ ही घेरती हैं, जिसका परिणाम होता है विवाह।”

उसका सीधा-सादा व्यंग्य जांबवती पर था। पर मैं कुछ बोला नहीं; क्योंकि क्रोध को छोड़ना भी आग में घृत डालना होता है।

वह बड़बड़ाती रही—“आप लोगों की परिस्थितियों के मूल में मेरी सज्जनता है। मेरी सिधार्थ का गलत लाभ बाप

ने भी उठाया और अब बेटा भी उठाने लगा है।”

दूसरे दिन जलपान के समय न रुक्मिणी मेरे कक्ष में आई और न मेरी अन्य रानियाँ ही। लगता है, रुक्मिणी के आक्रोश ने उन्हें भी दहला दिया। पर प्रद्युम्न आया—और फिर उसी संदर्भ में बातें होने लगीं।

“कल की तुम्हारी बातों से कई प्रश्न अनायास मन में उठे हैं।” मैंने कहा, “आखिर इन बातों से तुम्हारे अपहरण का क्या संबंध है?”

“शंबरासुर से किसीने बता दिया था, या माँ सरस्वती के मंदिर से ही उसे ज्ञात हुआ कि प्रद्युम्न कामदेव का अवतार है और उसीके द्वारा तुम मारे जाओगे। इसीसे वह बचपन से ही मेरी हत्या के लिए प्रयत्नशील था।” प्रद्युम्न ने अपने मस्तिष्क पर जोर देते हुए कहा, “कदाचित् आपके ही मुख से मैंने सुना था कि किसीने मुझे बचपन में ही उठाकर समुद्र में फेंक दिया था; तो वह कोई और नहीं, शंबरासुर ही था।”

मैंने सोचा कि यह तो इतिहास स्वयं को दुहरा रहा है। कभी मेरे मामा कंस को यह बताया गया कि देवकी के आठवें गर्भ से तेरा विनाश होगा और वह मेरे जन्म के पूर्व से ही मेरे प्राणों का प्यासा हो गया। ठीक यही स्थिति मेरे पुत्र के सामने भी आई।

इसी क्रम में प्रद्युम्न ने यह भी बताया—“इसके बाद एक मछुआरे के जाल में मैं फँस गया। उस मछुआरे ने मुझे फिर शंबरासुर के यहाँ ही ले जाकर बेचा।”

“पर तुझे तो आधी रात को एक नौका में कुछ लोग मेरे तट पर छोड़ गए थे।” मैंने कुछ और जानने की इच्छा से कहा।

“हाँ, जब उसे पता चला कि मैं कामदेव ही हूँ तब उस स्त्री ने एक रात चुपचाप मुझे द्वारका से उठा ले जाने की सारी व्यवस्था की।”

“किस स्त्री ने?”

“वही, जो मेरी पत्नी है।”

“तब तो उसकी अवस्था तुमसे बहुत अधिक होगी!” मैंने कहा, “हम लोगों की कल्पना से भी अधिक।”

“हो सकती है।” प्रद्युम्न बोला, “पर वह मुझसे बहुत बड़ी नहीं लगती।”

“लगता है, उसने तुझपर कोई वशीकरण कर दिया है।” मैंने कहा, “समय कभी थमता नहीं है, तब उस नारी पर क्या थमा होगा!”

“इस शंका का समाधान तो आप उसे देखकर ही कर सकते हैं।”

मुझे सारी कथा कुछ अद्भुत-सी लगी; पर अविश्वसनीय नहीं। सबकुछ मेरे त्रिकालदर्शन की परिधि में था। भूत-वर्तमान-भविष्य केवल इस जीवन में ही नहीं है। उसके विस्तार में मात्र एक जीवन नहीं, अनेक जीवनों की निरंतरता है।* इसीकी साक्षी प्रद्युम्न के जीवन की यह घटना है। किंतु इस प्रकार के चिंतन के प्रभाव में वह नहीं था। उसपर तो एक प्रकार का ऐंद्रजालिक प्रभाव था। मैंने ज्यादा इस संदर्भ में उससे पूछा भी नहीं। यदि पूछता तो वह घूम-फिरकर वही उत्तर देता।

इसलिए मैंने बात बदल दी—“तुम्हारे इस कथाक्रम में मछुआरा भी है। आज तक हम लोग यह नहीं जान पाए कि उसका क्या हुआ!”

“उसकी बड़ी दुर्गति हुई।” प्रद्युम्न बोला, “लोगों ने मुझे बताया कि शंबरासुर ने उसे जीवित सिंहों के सामने छोड़ दिया था।”

“यह नृशंसता तो राक्षसों का स्वभाव है।” मैंने कहा।

“पर शंबर ने उसके प्रति कुछ अधिक ही नृशंसता दिखाई।” प्रद्युम्न ने कहा, “क्योंकि उसने असुरराज से निवेदन किया था कि उस बालक को छोड़ दीजिए। इसीमें आपका हित है। जिस बालक को वह अपनी मृत्यु का कारण समझता था, उसीको छोड़ने की बात सुनकर वह आगबबूला हो गया। इसीसे उसने इतना कठोर निर्णय लिया।”

“फिर शंबरसुर मारा कैसे गया?” मैंने पूछा, “क्योंकि बिना उसकी हत्या के उसकी पत्नी को पाना संभव नहीं था।”

“वह मारा तो मेरे ही द्वारा गया; पर मैं मात्र माध्यम बना, किया सबकुछ मायावती ने।” प्रद्युम्न ने बताया—“लोग शंबरसुर से काफी नाराज थे। उन्हें मायावती ने मिला लिया था। विचित्र स्थिति थी। शंबरसुर लोगों को नाराज करता चलता था और मायावती उन्हें आश्रय देती चलती थी। प्रजा हर क्षण उससे मुक्ति चाहती रही। इस स्थिति को पैदा करने में मैं सरस्वती की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अदृश्य रहकर भी उन्होंने वह कार्य किया, जो दृश्य रहकर भी कोई नहीं कर सकता।”

उसकी बातें सुनकर मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “अदृश्यता स्वयं में महानता है; क्योंकि अदृश्यता आत्मा को देवता बना देती है और दृश्यता उसे जीव।”

वह चुपचाप मुझे देखता रहा और मैं बोलता गया—“तुम जब अनंग थे तब देवता थे। अब तुम मनुष्य हो—मात्र प्रद्युम्न, कृष्ण के पुत्र। और बहुत हुआ तो लोग तुम्हें द्वारका का राजकुमार कहेंगे।”

“इसका तात्पर्य है कि मैंने दृश्य होकर अच्छा नहीं किया। अपनी महानता की प्राप्ति के लिए फिर मुझे अदृश्य होना चाहिए।”

मेरे अधरों पर पुनः मुसकराहट उभर आई—“ऐसा सोचने से तुम्हारा कोई लाभ नहीं; क्योंकि तुम्हारा ‘होना’ या ‘न होना’ तुमपर निर्भर नहीं है।”

“फिर तो जो कुछ हुआ, उसे होना ही था।”

मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। वह प्रसन्न हो गया।

“पर इसे तुम्हारी माँ स्वीकार करे तब तो!”

उसके उल्लास के समक्ष फिर एक अवरोधक लग गया। उसकी खुशी आकाश से गिरकर पेड़ पर अटक गई।

मैंने उसे ढाढ़स बँधाया—“अभी तुम्हें अपनी माँ से मिलने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं उससे बातें करूँगा। दूसरी बात यह है कि मैं मायावती से मिलना चाहूँगा। इसका यह अर्थ तुम कदापि मत लगाना कि मुझे तुम्हारी बात का विश्वास नहीं है। मैं तो केवल इसका पता लगाना चाहता हूँ कि उसे देखकर तुम्हारा चिंतन सत्य को किस सीमा तक छू पाया है।”

मैंने एक बात और स्पष्ट की—“मैं मायावती से मिलना तो चाहूँगा; पर मैं उसके राज्य की सीमा में नहीं जाऊँगा और न अच्छी तरह सोचे-समझे बिना उसे अपने राज्य की सीमा में बुलाऊँगा।”

“वह भी अपने राज्य में नहीं है।” इस सूचना के साथ प्रद्युम्न ने बड़े भावुक ढंग से अपनी बात पूरी की—“शंबरसुर के वध के बाद उसके सिंहासन पर मायावती को ही बैठना चाहिए था; पर उसने वह सिंहासन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने बहुत आग्रह किया। यहाँ तक कहा कि आपके चले जाने पर हम अनाथ हो जाएँगे। तब उसने उन्हें ऐसा उत्तर दिया कि मेरा मन भी द्रवित हो गया।” थोड़ी देर रुककर प्रद्युम्न फिर बोलने लगा—“उसने कहा, ‘अपने सनाथ होने के लिए आप लोग फिर मुझे अनाथ मत कीजिए। पत्नी का सिंहासन तो उसके पति का हृदय होता है। अब मुझे उसी सिंहासन पर बैठने दीजिए।’”

“इसका तात्पर्य है कि असुर संस्कृति में पत्नी वह नारी अपने संस्कारों से असुर नहीं है।” मेरे मुख से निकला।

“यों भी वह असुर नहीं है।”

“यह तुम्हारा निष्कर्ष है, तुम्हारी दृष्टि का निष्कर्ष है।” मैंने हँसते हुए कहा।

“अब तो आप अपनी दृष्टि से स्वयं उसे देखेंगे।” प्रद्युम्न बोला।

अब मैं एकदम चुप हो गया। थोड़ी देर बाद बोला, “हाँ, तो तुम उससे भेंट कहाँ कराओगे?”

“वह आ तो रही थी, पर अपने राज्य की सीमा पर आकर रुक गई।” प्रद्युम्न ने कहा, “और बड़ी व्यथा से बोली, ‘पहले आप जाकर इस स्थिति का पता लगाइए कि लोग मुझे स्वीकार करेंगे या नहीं।’ ”

“तुमने कहा नहीं कि मैं तो तुम्हें स्वीकार करता ही हूँ?”

“आप क्या समझते हैं, मैंने कहा नहीं होगा!” प्रद्युम्न बोला, “तब उसने बड़ी गंभीरता से कहा, ‘अग्निपरीक्षा देने के बाद भी लोगों ने सीता को नहीं स्वीकारा, तब मैं किस डाल की चिड़िया हूँ कि मेरे जैसे लोगों के लिए तुम्हारा समाज पिंजड़ा दे ही देगा!’ ”

मायावती के इस संवाद से भी मैं बहुत प्रभावित हुआ और उससे मिलने की मेरी लालसा बढ़ी। मैंने कहा, “इसका तात्पर्य यह है कि हम लोगों को उसके राज्य की सीमा के भीतर चलना होगा?”

“आपके आने की सूचना पाकर वह अपने राज्य की सीमा के बाहर ही आ जाएगी।” प्रद्युम्न बोला।

अब मुझे केवल रुक्मिणी को तैयार करना था। कुछ करने के पहले उसकी मानसिकता को सामान्य तल पर तो लाना ही होगा। आखिर वह प्रद्युम्न की माँ है। उसके चोट खाए मन का उपचार तो करना ही होगा।

मैंने प्रद्युम्न से कहा, “तुम आज-कल में मायावती से मिलने की व्यवस्था करो। पर हाँ, अभी तुम अपनी माँ के पास मत जाना। आग को छेड़ना नहीं। धीरे-धीरे उसपर राख जम जाने दो। तुम्हें देखते ही वह फिर भभक पड़ेगी। अतएव उससे मुझे ही मिलने दो।”

जब से प्रद्युम्न आया था तब से रुक्मिणी मुझसे नहीं मिली थी। न तो जलपान के समय और न भोजन पर ही। वह मेरे सामने आना भी पसंद नहीं करती थी। जलपान और भोजन वह अपने कक्ष में ही मँगवा लेती थी। पूरे अंतःपुर में इसकी चर्चा हो गई थी कि वह मुझसे नाराज है। पर अभी इस नाराजगी का धुआँ भीतर-ही-भीतर था, बाहर निकला नहीं था। अभी मेरे माता-पिता और भैया-भाभी तक इसकी चर्चा नहीं पहुँची थी। जबकि प्रद्युम्न अपनी माँ को छोड़कर सभी जगह जाता था। उसे यथोचित ममत्व और स्नेह भी मिलता था। वस्तुतः वे लोग सारी बातें नहीं जानते थे, जो हम लोगों को पता हो गई थीं।

आज प्रातःकाल मैं स्वयं रुक्मिणी के कक्ष में गया। वह उठकर खड़ी हो गई। कुछ बोली नहीं। उसका क्रोध अब भी सुलग रहा था।

मैंने उसके दोनों कंधे हिलाते हुए बड़ी आत्मीयता से कहा, “तुमने मुझसे मिलना तो छोड़ ही दिया, अब बोलोगी भी नहीं?”

“आपको ही कौन मुझसे मिलने की फुरसत है!” उसकी आवाज बहुत ही इठलाई हुई थी—“अब तो पुत्र का मोह मुझसे मिलने का आपको अवकाश देगा तब तो। कल पुत्रवधू लाओगे, तब कदाचित् मिलने का भी अवसर न मिले।”

मैं कुछ समय के लिए चुप हो गया। केवल उसके दोनों कंधे दबाता हुआ अपनी ऐंद्रजालिक दृष्टि उसपर फेंकता रहा।

“ऐसे क्या देखते हो?” उसने अपनी मुसकराहट दबाते हुए कहा, “आपका बेटा है, उसे चाहे बिगाड़ो या बनाओ।”

“मेरा तो बेटा है, पर वह क्या तुम्हारा बेटा नहीं है?”

“मेरा बेटा जब था तब था। अब मैं उसे छोड़ चुकी हूँ। उसके लिए मैंने क्या-क्या सपने देखे थे और उसने मेरे साथ कैसा धोखा किया! अपनी पत्नी के साथ कैसा विश्वासघात किया!” इतना कहते-कहते उसका गला भर आया। आँखें रिसने लगीं।

मैंने तुरंत अपने उत्तरीय से उसकी आँखें पोंछ दीं और कहा, “तुम्हारी यह दशा इस बात की साक्षी है कि तुम उसे छोड़ नहीं पा रही हो—और न कभी छोड़ पाओगी। कभी कोई माँ अपने बेटे को छोड़ पाई है!”

इतना सुनना था कि फोड़ा फूट गया। वह फफककर रो पड़ी—“वह कितना प्यारा था मुझे! कितने कष्टों से मैंने उसे पाला था! उसके जन्म के समय भी आप नहीं थे। आप कहाँ रहते हैं द्वारका में! इधर कुछ समय से आपका रहना हो रहा है।” फिर वह और खुली—“क्या उसकी पत्नी शुभांगी मायावती से किसी बात में कम है? उसे तो अभी तक कुछ पता नहीं है। जब से प्रद्युम्न आया है तब से उससे मिला भी नहीं है। जब वह सारी कथा सुनेगी तब उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा! एक नारी ही नारी की व्यथा समझती है।”

“मैं भी समझता हूँ।”

मैंने ऐसे झटके से कहा कि उसकी मुद्रा तुरंत बदल गई। वह खीजकर बोली, “चलिए हटिए! आप तो हर स्थिति को परिहास में ही उड़ा देना चाहते हैं।”

“मैं कब कह रहा हूँ कि शुभांगी से उसका विवाह नहीं हुआ है!” मैंने कहा।

“तो क्या शुभांगी अब उसकी दूसरी पत्नी कहलाएगी?” उसकी आवाज में जरा तीखापन आया।

मैंने धीरे से कहा, “वह उसकी पहली पत्नी तो हो ही नहीं सकती, जिसके जन्म के पूर्व से ही एक पत्नी हो।” बात जितने रहस्य की थी, उससे भी अधिक रहस्यमय ढंग से मैंने कहा।

“यह आप क्या कह रहे हैं?” रुक्मिणी बोली, “यदि ऐसा है तो उसने शुभांगी से विवाह क्यों किया?”

“यह उसकी विवशता थी, अज्ञान था।” मैं रहस्यमय ढंग से मुसकराता रहा।

क्षण भर अवाक् रहकर फिर रुक्मिणी ने मुद्रा बदली—“शायद शुभांगी को आपने ध्यान से देखा नहीं है। वह अनिन्द्य सुंदरी है।”

“निश्चित ही वह अनिन्द्य सुंदरी होगी; पर वह ‘रति’ तो नहीं होगी।” मैं मुसकराता रहा और उसकी पीड़ा मेरी मुसकराहट में खोती गई।

□

सबकुछ रुक्मिणी की समझ में तो नहीं आया, किंतु उसने इतना अवश्य समझ लिया कि कोई बहुत महत्वपूर्ण बात अवश्य है। उसका क्रोध कुछ मुलायम पड़ा। अब प्रद्युम्न के प्रकरण में वह रुचि लेने लगी। दो-एक दिनों के भीतर उन दोनों में बातें भी आरंभ हुईं; पर अभी वे पहले जैसी निकटता से काफी दूर थे।

एक दिन प्रातःकाल उपाहार ग्रहण करने के बाद रुक्मिणी का हाथ पकड़कर बड़ी आत्मीयता से खींचते हुए उसे मैं अपने कक्ष में ले गया। मेरी अन्य पत्नियाँ देखती रह गईं।

सत्यभामा ने व्यंग्य भी किया—“यदि आप कहीं तो मैं अपना द्वार भी बंद कर लूँ।” इतना कहकर वह बाहर से अपना द्वार खींचते हुए चली गई। और दूसरे ही क्षण अन्य पत्नियों के साथ उसकी समवेत खिलखिलाहट सुनाई पड़ी।

मैंने रुक्मिणी को ले जाकर पर्यंक पर बैठाया और उससे सटकर बैठते हुए बड़े प्रेम से बोला, “एक बात पूछूँ?”

“क्या?”

“क्या तुम अपनी नववधू को लेने चलोगी?”

उसकी कल्पना जैसे धोखा खा गई। वह बड़ी इठलाती हुई बोली, “यही पूछने के लिए आपने ऐसा नाटक किया था! क्या सोच रही होंगी मेरी सहभागिनें!”

“उनको जो सोचना चाहिए वही सोच रही होंगी।” मैंने कहा, “मुझे अपने प्रश्न का उत्तर चाहिए; क्योंकि मैं सोचता हूँ कि शुभ कार्य में देरी नहीं करनी चाहिए।”

“मेरे विचार से तो आप ही जाइए और अपनी रति को देख आइए।” रुक्मिणी ने मुसकराते हुए कहा, “क्योंकि यदि मैं चलूँगी तो आपकी सभी पत्नियों को ले चलूँगी। घर में बड़े बेटे की बहू आ रही है। और जो स्थिति है, उसमें ऐसा करना उचित नहीं है।” सारी घटना खुले और लोग उसकी असलियत जान लें, रुक्मिणी अभी भी नहीं चाहती थी।

मेरे मन की स्थिति बड़ी विचित्र थी। एक ओर यह नई समस्या आ गई थी। जब इसका समाधान निकलने लगा तब एक बार फिर इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर मस्तिष्क पर छा गया। मैंने जो चर हस्तिनापुर भेजा था, वह अभी तक नहीं आया था। जो कुछ मैंने देखा था, वह द्वारका की व्यग्रता के लिए काफी था। फिर मेरी व्यग्रता की बात ही मत पूछिए। ऐसी स्थिति में छंदक के सिवा कोई और मेरा सहारा नहीं था। वही एक ऐसा मित्र था, जीवनसाथी था, जिसके सामने मैं पूरा-का-पूरा खुलता था और हलका हो जाता था; अन्यथा चिंता की अग्नि पर आशंकाओं की जो वाष्प बनती, वह भीतर-ही-भीतर घुटती, बाहर न निकल पाती और शरीर का यह घट ही फट जाता।

अब मैंने छंदक को बुलवाया। एकांत में ले जाकर उससे सारी बातें कीं। समाधिस्थ होने की, हस्तिनापुर पहुँचने की और वहाँ जो कुछ मैंने अनुभव किया था, उसे विस्तार से बताया।

“तब तो हस्तिनापुर की समस्या अवश्य ही भयंकर है। इस बारे में आपने इसके पहले मुझे कुछ भी नहीं बताया था।” छंदक बोला।

“मैंने तुम्हें अवश्य ही बताया होगा।” मैंने कहा, “भले ही संकेतों से ही कहा हो, पर कहा अवश्य होगा।”

“पर मुझे याद नहीं आता।” वह बोला, “खैर, जो आप बता रहे हैं, वह पांडवों पर आई विपत्ति का अवसान नहीं है, वरन् आरंभ ही कहिए। इस प्रकार केवल एक बार द्रौपदी छूट अवश्य गई होगी; पर इससे आप क्या समझते हैं कि वे लोग पांडवों को छोड़ देंगे? कौरव उन्हें फिर घेरेंगे और पांडवों को निष्कण्टक राज्य नहीं करने देंगे। और सबसे बड़ी चिंता की बात तो यह है कि हमारा दूत भी इतने दिनों बाद वापस नहीं आया। हो सकता है, वह आर्यावर्त में भटक ही रहा हो।”

“तुम भी कैसी बातें करते हो!” मैंने कहा, “क्या इंद्रप्रस्थ का रास्ता अनजाना है?”

“अनजाना तो नहीं है, पर इंद्रप्रस्थ में पांडव होंगे तब तो!”

“तब वे कहाँ चले जाएँगे?”

“जहाँ उनका भाग्य ले जाएगा।” छंदक और गंभीर हुआ—“क्या ऐसा नहीं हो सकता कि पांडवों से इंद्रप्रस्थ ले लिया गया हो और उन्हें वनों में भटकने के लिए विवश किया गया हो?”

मेरा माथा ठनका। यद्यपि मैं जानता था कि छंदक के सोचने की यह प्रकृति है। उसका मन किसी समस्या पर सोचते हुए उससे संबंधित आशंकाओं के शिखर पर चला जाता था और वह वहीं से उस समस्या को देखता था।

मेरा मन बहुत देर तक इस आशंका पर जमा नहीं। मैंने कहा, “यह कैसे हो सकता है?”

“जैसे भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया जा सकता है।” उसने तुरंत कहा और मैं गंभीर सोच में डूब गया।

“यदि ऐसी बात हुई तो बेचारे पांडव सचमुच आर्यावर्त के वनों में भटक रहे होंगे।” मैं बोला, “तो ऐसे में क्या

करना चाहिए?”

“निर्णय तो आपको ही लेना है।”

“मेरा एक निष्कर्ष तो यह है कि मैं तुम्हें वहाँ भेजूँ।” फिर मैंने कुछ और सोचा और कहा, “संप्रति मेरे लिए यह उचित न हो; क्योंकि कल प्रातः मैं प्रद्युम्न के साथ जा रहा हूँ। चाहता तो था कि तुम भी साथ चलो, पर यह भी संभव नहीं लगता।”

“क्यों?”

“मेरी मंशा है कि मेरे अभाव में तुम्हीं द्वारका में रहो तथा जो भी समाचार इंद्रप्रस्थ या पांडवों के विषय में आए, उसे तुम्हीं अपने पास गोपनीय रखो और आकलन करो; क्योंकि वह कोई शुभ समाचार तो होगा नहीं। भैया तो उसे तिल का ताड़ बना देंगे और फिर वे उसके बारे में पता नहीं क्या सोच लें! माताजी एवं पिताजी पर उसकी दुःखद प्रतिक्रिया होगी—और सबसे बड़ी बात प्रजा की है। प्रजा जानती है कि मेरा झुकाव पांडवों की ओर है। पांडवों की पराजय वे मेरी पराजय समझेंगे। इससे प्रजा दुःखी भी होगी और मेरी दुर्बलता भी समझी जाएगी। शासन दुर्बल हो रहा है, यह भावना ही प्रजा में अनुशासनहीनता को जन्म देती है। इस समय मेरे शत्रुओं की संख्या में भी कुछ वृद्धि हो गई है। इसी बहाने वे उठ खड़े हो जाएँगे।” इन स्थितियों के बारे में मैंने काफी दूर तक सोचा और छंदक से कहा, “ऐसी स्थितियों में तुम्हारा द्वारका में रहना ही उचित होगा और इंद्रप्रस्थ की ओर आँख-कान दोनों लगाए रखो। और जो कोई जानकारी मिले, उसे अपने तक ही सीमित रखना।”

“हो सकता है, पांडवों में से ही कोई आता हो।” छंदक ने कहा।

“हो सकता है।” मैंने कहा, “तब तुम्हें उसे समझाना पड़ेगा कि जब तक मैं न आऊँ तब तक वह किसीके सामने खुलेगा नहीं। अतिथिगृह में उसे अपने साथ ही रखना।”

“यह कितना असंभव है कि पांडवों में से कोई आए और वह यहाँ के किसीसे न मिले।” छंदक हँसा—“अरे, वह नहीं जाएगा, तब भी लोग उससे मिलेंगे ही। उसकी क्या मजाल है कि वह भैया और माताजी से न मिले! बातें तो खुलेंगी ही।”

“अरे भाई, उसे भी मेरी स्थिति समझाना।” मैंने कहा, “यह तो जगद्विदित है कि गोपनीयता की पूर्णता असंभव होती है। फिर भी जितनी उसकी रक्षा हो सके, मेरे प्रति उतनी ही लाभप्रद होगी।”

दूसरे दिन प्रद्युम्न के साथ अपनी नई पुत्रवधू से मिलने की योजना मैंने बनाई। ब्राह्म मुहूर्त में मंगला आरती के बाद देवाधिदेव महादेव के दर्शन कर मैं चल पड़ा। यात्रा सुदूर उत्तर की थी। मैंने अपने शासन के सहयोगियों को संकेत दे दिया कि सात-आठ दिन लग सकते हैं। इसके अतिरिक्त और किसीसे मैंने कुछ नहीं कहा।

मैंने प्रद्युम्न को भी अपने रथ में बैठा लिया था, इसलिए यह यात्रा भी एक रथ की ही थी। एक ही रथ पर मैं, प्रद्युम्न और मेरा सारथि दारुक। मार्ग भी मैंने नगर के बाहर-बाहर का ही पकड़ा। प्रमोद वन के बीच से चल पड़ा और सूर्योदय होते-होते द्वारका की सीमा से दूर हो गया। संध्या होते-होते आदिवासियों के एक ग्राम में पहुँचा। वहाँ के लोग हम दोनों को पहचानते थे; पर यह नहीं जानते थे कि हम पिता-पुत्र हैं। उनके सोच के अनुसार हम दो राजा थे, जो एक ही रथ पर और एक ही पताका के नीचे आ रहे थे। उनके लिए यह आश्चर्यजनक था। दो राजा एक रथ पर तो हो सकते हैं; पर रथ पर भी पताका एक ही हो, यह कैसे हो सकता है? अवश्य ही एक ने दूसरे के प्रति अपना समर्थन व्यक्त कर दिया होगा।

पर उन्होंने अपने मन की शंका मन में ही रखी। पूरी आवभगत की। चर्मण्वती के कछार पर निर्मित यह मिट्टी की झोंपड़ियों का गाँव था। पता चला, हर साल वर्षा में गाँव डूब जाता है। यहाँ के लोग प्रकृति की इस मार की

भयंकरता की सीमा भी पहचान गए हैं। इसलिए वे इसे बड़ी सहजता से झेलते हैं और मस्ती से जीते हैं। बाढ़ के उतरते ही इन झोंपड़ियों की दीवारें खड़ी हो जाती हैं। प्रकृति की कठोरता में अभ्यस्त हैं। इनका हर दिन श्रम और संघर्ष का तथा हर रात उत्सव और हर्ष की होती है।

आज की रात भी उत्सवी थी। जो भी बन पड़ा, उसे हमें खिलाया और स्वयं भी खा-पीकर मस्त। सारा गाँव एक बड़े मैदान में एकत्र हुआ। अग्नि जलाई गई। फिर उन्होंने अग्नि का पूजन किया। मैरेय चढ़ाया और नर-नारी सभी ने प्रसाद ग्रहण किया। देखते-देखते उनकी मुद्राओं से उल्लास झलकने लगा। उनके पैर थिरकने लगे और फिर रात्रि का प्रथम प्रहर उनके नृत्य एवं राग-रंग में डूब गया।

हमारे लिए दो-तीन चौकियाँ सटाकर उनपर मोटे गद्दे बिछा दिए गए थे। हम दोनों उसी पर ऐसे ढुलके कि एक नींद में सवेरा हो गया। थकावट धुल गई।

सवेरे अच्छी तरह जलपान कराकर उन्होंने जब हमें छोड़ा तो पाँच धनुर्धारी आदिवासी योद्धा हमारे साथ कर दिए। जब मैंने उनके इस सहयोग को लेने में आनाकानी की, तब उन्होंने प्रद्युम्न की ओर संकेत करते हुए कहा, “इनका तो सब जाना-बूझा है। अभी कुछ ही दिन पहले इधर से गए हैं; पर आपके लिए तो मार्ग नया है। अभी चर्मण्वती पार करते ही ऋक्षवान् पहाड़ी शृंखला आरंभ हो जाएगी। तब आपके लिए संकट उपस्थित हो सकता है।”

“क्यों?”

“ऋक्षों का घनघोर जंगल है।” इसके बाद वह बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया—“उनकी अपनी भाषा है, उनके समाज के अपने नियम हैं।”

मैंने यह तो नहीं कहा कि उनसे मेरा पाला पड़ चुका है, केवल मुसकराता हुआ उन्हें सुनता रहा।

वे बोलते रहे—“तब ये हमारे गाँव के रखवाले आपकी सहायता करेंगे।”

“पर इनके पास कोई वाहन तो है नहीं। मेरी इच्छा तो अपने रथ पर अत्यंत गति के साथ यात्रा करने की थी।”

“तो आप अपने रथ पर जाएँ न! जितनी इच्छा हो उतनी गति से रथ चलाएँ।” उन लोगों ने हँसते हुए कहा, “हैं तो ये पैदल ही, पर रहेंगे आपके रथ के साथ ही।”

“तो ये लोग कहाँ तक और कब तक साथ देंगे?”

“जब तक आपका साथ देनेवाले दूसरे मिल नहीं जाते।”

वे भी हँसे और मुझे भी हँसी आ गई।

उनके दिए वे पाँचों योद्धा सचमुच वैसे ही निकले जैसा उन्होंने कहा था। हमारे रथ की तूफानी गति से वे जरा भी पीछे नहीं हुए।

सचमुच वह भयानक अरण्य था। प्रद्युम्न से मैंने पूछा, “तुम यहाँ तक चले आए थे आखेट की खोज में और तुम्हें आखेट नहीं मिला था!”

“यही तो मुझे भी आश्चर्य है।” उसने कहा, “उस दिन जैसे कोई एक अलौकिक शक्ति मुझे खींचे लिये जा रही थी और मैं खिंचता चला गया।”

फिर मैंने कुछ नहीं पूछा।

हमारे साथ आए उस ग्राम के लोगों ने कहा, “अब आपको किधर जाना है? आगे तो शंबरसुर का राज्य है।”

मैंने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा, “हमारा गंतव्य आ गया। अब आप लोग जा सकते हैं।”

हम मध्याह्न तक उस दुर्ग के पास पहुँच गए, जिसमें प्रद्युम्न ने मायावती का निवास बताया था। उसने मुझे दुर्ग में चलने के लिए कहा।

मैंने प्रद्युम्न को दुत्कारते हुए कहा, “प्रेम में तुम अंधे हो सकते हो, तुम्हारे जैसे अंधों के लिए मैं अंधा नहीं हो सकता। मैं तब तक दुर्ग में प्रवेश नहीं करूँगा जब तक ससम्मान बुलाया नहीं जाऊँगा।”

इतना सुनते ही प्रद्युम्न लज्जा से गड़ गया। उसे इसका भान ही नहीं रहा कि मैं उसका पिता होने के साथ-साथ द्वारकाधीश भी हूँ। वह चुपचाप चला गया।

दुर्ग तो मुख्यतः सैनिक संरक्षण के लिए निर्मित होते थे। वह दुर्ग भी लगभग वैसा ही था। निश्चित रूप से यह कभी शंबरसुर की सैनिक छावनी रही होगी; पर इस समय यह राजकीय आवास के रूप में बदला हुआ ज्ञात हो रहा था।

प्रद्युम्न के जाने के कुछ ही क्षणों बाद दुर्ग से कुछ महिला सैनिक निकलीं और मुझे ससम्मान ले गईं। अस्थायी बने अतिथिगृह में मुझे सादर स्वर्ण सिंहासन पर बैठाया गया। उस सिंहासन से ही मैंने शंबरसुर के वैभव का अनुमान लगाया। वहीं मुझे अपने इस सत्य की प्रामाणिकता भी मिली कि हम लोग जिस संसार में रहते हैं, यह संसार उस संसार से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण है।

तब तक कई महिलाओं के साथ वनज सज्जा से सजी एक अद्भुत सुंदरी आई और मेरे चरणों पर एक पुष्पहार अर्पित कर सिर नीचा किए मेरे सामने मौन खड़ी हो गई। मैं उसे देखता ही रह गया। वह मेरे विश्वास से अधिक सुंदर, कल्पना से अधिक सुंदर—और कहीं सुंदरता की भी कोई प्रतिमा होती तो वह उससे भी सुंदर थी। अत्यंत सुघड़, मोम-सी शरीरयष्टि और लपलपाती मोम वर्तिका-सा उसका भभकता व्यक्तित्व स्वयं अपना परिचय दे रहा था कि पहचानिए, मैं ही रति हूँ। सृष्टि का सारा नारी सौंदर्य मुझमें समाहित है। काल की गति भी मेरी मुट्ठी में बंद है।

इस सौंदर्यग्रस्त जड़ता से मेरी चेतना ने जब मुझे झकझोरकर जगाया तब मैंने उससे पूछा, “तुम्हीं मायावती हो?”

वह कुछ न बोली। केवल एक सलज्ज मुसकराहट उसके अधरों से छूटी और मेरे चरण छूती हुई धरती में समा गई। “सचमुच तुम्हारा वरण करने में मेरे पुत्र ने कोई भूल नहीं की है।” मैंने कहा।

“इसके लिए मैं बधाई की पात्र हूँ।” वह नीचे खड़ी वैसी ही धीरे-धीरे मुसकराती हुई बोली।

मैं जोर से हँस पड़ा। अन्य खड़ी महिलाओं के चेहरे भी खिल गए। फिर मैंने प्रद्युम्न को बुलाया।

वह तुरंत उपस्थित हुआ। मैंने दोनों को एक-दूसरे की बगल में खड़ा किया और बड़े निस्पृह भाव से बोला, “बिना किसी देवता के आमंत्रित किए और बिना अग्नि की साक्षी दिए तुम दोनों पति-पत्नी हुए।”

“हम तो कई जन्मों से पति-पत्नी हैं।” मायावती बोली, “हमें किसीको साक्षी में रखने की आवश्यकता क्या? और फिर आपसे बढ़कर भी कोई देवता होगा!”

मैंने हँसते हुए कहा, “तुम्हारे इस कथन से सर्वमान्य इस विश्वास को बल मिलता है कि जीवन की तरह विवाह भी पूर्वजन्म का एक बंधन है।”

□

मैंने उस समय मायावती को वहीं छोड़ दिया तथा प्रद्युम्न को भी उसके साथ रहने का आदेश दिया और कहा, “शीघ्र ही द्वारका से महामात्य के साथ सेना आएगी और आप लोगों को राजसी सम्मान के साथ ले जाएगी।”

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैंने वहाँ से प्रस्थान किया। लोग रोक रहे थे; पर एक क्षण भी वहाँ रुकना मेरे लिए संभव नहीं था। मेरा मन हर क्षण इंद्रप्रस्थ का समाचार जानने के लिए उत्सुक था।

मैं यथाशीघ्र द्वारका पहुँचा। इधर छंदक मेरे लिए व्याकुल हो रहा था। पिछले दो दिनों से तो उसकी विचित्र स्थिति थी। प्रतीक्षा की घड़ियाँ जब उसे अधिक व्यग्र करतीं तब वह नगर के उत्तरी द्वार से अरण्य तक मेरे आगमन के

पूर्वाभास में चला आता। इस समय भी वह मुझे नगर द्वार के बाहर ही मिला।

मुझे देखते ही बोला, “प्रद्युम्न कहाँ है?”

“मैं उसे वहीं छोड़ आया हूँ।” मैं बोला और दो-एक वाक्यों में वास्तविकता बताते हुए कहा, “वास्तव में वह रति है—और यदि वह रति नहीं है, तब तो वह रति से भी सुंदर है।”

“आप क्या कह रहे हैं!” छंदक बोला, “कोई स्त्री रति से भी सुंदर हो सकती है!”

“यदि हो सकती है तो वह मायावती है।” और संदर्भ समेटते हुए मैंने कहा, “दोनों का विवाह हो चुका है। अब किसी शुभ मुहूर्त में महामात्य, दंडनायक आदि के साथ सेना की एक टुकड़ी भेजकर उन्हें ससम्मान बुलाया जाएगा। अब बताओ, तुम यहाँ तक कैसे चले आए?”

“आपकी प्रतीक्षा में।” उसने कहा।

“क्यों, क्या बात है? क्या इंद्रप्रस्थ भेजा गया हमारा दूत आया है?”

“जी, दूत भी आया और नकुल भी।” काफी गंभीर होकर वह बोला और फिर चुप हो गया। इससे मैं समझ गया कि जो कुछ समाचार है, वह शुभ नहीं है।

मेरी व्यग्रता ने अंतिम उछाल ली—“अच्छा बताओ, इंद्रप्रस्थ का क्या समाचार है?”

“जब इंद्रप्रस्थ ही नहीं तब इंद्रप्रस्थ का समाचार कैसा!”

“यह क्या कह रहे हो!” मैं तो अवाक् रह गया। वस्तुतः क्या हुआ और कैसे हुआ, मैं यह सबकुछ पूछ नहीं पाया। इतना व्यग्र था कि अपने रथ पर छंदक को न लिवा जाकर वहीं उसीके रथ पर बैठ गया। फिर मैंने छंदक से विस्तार से बताने के लिए कहा।

उसने इतना ही बताया कि यह सारा तमाशा शकुनि के पासों ने किया। पांडव जुए में अपना सारा राजपाट हार गए। अब वे काम्यक वन में हैं।

इस समय शकुनि पर मुझे इतना क्रोध आया कि क्या बताऊँ। वह यदि मेरे सामने होता तो निश्चित ही मैं उसका वध कर देता; पर इस समय मैं क्या कर सकता था! अपने क्रोध पर नियंत्रण करते हुए मैंने छंदक से पूछा, “इस समाचार की द्वारका पर क्या प्रतिक्रिया है?”

“अभी द्वारका इस समाचार से अनभिज्ञ है।” उसने कहा, “दूत ने तो किसीसे कुछ नहीं बताया। जब मैंने उससे पूछा तो उसने साफ इनकार करते हुए कहा कि दौत्य धर्म के अनुसार जो कुछ मैं जानता हूँ, सबसे पहले उन्हींको सुनाऊँगा। उन्होंने मुझे इसके लिए सावधान भी किया था।...पर उसकी चिंतित मुद्रा ने इतना तो बता ही दिया था कि जो सूचना उसके पास है, वह शुभ नहीं है।

“इसके दूसरे दिन, संध्या को प्रमोद वन की ओर घूमते समय नकुल अपने अश्व ‘दधिक्रवा’ पर दिखाई दिया।”

“इसका तात्पर्य है कि उसने सीधे मार्ग से नगर में प्रवेश नहीं किया!” मैंने कहा, “वह छिपे तौर से आरण्यक पथ से आया होगा।”

“अब छिपने-छिपाने की कोई बात रही ही नहीं।” छंदक झुँझलाते हुए बोला, “सीधे तौर पर कौरवों ने पांडवों के साथ छल किया है और बिना युद्ध के उन्होंने इंद्रप्रस्थ जीतकर उन्हें निकाल दिया है।”

यों भी मैं हमेशा सहज रहने की चेष्टा करता था; पर जब कभी छंदक का मानसिक संतुलन गड़बड़ देखता था तो मैं और भी सहज हो जाता था। इस समय भी मैंने ऐसा ही किया।

“नकुल को द्वारका में आया देखकर लोगों ने जिज्ञासा तो की ही होगी?”

“पर वह द्वारका में आया कहाँ है!” छंदक ने बताया—“उससे धर्मराज युधिष्ठिर ने नगर से दूर रहने के लिए कहा

है। उनका कहना था कि जब हमने बारह वर्षों तक वनों में रहने की बात मान ली है तब हमें नगर से दूर ही रहना चाहिए।”

“धर्मराज की अतिशय धर्मप्रियता और दुर्योधन की अंधी महत्वाकांक्षा से जनमी अतिशय अनैतिकता ने तो सत्यानास कर दिया है।” मेरे मुख से निकला। फिर मैंने पूछा, “तब नकुल कहाँ ठहरा है?”

“उसी प्रमोद वन में। वहीं एक प्रकोष्ठ में छिपकर पड़ा रहता है। बहुधा वह सवेरा होते ही जंगलों में चला जाता है और दिन डूबते-डूबते आता है। वह भी केवल आपकी प्रतीक्षा में रुका है।”

मन बड़ा दुःखी हो गया। मैं जिस उत्साह से आ रहा था, उसपर ग्रहण लग गया। फिर भी अपनी प्रसन्न मुद्रा बनाए रखने का हर संभव प्रयास करता रहा।

नगर में प्रवेश के साथ-ही-साथ लोगों ने प्रद्युम्न के संबंध में पूछना आरंभ किया। मैंने मुसकराते हुए सबको एक ही उत्तर दिया—“प्रतीक्षा कीजिए और नई वधू की अगवानी की तैयारी कीजिए।”

मेरे इतना कहने से लोगों ने यह तो समझ लिया कि प्रद्युम्न ने सचमुच विवाह कर लिया है; पर मेरी मुद्रा से उन्हें ऐसा अवश्य लगा कि इस विवाह से मैं प्रसन्न नहीं हूँ।

राजभवन में पहुँचते ही मेरे सामने प्रश्न था कि पहले किससे मिलूँ, रुक्मिणी से या नकुल से? जिज्ञासा मुझे नकुल की ओर खींच रही थी और कर्तव्य रुक्मिणी की ओर। मैं द्विविधा में था। पर शीघ्र ही मुझे ज्ञात हो गया कि नकुल तो इस समय मिलेगा ही नहीं। अतएव मैं सीधे रुक्मिणी के कक्ष में पहुँचा और जाते ही बोला, “मैं सीधे तुम्हारे पास यह सूचना देने के लिए आया हूँ कि तुम पूरे धूमधाम के साथ नई वधू के स्वागत की तैयारी करो। यह तुम्हारे पुत्र द्वारा किसी कन्या का न वरण है और न हरण। यह सीधे-सीधे कामदेव और रति का विवाह है।”

“क्या परिहास करते हैं आप!” रुक्मिणी एकदम हँस पड़ी—“कहाँ रति और कहाँ वह असुर सुंदरी!”

“उसे देखने के पहले मैं भी कुछ ऐसा ही सोचता था। तुम भी जब देखोगी तो तुम्हारे भी विचार बदल जाएँगे और तुम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचोगी।”

“आप पर किया इंद्रजाल मुझपर काम नहीं आएगा।” कहा तो उसने मुसकराते हुए ही, पर मैं झुंझला उठा; क्योंकि मेरी मानसिकता पहले से ही खराब थी। मैं छुटकारा पाना चाहता था और नाराजगी दिखाता हुआ लौट पड़ा।

अब प्रश्न था, कैसे संध्या हो और कैसे मैं प्रमोद वन पहुँचूँ! दिवस का शेषांश जैसे-तैसे ही बीत चला। सूर्यास्त होने लगा। मैं छंदक को लेकर प्रमोद वन पहुँचा। अभी नकुल आया नहीं था। उसी प्रकोष्ठ में बैठकर मैं छंदक से बातें करने लगा।

“मेरा सारा सपना ही नष्ट हो गया। मेरे सामने तो धधकता हुआ वह खांडव वन दिखाई दे रहा है। उसमें रहनेवाले अथर्व शाखा के वे तांत्रिक याद आ रहे हैं। कहीं यह सारी करामात उन्हींकी तो नहीं?”

“अब आप भी ऐसा सोचते हैं!” छंदक ने मुझे समझाते हुए कहा, “अरे, हम लोग सोचें तो और बात है, आप जैसे त्रिकालज्ञ का चिंतन इस सीमा पर आ जाएगा—कोई सुनेगा तो क्या कहेगा!”

“चाहे कोई कुछ कहे, पर पराभव की व्यग्रता कभी-कभी मनुष्य के चिंतन को उस तल तक नीचे ले जाती है, जहाँ उसे कुछ नहीं सूझता; केवल अँधेरा ही दिखाई देता है। तब उसके त्रिकालदर्शन की क्षमता भी साथ छोड़ देती है। पांडव मुझमें इतने लीन हैं कि पांडवों की यह पराजय मुझे अपनी पराजय लगती है।” मैं बोलता जा रहा था—“मेरे सामने एक दूसरा संकट और है। मैं इसे अपना पराभव तो समझता हूँ, पर इस पराभव की चर्चा किसीसे कर नहीं सकता। तुमने कभी ऐसे समुद्र की कल्पना की है, छंदक, जिसमें ज्वार तो उठता हो, पर जो अपनी कभी सीमा नहीं लाँघता हो?”

दधिक्रवा के पैरों की टाप औरों से अलग ही थी। वह दूर से आती सुनाई पड़ी। इसके पहले कि नकुल हम तक आए, हम लता प्रकोष्ठ से बाहर आ चुके थे।

उसके द्वारा चरण छूने के बाद मेरा पहला प्रश्न था—“क्या हुआ?”

“हुआ क्या! महर्षि व्यास की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।” वह बड़े सहजभाव से बोला। मैं जितना दुःखी था, वैसी व्यग्रता उसके चेहरे पर नहीं थी। वह मुसकराते हुए कहता जा रहा था—“एक स्वप्न था, जो टूट गया। हम लोग फिर अपने धरातल पर आ गए।”

मैं तो उसकी आकृति ही देखता रह गया। साक्षीभाव से जीने और घटना-निरपेक्ष रहने का ज्ञान बघारनेवाला मैं इस समय उससे बहुत छोटा हो गया था।

फिर मैंने उससे कुछ कहा नहीं। उसके कंधे पर हाथ रखकर टहलने लगा।

थोड़ी देर बाद बड़े सामान्य भाव से मैं बोला, “यह तो मैं भी नहीं मानता था कि महर्षि व्यास की भविष्यवाणी कभी झूठी हो सकती है; पर मेरी जिज्ञासा यह है कि आखिर क्या हुआ? होनेवाला कैसे घटित हुआ?”

तब नकुल ने पूरी कहानी बड़े संक्षेप में सुनाई कि कैसे कौरवों ने षड्यंत्र रचा? कैसे जुए की योजना बनाई और कैसे विदुर चाचा को जुए का निमंत्रण लेकर भेजा गया?

“वह निमंत्रण लेकर आए अवश्य थे, पर संकेतों से उन्होंने सावधान कर दिया था कि आप लोगों के साथ छल होगा। इस सारी योजना के पीछे शकुनि का मस्तिष्क है। उसीके पासे रहेंगे और उसीके हाथ से फेंके जाएँगे।”

“फिर आप लोगों ने इस निमंत्रण को स्वीकार क्यों किया?” मैंने पूछा।

“आप तो युधिष्ठिर भैया को जानते ही हैं।” नकुल बोला, “एक तो जुआ उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। हम लोगों ने विदुर चाचा के संकेत पर उन्हें मना किया था। तब उन्होंने बड़े स्पष्ट रूप से एक बात कही थी कि यह सत्ता का सामान्य शिष्टाचार है कि यदि कोई जुए का निमंत्रण देता है तो उसे अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।”

“विदुरजी के इतना संकेत देने पर भी स्वीकार किया जाना चाहिए! यह विचित्र मानसिकता थी धर्मराजजी की!” मैंने बीच में ही टोका।

“यही तो हम सभी भाइयों का कहना था।” नकुल बोला, “तब उन्होंने बहुत सोचते हुए कहा कि मैं इसे अस्वीकार कर सकता हूँ; पर दुर्योधन इसीको बहाना बनाकर प्रत्यंचा चढ़ाएगा। तब बल्कि अर्जुन भैया भभक पड़े थे—‘उसके प्रत्यंचा चढ़ाने से यदि आप भागते रहे तब तो शासन कर चुके!’ तब उन्होंने हम लोगों को संबोधित करते हुए कहा कि ‘आप लोग अच्छी तरह समझ लें, मैं किसी भी स्थिति में युद्ध नहीं चाहता—और वह भी भाई-भाई के बीच।’ फिर वे व्यासजी की भविष्यवाणी से बहुत आतंकित थे।”

नकुल का कहना था—“हम लोगों ने उन्हें बहुत समझाया—‘भविष्यवाणी से आतंकित होने से तो जीना दूभर हो जाएगा।’

“‘वह तो अभी भी है।’ धर्मराज बोले।

“‘इतनी भयग्रस्त मानसिकता में तो हम राजपाट सब गँवा देंगे।’ अर्जुन भैया ने कहा।

“धर्मराज बोले, ‘भले ही गँवा दें, पर हमारे भाई तो सुरक्षित रहेंगे।’” इतना बताते-बताते नकुल आवेश में आ गया और व्यंग्य में बोला, “चला गया न राजपाट! अब उनके भाई पूरे सुरक्षित हैं। और हम खूब आनंद ले रहे हैं वन-वन घूमते हुए।”

“आजकल आप लोगों ने कहाँ पड़ाव डाला है?” मैंने पूछा।

“काम्यक वन में।” नकुल बोला और चुप हो गया।

इसके बाद अभी बहुत कुछ जानना मेरे लिए शेष था। जिज्ञासा जोर मार रही थी।

“आश्चर्य, पितामह और विदुरजी के रहते यह अनर्थ हो गया!”

नकुल ने कहा, “हम लोगों ने भैया को बहुत समझाया। यहाँ तक कि द्रौपदी ने कहा, ‘इस जुए में भी वही होगा, जो पिछले जुए में हुआ है। वही शकुनि पासे फेंकेगा और आप फिर हार जाएँगे।’

“‘फेंकने दो उसे। मेरी हार ही होगी न!’ धर्मराज भैया बोले। वस्तुतः महर्षि व्यास की यह बात उनके मन की गहराई तक पहुँच गई थी कि एक भीषण महायुद्ध होगा, जिसके केंद्र में तुम होगे।”

“तुमने खुद सुना था? या सुनी-सुनाई कह रहे हो? क्या यह बात कही थी व्यासजी ने?”

“जब धर्मराज भैया ने उनसे तेरह वर्ष की संभावित विपत्ति के बारे में कुछ जानने की इच्छा व्यक्त की थी, तब कही थी। मैंने स्वयं अपने कानों से सुना था।” नकुल बोला।

मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। रह-रहकर मेरे मन में एक ही बात उठ रही थी, आखिर पितामह की भी कोई भूमिका थी! विदुरजी को तो जो करना था, भरसक किया; पर पितामह ने क्या किया? वे कौरव एवं पांडव परिवार के अभिभावक थे। उन्होंने अपने धर्म का निर्वाह क्यों नहीं किया?

“इस समय तो वे अधिक दोषी नहीं मालूम होते।” नकुल बोला।

“यह कैसे कह सकते हो?”

“उन्हें इस षड्यंत्र का ज्यों ही पता चला, उन्होंने इसका विरोध किया।” नकुल बोला, “उन्होंने स्वयं महाराज धृतराष्ट्र को समझाया कि ‘जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा—एक भयंकर युद्ध, जिसमें सारे कुरुवंश का विनाश हो जाएगा। और कुरुवंश ही क्यों, सारे आर्यावर्त की चूलें हिल जाएँगी। ऐसा विस्फोट होगा कि हम सब स्वाहा हो जाएँगे।’ सुना है, ताऊजी उस समय गंभीर हो गए थे; पर दुर्योधन का मोह वह छोड़ न सके। उसने उन्हें धमकाया था कि आपने या किसीने भी मुझे रोका तो मैं आत्महत्या कर लूँगा। वे बाहरी आँखों से तो अंधे थे ही, पुत्र-प्रेम ने उनकी भीतरी आँखों की भी ज्योति छीन ली थी। सुना है, दूसरी ही शाम वे पितामह के पास पुनः पहुँचे और उनसे प्रार्थना करने लगे कि आप इस बीच में न पड़ने की कृपा करें।”

नकुल ने कहा, “विदुर चाचा ने बताया था कि पितामह एकदम भभक पड़े। उस समय वे बड़े रूखे स्वर में बोले थे—‘क्यों? आज क्या हुआ? कल मैंने इतना समझाया था, आज सबकुछ धुल गया। मैं क्यों न बीच में पड़ूँ? मैं कुरुवंश का संरक्षक हूँ। मेरा संपूर्ण जीवन कुरुवंश के कल्याण के प्रति वचनबद्ध है। जब तक हो सकेगा, मैं इस अन्याय का विरोध करूँगा।’

“‘तो क्या मैं पुत्रविहीन हो जाऊँ?’ महाराज धृतराष्ट्र ने कहा। तब पितामह बड़ी दृढ़ता से बोले, ‘यदि पुत्रविहीन होना ही तुम्हारे भाग्य में लिखा है तो क्या तुम दुर्योधन की बात मान लेने पर पुत्रविहीन होने से बच जाओगे? जब तुम ऐसे भी पुत्रविहीन होगे और वैसे भी, तब क्यों नहीं धर्म का पालन करते?’

“सुना है कि ताऊजी ने इतने पर भी पितामह को नहीं छोड़ा। उन्होंने फिर कहा, ‘आप मेरी प्रार्थना पर पुनर्विचार करें।’

“‘और पुनर्विचार के बाद भी यदि मेरा यही निष्कर्ष रहा तो?’

“‘तो...’ ताऊजी अब बोल नहीं पा रहे थे। पितामह के बहुत जोर देने पर उन्होंने बहुत धीरे से कहा, ‘आपकी अवमानना होगी और लोग किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।’

“‘साफ कहते क्यों नहीं,’ पितामह ने बड़े आवेश में कहा, ‘कि आपकी हत्या भी की जा सकती है!’”

“इतने दृढ़ निश्चय के बाद भी तो पितामह डिग गए।” मेरे मुख से निकला।

“पितामह का मन फेरने में हमारे भैया की भी अद्भुत भूमिका रही।” नकुल बोला। फिर जो कुछ उसने बताया, उसे सुनकर मुझे भी दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी।

“जब भैया को यह मालूम हुआ कि पितामह कुछ करना चाहते हैं तो वे स्वयं पितामह के पास गए।”

“स्वयं गए!” मुझे आश्चर्य था।

“स्वयं न भी कहें, पर यह कह सकते हैं कि वे गए।” नकुल ने कहा, “हम लोगों की सलाह हुई कि जब पितामह की सहानुभूति हम लोगों के प्रति है तो भैया को भी उनके पास आभार प्रदर्शित करने या प्रणाम करने जाना चाहिए। हमें उनके भेजने के पीछे औपचारिकता भी थी और भविष्य के प्रति नाकेबंदी भी थी। तब भैया गए थे।”

“तब मामला उलट कैसे गया?”

“यही तो हम लोगों को भी आश्चर्य है।” नकुल ने बताया—“मार्ग में ऐसा क्या हुआ कि वहाँ जाने के बाद उनका मस्तिष्क बदल गया। उन्होंने आभार तो प्रदर्शित किया, पर कहा, ‘आज न्यायप्रियता और धार्मिकता का युग नहीं है। आप व्यर्थ में अपने को बीच में डालकर अपना अपमान मत कराइए।’

“बल्कि पितामह ने ही स्वयं पूछा, ‘क्यों? मेरे रहते अन्याय हो और मैं चुप रहूँ! और यह बात तुम कहते हो!’

“‘क्या करूँ? जब उन लोगों का सारा प्रयास इंद्रप्रस्थ को हस्तगत करने के लिए ही है, तो करने दीजिए।’

“तब पितामह ने पूछा, ‘तो क्या तुम अपना राज्य छोड़ सकते हो?’

“‘छोड़ सकता हूँ; पर युद्ध नहीं करूँगा। भाइयों के रक्तपात का दायित्व नहीं लूँगा।’

“‘धन्य हो, युधिष्ठिर!’ पितामह माथा ठोंकते हुए बोले, ‘तुम इतने भयाक्रांत क्यों हो?’

“‘मैं युद्ध से भयाक्रांत नहीं हूँ। मैं भयग्रस्त हूँ महर्षि व्यास की भविष्यवाणी से।’ भैया ने कहा, ‘महर्षि ने ग्रह-नक्षत्रों की गणना कर बताया कि एक महायुद्ध होगा, जिसमें आर्यावर्त का महाविनाश संभावित है; जिसके केंद्र में तुम होगे।...तो मैं किसी युद्ध के केंद्र में नहीं होना चाहता, चाहे मुझे राजपाट ही क्यों न छोड़ देना पड़े!’ ”

“जब यह बात तुम लोगों को मालूम हुई तो तुम लोगों ने धर्मराज का जमकर विरोध क्यों नहीं किया?” मैंने पूछा।

“उस समय यह सब कहाँ बताया उन्होंने!” नकुल बोला, “पितामह के यहाँ से लौटने के बाद वे बिल्कुल सामान्य दिखे। हम लोग तो अंत तक भ्रम में थे कि यदि कोई विशेष बात होगी तो पितामह हस्तक्षेप करेंगे ही।”

“तब तुम्हें ये सारी बातें कब मालूम हुईं?” मैंने पूछा।

“ये सारी बातें तो काम्यक वन आकर उन्होंने विस्तार से बताईं, जब द्रौपदी पितामह को उलटा-सीधा कहने लगी।” नकुल बोला, “उसका सबसे अधिक क्रोध तो पितामह पर ही था। तब भैया ने अपना पुराना तर्क देते हुए हमें समझाया—‘इसमें पितामह को दोष देना ठीक नहीं है। यह सब तो ग्रह-नक्षत्रों का फेर है।’ ”

‘तब पितामह का क्या दोष?’ मेरा मन बोल उठा। अब चित्र लगभग स्पष्ट होने लगा था। मेरा सारा आक्रोश आकर शकुनि पर केंद्रित हो गया था।

मैंने कहा, “इस षड्यंत्र के केंद्र में उसी दुष्ट का मस्तिष्क है! तुम लोगों ने उसका विरोध क्यों नहीं किया? कम-से-कम उसके पासा फेंकने का तो विरोध करना ही चाहिए था।”

“आप क्या समझते हैं कि किया नहीं गया था!” नकुल ने कहा, “भैया द्वारा लाख दबाए जाने के बाद भी हम लोगों ने उसका विरोध किया था। तब जानते हैं, दुर्योधन ने क्या कहा?” नकुल बोलता रहा—“तब दुर्योधन ने कहा, ‘मैंने पासा फेंकने के लिए मामाजी को अधिकृत किया है। आप भी चाहें तो किसी और को अधिकृत कर सकते हैं।’

“‘पर यह खेल तो तुम्हारे और हमारे भैया के बीच हो रहा है।’ इस बार भीम भैया बोले थे।

“ ‘खेल तो हम दो खेल ही रहे हैं। बाजी तो हमीं दो लगाएँगे।’ दुर्योधन ने अट्टहास करते हुए कहा, ‘और हार-जीत भी हमीं दोनों के बीच होगी।’

“फिर तो सारी सभा दुर्योधन का समर्थन करने लगी।” नकुल बोला।

“इस सारी सभा से तुम्हारा क्या तात्पर्य है?” मैंने पूछा।

“घूतक्रीड़ा में दुर्योधन ने आसपास के अपने सारे मित्र राजाओं को बुला लिया था। स्थिति यह थी कि हम कुछ भी कहते तो सब मिलकर हमारा विरोध करते और तलवारें निकल आतीं। हमें इसकी कोई परवाह नहीं थी; पर जब हम लोग क्रोध में उठते थे, भैया हाथ पकड़कर बैठा लेते थे।” कहते-कहते नकुल आवेश में यहाँ तक बोल गया—“जब राजा युद्धभीरु होता है तब प्रजा की जो दशा होती है, वही आज हम लोगों की है।”

हमारी बातें प्रमोद वन में चल रही थीं। मैंने नकुल को समझाया—“तुम बड़े भैया को युद्धभीरु तो नहीं कह सकते। हाँ, तुम धर्मभीरु कह सकते हो, भविष्याक्रांत कह सकते हो। जहाँ उनके इस कार्य की आलोचना होगी, वहाँ इतिहास उन्हें सत्यवादी हरिश्चंद्र की तरह याद करेगा। एक ने सत्य की रक्षा के लिए राज्य दे दिया, दूसरे ने धर्म और शांति के लिए भाई की दुष्टता को सिंहासन समर्पित कर दिया। युधिष्ठिर की सत्ता-निर्लिप्तता के संदर्भ में लोगों को राम ही याद आएँगे।”

नकुल तो चुप हो गया, पर उसका मन मेरी बात मानने को तैयार नहीं था। वह भीतर-ही-भीतर मणि छिने गए उस नाग की तरह छटपटा रहा था, जो छीनने वाले का प्राण ले सकता था, पर ले नहीं पाया। जिसके सामर्थ्य के हाथ उसके भाई की नैतिकता ने ही बाँध दिए थे।

मैं उसकी मनःस्थिति समझ रहा था। मैंने उसे समझाते हुए कहा, “अब तो जो होना था, हो चुका। उसपर छटपटाने से अच्छा है कि हम आगे की भी सोचें।”

“इसके लिए काम्यक वन में हम लोगों ने अपने कुछ हितैषियों को आमंत्रित किया है।” नकुल ने इसी क्रम में बताया—“हम लोगों ने भोज, वृष्णि, अंधक आदि वंशों के यादव राजाओं को तथा पांचाल के धृष्टद्युम्न, चेदि देश के धृष्टकेतु और केकय देश के सगे-संबंधियों को संवाद भेजे हैं।”

“तुम लोगों ने इतने दूर तक संदेश भेज दिए!” मैंने आशंका व्यक्त की—“कहीं ऐसा न हो कि कौरव यह सोचें कि तुम लोग युद्ध की तैयारी करने लगे; क्योंकि इस स्थिति में युद्ध लाभप्रद नहीं होगा।”

“कौरव इतने मूर्ख नहीं हैं। वे खूब जानते हैं कि भैया अपने दिए गए वचन से एक पग भी पीछे नहीं हट सकते।” नकुल बोला।

संभव है, वह मेरी नासमझी पर मुसकराया भी हो। पर मैं सोच रहा था कि पांडवों को ऐसी स्थिति में एक स्थान पर बहुत दिनों तक नहीं रहना चाहिए। कौरवों की नीचता कुछ भी कर सकती है। मैंने इससे उसे सावधान भी किया।

फिर अचानक मुझे कुंती बुआ की याद आई। मैंने पूछा, “फिर बुआ तुम लोगों के ही साथ होंगी?”

“नहीं, विदुर चाचाजी ने उन्हें रोक लिया।” नकुल ने बताया—“यदि उन दुष्टों की चलती तो हमारे साथ उन्हें भी भेज देते। स्वयं माँ भी रुकना नहीं चाहती थीं। उनका कहना था कि ‘मैं भी अपने बेटों के साथ रहूँगी। उनके दुःख-सुख में हाथ बैठाऊँगी।’ पर चाचाजी ने कहा कि ‘अब आपकी अवस्था उनके साथ वन-वन भटकने की नहीं रही। केवल आपका आशीर्वाद ही उनके साथ जाएगा।’

“तब माँ ने कहा, ‘बहुत होगा, मार्ग में प्राणांत हो जाएगा। उनके बिना यहाँ भी जीकर क्या करूँगी!’

“ ‘अभी भी आपका जीवन पांडवों के लिए अमूल्य है।’ चाचाजी ने समझाया—‘आपके पुत्रों को आपकी अभी

बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। अरे, बारह-तेरह वर्ष का समय भी जब बीतने लगेगा तब देखते-देखते बीत जाएगा। दिन जाते देर थोड़े ही लगती है।’ ”

“ठीक कहा विदुरजी ने।” मैंने कहा, “काल का नैरंतर्य ही उसका भोजन है। वह स्वयं को निगलता हुआ भी विशाल दिखाई देता है।” यह बात मैंने नकुल को ढाढ़स देने के लिए कही थी और फिर बोलता गया—“मैंने सोचा कि कहीं बुआ भी साथ न हों। यदि वह हों तो मैं उन्हें द्वारका में ही रोक लूँ।”

बातों के क्रम में समय का ध्यान न रहा। आधी रात से अधिक खिसक चुकी थी। अरुंधती पश्चिम की ओर ढुलक चुकी थी। अब हम लौट पड़े। राजभवन की ओर बढ़ते हुए मैंने नकुल से भी चलने का प्रस्ताव किया।

उसने कहा, “क्या करूँगा राजभवन में जाकर? अब तो भोजन का भी समय निकल गया। यहीं थोड़ा विश्राम कर प्रातः ही चला जाऊँगा।”

मैंने उससे पुनः आग्रह किया। फिर उसकी मनःस्थिति कुछ विचित्र हो चली थी। वह परिचित लोगों से बिल्कुल मिलना नहीं चाहता था। उसमें एक विचित्र प्रकार का पराजयबोध था। बुरी तरह हारा हुआ अनुभव करने के बाद भी उसका मन कहता था कि हम लोग हारे हुए नहीं हैं, हरा दिए गए हैं। अब यह मुँह लेकर हम औरों से क्या मिलें!

उसने कहा भी—“मेरी अब किसीसे मिलने की इच्छा नहीं है। सभी एक तरह की बात करेंगे। एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर। मैं अपनी मूर्खता की व्यथा-कथा बार-बार दुहराना नहीं चाहता।” इसके बाद उसके अधरों के बीच एक विशेष प्रकार की खीज भरी मुसकराहट उभर आई। फिर मैंने उससे राजभवन में चलने का आग्रह नहीं किया।

□

ॐ लगता है, नकुल टूट चुका है।” लौटते हुए छंदक बोला।

“जब इसकी यह हालत है तब अर्जुन की क्या स्थिति होगी और क्या दशा होगी भीम की! द्रौपदी की हालत तो और खराब होगी। वह जीवन भर भभकती रही है। आग में पानी छोड़ने पर जैसे आग और भभकती है वैसे ही चोट खाई नागिन होकर अपने पतियों को ही फुफकारती होगी।” मैंने कहा।

जब हम लोग राजभवन में पहुँचे तब ब्राह्म मुहूर्त घड़ी-दो घड़ी ही हमसे दूर रह गया था।

मैंने छंदक से कहा, “इस समय तुम विश्राम न लेते तो अच्छा होता।”

“क्यों?”

“हमें नकुल के भोजन की व्यवस्था कर देनी चाहिए।” मैंने कहा, “उसे बाँधकर इतना दे दो कि मार्ग में फिर उसे भोजन की परेशानी न हो।”

छंदक उसी समय भोजनालय की ओर चला गया।

थकावट का आस्तरण ओढ़कर मैं पर्यंक पर पड़ गया था। फिर भी नींद मुझसे दूर ही रही। बीच-बीच में आती झपकियों में भी मैं पांडवों की परिस्थिति पर ही विचार करता रहा।

उस रात रुक्मिणी मेरे ही कक्ष के दूसरे पर्यंक पर लेटी हुई थी। मेरे न रहने पर वह आई थी। शायद उसे अपने पुत्र के विवाह के संबंध में मुझसे कुछ विशेष मंत्रणा करनी थी। पर मैं जब नहीं था तब वह यहीं ढुलक गई थी और मेरी प्रतीक्षा करती सो गई थी। पर मेरे आने पर मेरी आहट से उसकी नींद अवश्य खुली होगी; क्योंकि जब मैं प्रातः उठा, उसने तुरंत टोका—“आज क्या बात है? बहुत परेशान लगते हैं! रात में भी बड़ी देर से लौटे।”

“कुछ बात ही ऐसी है।” मैंने कहा। फिर मेरे चिंतन ने ही वाणी ली—“यह तो मैं सोचता था कि महर्षि व्यास की भविष्यवाणी कभी झूठी नहीं होगी; पर यह विश्वास नहीं था कि उसका सत्य इतना शीघ्र दिखाई पड़ जाएगा। सबकुछ अप्रत्याशित, नितांत अप्रत्याशित; जैसे अचानक भूकंप आ जाए, अचानक रेत का महल धराशायी हो जाए।”

फिर तो वह स्थिति जानने के लिए व्यग्र हो उठी। मैंने उसे संक्षेप में सब बता दिया; पर उसे सावधान भी किया —“देखो, इसका बहुत प्रचार मत करना। यों बात तो छिपेगी नहीं, धीरे-धीरे सभी जान जाएँगे; किंतु हमें ध्यान रखना चाहिए कि इस घटना का हमारी प्रजा और प्रशासन पर अधिक प्रभाव न पड़े।”

रुक्मिणी भी काफी चिंतित दिखी। उसने इस स्थिति को कभी सोचा भी नहीं। उसने कहा भी—“लगता है, राजसूय यज्ञ एक सपना था, जो नींद खुलने के पहले टूट गया।”

“अब भी युधिष्ठिर की नींद खुले तब तो।” मेरे मुख से निकला।

पर रुक्मिणी का चिंतन किसी दूसरी ओर मुड़ गया था। उसने कहा, “इस घटना का प्रभाव हमारे प्रशासन और प्रजा पर तो नहीं पड़ना चाहिए।”

“क्यों नहीं पड़ेगा?” मैंने कहा, “पांडवों की जय और पराजय से हम बहुत दूर तक जुड़े हैं। और राजा की पराजय ही नहीं, पराजय का आभास भी प्रजा में अराजक स्थिति पैदा कर देता है।”

फिर मैं अंतःपुर से निकला और सीधे पिताजी के पास गया। वे अभी-अभी पूजन से उठे थे। मुझे अचानक आया देखकर सकपका-से गए; क्योंकि यह समय मेरा उनसे मिलने का नहीं था। मैंने उन्हें सारी घटना संक्षेप में सुनाई। वे पहले भी मौन रहे, सुनते हुए भी मौन रहे और सुनने के बाद भी। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को उन्होंने इतना झेला था कि अब वे जीवन को साक्षीभाव से देखते थे और हर घटना को भगवान् की इच्छा का परिणाम मानते थे।

पता नहीं क्यों, माताजी और नानाजी से इस घटना के बारे में कुछ कहने का साहस मैं पहले जुटा नहीं पाया। फिर धीरे-धीरे साहस बटोरकर मैं उनके पास पहुँचा। मौका देखकर मैंने कहा। वे सारी बातें सुनते तो रहे; पर इसमें संदेह है कि उन्होंने सबकुछ सुना या नहीं। क्योंकि अत्यंत वृद्ध होने के कारण उनके सुनने की क्षमता बहुत कम हो गई थी।

सबकुछ सुनने के बाद भी वे चुप ही रहे—एकदम निर्लिप्त। उनकी खुली आँखें आकाश की ओर लगी थीं। तटस्थ द्रष्टा की तरह वे सबकुछ सुनते रहे।

फिर मैं भैया के यहाँ पहुँचा। भाभी ही मिलीं। पता चला, भैया अभी सो रहे हैं। मैंने भाभी से कहा, “लगता है, रात में उन्होंने अधिक मँरेय चढ़ा लिया है। आप उन्हें मना नहीं करती?”

“मैं अपनी सौत से डाह नहीं करती।” उन्होंने कहा और हँस पड़ीं।

पर हँसने की स्थिति होते हुए भी मैं हँस नहीं पाया। वे बड़ी चतुर महिला थीं। उन्हें मेरी मनःस्थिति का अनुमान लग गया। बोलीं, “आज तुम भीतर से काफी व्यग्र दिखाई पड़ रहे हो। किसी गंभीर परिस्थिति पर विचारार्थ ही अपने भैया के पास आए हो!”

मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

“लगता है, मुझसे कहने लायक बात नहीं है।” उन्होंने कहा।

“आपसे छिपाने योग्य मेरे पास कुछ नहीं है।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

पर वे भी दाँव देने में पीछे रहनेवाली नहीं थीं। तुरंत बोल पड़ीं—“पर छिपाते तो बहुत कुछ हो—कुछ शील के नाते और कुछ संकोच के नाते।”

“फिर भी आपकी विलक्षण दृष्टि सब देख लेती है।” मैंने कहा।

“वह नारी क्या, जिसकी दृष्टि पारदर्शक न हो!” वह पुनः खिलखिलाई।

उनकी खिलखिलाहट में अपनी खिलखिलाहट मिलाने का अवसर होने पर भी मैं हँस नहीं पाया। उन्होंने तुरंत मेरी व्यथा का अनुमान लगा लिया और भैया को जगाने शयनकक्ष की ओर बढ़ीं।

मुझे आया सुनकर भैया ने मुझे अपने कक्ष में बुला लिया। उनका अलसाया शरीर अभी भी शय्या पर ढुलका था। मुझे देखते ही वे बोल पड़े—“आज तुम्हारे आँखों की अरुणिमा से स्पष्ट है कि तुम रात को सोए नहीं हो।” “आज मुझे नींद नहीं आई।” और फिर मैंने नकुल के आने से शुरू करके वे सारी बातें बता दीं, जो पांडवों पर बीती थीं।

बड़ी व्यथा के साथ सुनते हुए हर बार की तरह उलाहने के साथ ही उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—“यह सब तुम्हारा पाप है, तुम्हीं भोगो।”

मैंने कहा, “मैं कहाँ भोग रहा हूँ, भोगनेवाले तो बेचारे दूसरे हैं।”

“यह सारी खुराफात तो उस मामा की है।” अब वे अपनी प्रकृति के अनुसार फिर आवेश में आ गए थे—“मैंने तो उसके खात्मे का कई बार मन बनाया था; हर बार तुमने मुझे रोका। अब स्थिति यहाँ तक आ गई कि राजसूय यज्ञ करनेवाले बेचारे दर-दर ठोकरें खाने के लिए विवश हैं।”

हर बार की तरह इस बार भी मैं उन्हें चुपचाप सुनता रहा। इतना होने पर भी वे दुर्योधन को दोषी मानने को तैयार नहीं थे। गुरु-शिष्य की प्रगाढ़ आत्मीयता उनकी आँखों पर परदा डाले रही और वे शकुनि तथा कर्ण को ही दोषी ठहराते रहे। साथ ही वे द्रौपदी को भी कम नहीं समझते थे। उनका तो कहना था कि जब से उस कुलक्षिणी के पैर पड़े हैं तब से पांडवों पर विपत्ति पर विपत्ति आ रही है।

“पर वारणावत की विपदा तो पांडवों पर उस कुलक्षिणी की छाया पड़ने के पहले आ गई थी।” मैंने कहा और फिर वे कुछ नहीं बोले।

बाद में काफी सोच-विचार के बाद कुछ शब्दों और संकेतों का सहारा लेते हुए उन्होंने जो कुछ सुनाया, उसका सारांश यही था कि अब पांडवों और कौरवों के झगड़े में हमें नहीं पड़ना चाहिए। दोनों लड़ें, चाहे मरें—हम क्यों परेशान हों? क्यों उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाएँ?

“आप प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाइए या न बनाइए, पर क्या आर्यावर्त हमें कभी पांडवों से अलग समझ सकता है?” मैंने कहा, “मानव होने के नाते हमारे क्या कर्तव्य हैं? क्या हम अनर्थ होने दें और एक निष्क्रिय द्रष्टा की तरह उसे देखते रहें?”

“धर्म का ठेका तो तुमने ही लिया है और तुम्हीं उसे देखो।” वे हमेशा की तरह झुँझला गए।

अब मैं चुप हो गया और वे भी।

मौन का यह अंतराल काफी लंबा हो गया; क्योंकि वे बिस्तर से उठकर किसी प्राकृतिक विवशतावश भीतर चले गए। मैं एकाकी शांत बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद भैया आए और फिर जलपान के साथ रेवती भाभी भी। अब मैंने भैया का मन बदलने के लिए प्रद्युम्न और मायावती का प्रसंग छेड़ा।

भैया बड़े प्रसन्न हुए—“रति को काम और काम को रति मिले, इससे बड़ी प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है!”

अवसर देखकर मैंने कहा, “उनके विवाह और राजधानी में लाने आदि की व्यवस्था यदि आप देख लेते तो बड़ी कृपा होती।”

“क्यों? तुम कहाँ जा रहे हो?”

“सोचता हूँ, काम्यक वन होता आऊँ।” मैंने कहा, “नकुल बुलाने ही आया था। पांडवों ने अन्य यादव नरेशों और अपने शुभचिंतकों को बुलाया है। ऐसी स्थिति में यदि द्वारका से कोई नहीं जाएगा तो यह न हमारे लिए उचित होगा

और न पांडवों के लिए ही। हर व्यक्ति अपने ढंग से हमारी अनुपस्थिति की व्याख्या करने लगेगा। ऐसी स्थिति में हमें और पांडवों को लेकर अनेक भ्रामक अफवाहें भी पैदा हो सकती हैं।”

भैया कुछ बोले नहीं। मैंने इसे उनकी मौन स्वीकृति मान ली।



चार

नकुल के बताए मार्ग पर हम बढ़ते रहे। साथ में छंदक भी था। अभीषु तो दारुक के हाथ में था ही। काम्यक वन की भौगोलिक स्थिति का मुझे सही ज्ञान नहीं था। कुरुक्षेत्र से योजन-दो योजन दूर पश्चिम की ओर सरस्वती नदी पर मुझे बताया गया था; पर जिस मार्ग से मैंने यात्रा आरंभ की थी वह मेरे लिए एकदम नया, अनजाना और अनचीन्हा था। घने अरण्य के बीच से जाता था। कहीं-कहीं तरुओं से आलिंगित लताएँ इतनी घनी हो गई थीं कि मेरे रथ का निकलना कठिन हो जाता था। तब दारुक उन्हें कुल्हाड़ी से काटता था। फिर भी अश्वों के पैर तो बहुधा फँसते ही थे। उन्हें बड़ा सँभलकर चलना पड़ता था। इसलिए उनकी गति काफी मंद पड़ गई थी।

एक स्थान पर तो झुँझलाकर छंदक ने कहा भी—“जब गंतव्य सरस्वती के तट पर ही है, तब हमें सरस्वती के किनारे-किनारे ही चलना चाहिए था। द्वारका से उत्तर चलकर हम सीधे सरस्वती को पा जाते और फिर उसका सीधा रास्ता पकड़ लेते। किनारे-किनारे ग्राम भी मिलते, यात्रा सुखद हो जाती।”

“मैं क्या करता!” मैंने कहा, “मुझसे नकुल ने कहा था कि शीघ्र पहुँचने के लिए आपको जंगल का रास्ता अपनाना होगा।”

छंदक ने तुरंत टिप्पणी की—“जो अपने जीवन का ही रास्ता भूल गया हो, वह दूसरों को सही रास्ता क्या बता सकता है!”

मुझे यह टिप्पणी अच्छी नहीं लगी। मैंने कहा, “इस समय तुम चाहे जो कह लो, पर पांडवों की धर्मनिष्ठता एवं पराक्रम का ठीक आभास तुम्हें नहीं है। इस समय आर्यावर्त में उनकी समता करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। इस समय वे विपत्ति में फँसे हैं, कोई भी कुछ कह सकता है।”

इसके बाद छंदक कुछ नहीं बोला। पूरी यात्रा भर पांडवों के संदर्भ में उसकी जबान बंद रही।

मार्ग संक्षिप्त अवश्य था, पर समय काफी लग गया। यों तो कहिए कि हमने ऋक्षवान् और दशार्ण की पहाड़ियों के मध्य का मार्ग पकड़ा, अन्यथा और समय लगता। लोगों ने हमें बताया कि उपप्लव्य के उत्तर का मरुस्थल जहाँ समाप्त हुआ, आप काम्यक वन में पहुँच जाएँगे। उन्हीं लोगों से हमें यह भी ज्ञात हुआ कि हम इस समय सरस्वती के किनारे नहीं वरन् उसकी एक शाखा पुष्कर के किनारे हैं।

बात भी सही निकली। कई दिनों के बाद के, आज के प्रभात में एक विशेष प्रकार की लालिमा थी—मार्ग की सफलता की लालिमा। जब हम लोग रुककर पुष्कर में स्नान-ध्यान कर रहे थे तभी हमें उस पार कुछ लोग और स्नान करते दिखाई पड़े। मैं तो उन्हें न पहचान सका, पर वे हमें पहचान गए। वे इंद्रप्रस्थ के ही लोग थे, जिनका ममत्व पांडवों के साथ उन्हें यहाँ तक ले आया था। उन्हीं लोगों ने बताया कि आप यहाँ से थोड़ा पूर्व की ओर चलिए। धारा बहुत उथली है। रथ पानी में होकर चला जाएगा। पर आप लोग उसपर बैठकर न जाएँ तो उत्तम हो; क्योंकि भूमि दलदली है और रथ के धँसने का डर है।

हम लोगों ने ऐसा ही किया। दारुक रथ का ईषादंड (जुए की लकड़ी) पकड़े आगे-आगे चला और रथ के पीछे-पीछे मैं एवं छंदक।

इस तट पर आते ही मैंने उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा, “इस समय हम आप लोगों की कृपा से पार उतर सके।”

इतना सुनते ही वे एकदम मेरे चरणों पर गिर गए। पांडवों के बारे में पूछने पर वे कुछ बोल न सके। किसी तरह

इतना ही उनके गले से निकला—“हम तो पांडवों की प्रजा हैं।” इसके बाद कंठ अवरुद्ध और आँखें सजल हो गईं।

“अब न धर्मराज राजा रहे और न आप उनकी प्रजा।” मैंने कहा।

“ऐसा कैसे हो सकता है!” जैसे जो कुछ हुआ, वह अब भी उनके लिए अविश्वस्त हो। उनकी आँसू टपकाती आँखें धरती देखने लगीं; मानो उन्होंने स्वयं कोई बड़ा अपराध किया हो और पुष्कर के तट पर उसका पश्चात्ताप कर रहे हों—अथवा उनका कोई स्वर्णिम स्वप्न टूटकर उसी रेत में बिखर गया हो और उनका दुःखी मन उसे बटोरने की चेष्टा कर रहा हो।

प्रकृतिस्थ होते ही वे लोग हमें उस स्थल पर ले चले, जहाँ पांडव ठहरे थे। हम भी उनके साथ पैदल ही चले। यद्यपि उन्होंने कई बार हमसे रथ में बैठ जाने का आग्रह किया। अंत में यह भी कहा, “अभी दूर चलना है।”

“जब आप लोग चल सकते हैं तब हम भी चल सकते हैं।” मैं बोला।

मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि जो आपको बहुत बड़ा समझता हो, आप स्वयं को उसके समान दिखाइए तो उसकी सहज आत्मीयता आपके लिए और सहज हो जाती है। इस समय भी ऐसी ही स्थिति हुई। उनकी आत्मीयता ने मेरे लिए पलकें बिछा दीं।

उन्हीं लोगों से बातचीत में मालूम हुआ कि कई प्रदेशों के राजा महाराज से मिलने आ चुके हैं। शायद आप उनमें अंतिम हों।

“अंतिम कैसे कह सकते हो?” उन्हींमें से एक ने प्रतिवाद किया—“अभी तो केकय के महाराज बृहत्क्षत्र आने वाले हैं।”

इससे स्पष्ट लगा कि युधिष्ठिर के मन में कोई योजना है; पर पहुँचने पर पता चला कि इस बुलावे के पीछे कोई योजना नहीं है। केवल द्रौपदी का आग्रह था, जो दुराग्रह की सीमा तक पहुँच गया।

द्रौपदी चाहती थी कि हमारे साथ जो अन्याय हुआ है, उसे हमारे मित्र भी जानें। चुपचाप वन चले जाने का तात्पर्य होगा, अन्याय व अधर्म को सिर झुकाकर और मौन होकर स्वीकार कर लेना। पर हमारे युधिष्ठिर महाराज इसके विरुद्ध थे। उनका सोचना था कि अब किसीसे कुछ कहने-सुनने से क्या लाभ! व्यर्थ में घर की बात फूटेगी।

“अब घर घर कैसा?” द्रौपदी का क्रोध भभका—“जब घर का आँगन युद्धक्षेत्र हो जाए तब भी क्या घर घर रह जाता है? अब जब आग लगाई गई है तब घर तो भस्म होगा ही—और जाने कितने लोग भस्म होंगे! उन्हें अपने भस्म होने के पूर्व तो सही जानकारी होनी चाहिए।”

पता चला कि युधिष्ठिर को छोड़ शेष पतियों का द्रौपदी को समर्थन मिला। परिणामतः उन्हें अपने हितैषियों को बुलाने के लिए विवश होना पड़ा। शायद इसीलिए उन्होंने काम्यक वन में अपना लंबा पड़ाव डाला।

वस्तुस्थिति बड़ी विचित्र थी। युधिष्ठिर और द्रौपदी के स्वभाव में धरती-आकाश का अंतर था। एक अधर्म व अन्याय को भी नियति की इच्छा और प्रभु की कृपा मानकर सिर झुकाकर मान लेने को तैयार तो दूसरी उसका खुला विरोध करने के लिए सदैव तत्पर। एक हर ताप सहने की क्षमता रखनेवाला हिमालय तो दूसरी जरा से भी अन्याय के समक्ष कराला काली। पर दोनों पति-पत्नी हर कार्य में साथ-साथ रहने के लिए विवश। यही विवशता द्रौपदी से वह सब स्वीकार कराती थी, जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध था; किंतु उसके अन्य पति उसके साथ थे। पर बड़े भाई की आज्ञाकारिता उनके भी हाथ-पैर बाँध देती थी।

जब हम पहुँचे, दिन चढ़ आया था। हमने दूर से देखा, युधिष्ठिर एक सभा को संबोधित कर रहे थे। इतने लोग इस वन में। ये यहाँ के आदिवासी तो हो नहीं सकते। अवश्य ही ये पांडवों की प्रजा हैं, जो यहाँ तक चले आए हैं।

प्रजा का ऐसा स्नेह शायद ही कभी किसी राजा को मिला हो। और इतने स्नेह के बावजूद किसी राजा ने अपने राज्य को दाँव पर लगाकर गँवाया हो।

कुछ और निकट पहुँचने पर धर्मराज की आवाज साफ सुनाई पड़ने लगी थी। हम लोग एक वट की आड़ में खड़े होकर उन्हें सुनने लगे; क्योंकि यह साक्षात् धर्म की आवाज थी और अपनी उपस्थिति से हम उसमें बाधा डालना नहीं चाहते थे।

धर्मराज अपने साथ आई प्रजा को समझा रहे थे—“यह ठीक है कि आप लोगों को दुःख हुआ है। आपकी पीड़ा में समझता हूँ; पर क्या करूँ! यही नियति की इच्छा थी। आप ही समझिए, वह द्यूतक्रीड़ा थी। जुए का खेल था। यदि हम अपने भाइयों का ही जुए का निमंत्रण न स्वीकार करते तो यह उचित न होता; जबकि परंपरानुसार एक राजा को दूसरे राजा द्वारा भेजा जुए के खेल का निमंत्रण अस्वीकार नहीं करना चाहिए। इससे मनमुटाव बढ़ता है। आपसी प्रेम में खलल पड़ती है। फिर मैं अपने भाइयों द्वारा भेजा निमंत्रण स्वीकार न करूँ, यह कैसे हो सकता है!

“और जब दो व्यक्ति जुआ खेलते हैं तो किसीकी हार और किसीकी जीत होती ही है। अब हम हार गए और हमारा राजपाट चला गया तो किसीका क्या दोष? आज हमारी यह स्थिति हो गई। यदि कौरव हार जाते तो उनकी भी यही स्थिति होती।”

“उनकी यह स्थिति नहीं होती।” प्रजा बीच में ही चिल्लाई—“यह दो व्यक्तियों के बीच जुए का खेल नहीं था वरन् एक अन्यायी और दूसरे न्यायप्रिय के बीच सुनियोजित षड्यंत्र था। शकुनि की बेईमानी जग-जाहिर है। पूरा संसार उन पासों के मन की बात जानता था।” इतना कहते-कहते एक व्यक्ति उस भीड़ के बीच से खड़ा हो गया था। वह आवेश में काँपता हुआ जोर-जोर से बोल रहा था।

‘अरे, इसे तो मैं जानता हूँ!’ मेरे मन ने कहा। पर पूरा याद आ नहीं रहा है। मैंने छंदक से पूछा, “तुम इसे पहचानते हो? यह तो जाना-बूझा-सा लगता है।”

“अवश्य इसे कहीं देखा गया है।” छंदक बोला, “यह कहीं हस्तिनापुर से हटाया गया उसका पुराना नगर प्रमुख तो नहीं, जो पांडवों के साथ इंद्रप्रस्थ आ गया था और बाद में वहाँ का नगर प्रमुख बनाया गया?”

“हाँ-हाँ, अब मुझे भी याद आया। यह वही है।” मैंने कहा।

“मेरा बस एक प्रश्न आपसे है।” वह व्यक्ति बोलता रहा—“शकुनि तो पूरे आर्यावर्त में छल के लिए कुख्यात है। जब आप इस वास्तविकता को जानते थे तब आपने जुए का निमंत्रण स्वीकार क्यों किया?”

“वह आमंत्रण उसकी ओर से नहीं था, वह तो हस्तिनापुर की ओर से था।” युधिष्ठिर ने कहा।

“तब आपने उसे पासा फेंकने क्यों दिया?” उस व्यक्ति ने पिटा-पिटाया सवाल नए तेवर के साथ दुहराया—“यदि कौरव इसके लिए दबाव दे रहे थे तो आप उठकर चले क्यों नहीं आए? एक बार हारकर आप पुनः खेलने के लिए राजी हो गए! पुनः उसी पापी, दुष्ट और बेईमान के चंगुल में फँस गए! क्या राज्य को दाँव पर लगाते समय आपको इसका ज्ञान नहीं रहा कि आप प्रजा को भी दाँव पर लगा रहे हैं? हमारे जीवन के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ करने का आपको क्या अधिकार था?”

अब मेरे लिए वट वृक्ष की आड़ में खड़ा रहना असंभव हो गया। मैंने सोचा कि यह व्यक्ति युधिष्ठिर को निरुत्तर कर देगा। उत्तर देने में उनकी व्यग्रता स्पष्ट दिखाई दे रही थी। मैं तुरंत वट वृक्ष से निकलकर सभा की ओर लपका।

मुझे अचानक उपस्थित देखकर पूरी सभा सकंवर में आ गई। वट के तने के पीछे से अप्रत्याशित निकलते देखकर लगा जैसे खंभ फाड़कर नृसिंह अवतार हुआ हो। एक विस्मय भरा सन्नाटा लोगों की आकृतियों पर उभर आया। पहले तो वे सकपकाए, फिर सबके सब मेरे स्वागत में खड़े हो गए।

मैंने उन्हें बैठाते हुए कहा, “राजा प्रजा के समक्ष इस सीमा तक उत्तरदायी नहीं होता जिस सीमा तक आप उसके बारे में सोच रहे हैं।”

सबकी चुप्पी और गहरी हो गई तथा निगाहें मुझपर गड़ीं। इसके बाद मैंने आगे बढ़कर युधिष्ठिर के चरण छुए। उन्होंने मुझे वक्ष से लगा लिया। उनके नेत्र पिघलने लगे। उन्होंने कुछ कहा नहीं। अश्रुकणों ने अवश्य अपना परिचय दिया कि हम पश्चात्ताप के आँसू हैं। अब मेरी दृष्टि द्रौपदी की ओर गई। वह एकदम गंभीर थी, भीतर से उबलती हुई।

इसके बाद ही मैंने इंद्रप्रस्थ से आई प्रजा से बातें आरंभ कीं—“बहुत कम धरती पर ऐसे राजा हुए होंगे, जिन्हें प्रजा का ऐसा समर्पण और ममत्व प्राप्त हुआ हो। मैं तो आपकी आँखों से टपकती पीड़ा को देख रहा हूँ। कितना कष्ट है आपको धर्मराज से बिछुड़ने का! पर अब क्या किया जाए? जो होना था, वह हो चुका है। यह भी मत समझिए कि इसमें किसीका दोष था। यह सब तो नियति का खेल है। जैसी भवितव्यता होती है, हमारी बुद्धि वैसी ही हो जाती है। कर्ता हमीं दिखाई देते हैं, पर वास्तविक कर्ता कोई और होता है। जिसे हम दोषी समझते हैं, वस्तुतः वह दोषी नहीं होता।

“जुआ तो एक माध्यम था। खेल तो नियति का था। वह किसीके भी साथ ऐसा खेल खेल सकती है। आज महाराज युधिष्ठिर के साथ उसने ऐसा किया; कभी राजा नल के साथ उसने ऐसा किया था। इसी जुए के माध्यम से दोनों राजा रंक हुए हैं। आपके भाग्य में भी ऐसा हो सकता है। आपको भी कोई शकुनि छल सकता है।”

“हम भाग्य की बात तो नहीं जानते, पर हममें से कोई शकुनि नहीं हो सकता।” उसी पूर्व नगर प्रमुख ने मेरे भाषण में हस्तक्षेप किया।

“इसे आप कैसे जानते हैं कि आपके बीच कोई शकुनि नहीं है?” मैंने हँसते हुए कहा, “शकुनि के कोई ‘सींग-पूँछ’ तो है नहीं!”

“वह बिना ‘सींग-पूँछ’ का पशु है।” यह आवाज भीड़ की थी।

“यदि पशु होता तो जुआ न खेलता।” मैंने बड़ी गंभीर ध्वनि में कहा, “क्योंकि पशु जुआ नहीं खेलते। जुआ तो बस मनुष्य खेलता है। और यदि मैं यह कहूँ तो शायद अधिक गलत नहीं होगा कि जिसकी मनुष्यता जितनी ऊँची होती है वह उतना ही हारता है। फिर भी खेलता है। विचित्र है यह मनुष्य भी।”

मेरे इस व्यंग्य ने युधिष्ठिर पर हजारों घड़े पानी डाल दिए।

सभा को भी जैसे पाला मार गया। कोई कुछ बोल नहीं पाया। सब एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए।

मैंने फिर सन्नाटे को तोड़ा—“महाराज को आप सबका कृतज्ञ होना चाहिए। आपने उन्हें पितृवत् प्रेम दिया, समर्पण और सहयोग दिया। फिर भी आप उनके भाग्य का लिखा मिटा तो सकते नहीं थे। फिर आपका यह भी सौभाग्य था कि आपको ऐसा धर्मात्मा राजा मिला था, जिसका जोड़ आज धरती पर नहीं; जो हर तरह की विपत्ति स्वीकार करते हुए धर्म से जरा भी विचलित नहीं हुआ। ऐसे राजा इतिहास में हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि आदि की तरह अमर होते हैं। अब मेरी बात मानिए और तेरह वर्षों के लिए इन्हें छोड़ दीजिए। प्रभु से प्रार्थना कीजिए कि ये इस बीच तपस्या की अग्नि में तपकर खरे सोने की तरह निकलें और फिर वन से लौटकर श्रीराम की तरह आप पर शासन करें।”

“तेरह वर्ष तो एक युग होता है।” फिर भीड़ से आवाज आई।

“हाँ, होता तो है; पर बीतते देर नहीं लगती।” मैंने कहा। फिर किंकर्तव्य की स्थिति और एक गंभीर सन्नाटा।

इंद्रप्रस्थवासी पांडवों को छोड़ना नहीं चाहते थे। पर वे क्या करते! विवश थे। वे अपने लौटने का कार्यक्रम बनाने पर मजबूर हुए।

आँसुओं से भीगी वह संध्या सचमुच सिसकती रही, जब उन्होंने हमें छोड़ा।

□

काम्यक वन शायद आरण्यक क्षेत्र का अंतिम वन है। इसके बाद मरुभूमि का आरंभ है। सरस्वती भी आगे चलकर लुप्त हो जाती है। इसीलिए यहाँ की जलवायु में दिन में उष्णता अधिक होती है और रात्रि में शीत। संध्या और सवेरा बड़ा लुभावना होता है। पर आज की संध्या इतनी उदास और खिन्न थी कि किसीने किसीसे बात तक नहीं की। यों पांचाल से आए धृष्टद्युम्न, केकय से पधारे बृहत्क्षत्र तथा चेदि से आया धृष्टकेतु—सभी मुझसे मिले और अभिवादन एवं कुशलक्षेम के बाद अपने-अपने शिविर में चले गए; जैसे किसीके पास कोई नई बात ही न हो।

धीरे-धीरे रात्रि का श्याम आस्तरण बिछ गया। लोग शिविरों में चले गए। मशालें जलाई गईं। यह सारी व्यवस्था भी उसी प्रजा की ओर से की गई थी, जो अब चली गई थी। जो दो-चार लोग बचे थे, वे अब जा रहे थे। इसीलिए यह व्यवस्था राजसी न थी। शिविर भी लगभग छोटे-छोटे, किसी तरह एक-दो लोगों के लिए एकाध रात के लायक। पर्णाच्छादित कोरी धरती पर, वात्याचक्र और अंधड़ की कृपाकांक्षा करते हुए।

इस क्षेत्र में बहुधा दिन और रात के तापमान में इतना अंतर पड़ता रहता है कि वात्याचक्र आते रहते हैं। तब ऐसे झोंपड़ों को तो हवा पंख कटे कपोतों की तरह जिधर चाहती है, उड़ा ले जाती है। इस स्थिति में सबसे पहले मशालें बुझाई जाती थीं, इसका हमें अनुभव था।

आज की प्रकृति रोज की अपेक्षा अधिक शांत थी। हमारी उदासी और पीड़ा का उसपर पूरा प्रभाव था। हम लोगों ने आखिर के तीन शिविर चुन लिये थे। यह काम छंदक ने किया था; क्योंकि हमारे आतिथेय तो अपने ही दुःख में श्लथ थे। उनमें किसीकी खोज-खबर लेने की इतनी सुधि कहाँ।

मुझे तो हर स्थिति में सुखी रहने का अभ्यास था। मैं उन्हीं तीन में से पहले शिविर की पर्ण-शय्या पर एक वस्त्र बिछाकर लेट गया और द्वार पर जल रही मशाल की लौ को देखता रहा।

मुझे ऐसा लग रहा था कि पूरा आर्यावर्त मशाल की एक लौ है, जो ऐसा विषाक्त धूम उगल रहा है, जिससे वर्तमान तो घुट ही रहा है, भविष्य के मुख पर भी कालिख पुत रही है। हर जलनेवाले की अंतिम परिणति कालिख ही है। कौरवों के हाथ में भी अंत में कालिख के सिवा कुछ न रहेगा; पर इस समय तो उनकी महत्त्वाकांक्षा भभक रही है।

ऐसे में मेरा कर्तव्य क्या है? आगे बढ़कर इस लौ को बुझा दूँ या हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ का निस्पृह द्रष्टा हो जाऊँ? जो कुछ हो रहा है, उसे एक तमाशबीन की तरह देखता रहूँ? मेरा यह चिंतन धीरे-धीरे बैखरी में परिवर्तित होने लगा। अब मैं बड़बड़ाने लगा कि सिरहाने बैठी द्रौपदी बोल पड़ी—“ऐसा कैसे हो सकता है? क्या वन-वन भटकने के लिए तुम द्रौपदी को ऐसे ही छोड़ सकते हो? स्वयंवर के पूर्व तुमने मुझसे क्या-क्या वादे किए थे! मैं उस समय भी तुमसे प्रेम करती थी और आज भी करती हूँ। जब मैं स्वयं को तुम्हें समर्पित करना चाहती थी तब तुमने कहा था कि मैं तुम्हें एक ऐसे व्यक्ति को सौंपना चाहता हूँ, जिसमें और मुझमें कोई विशेष अंतर नहीं है। और हस्तिनापुर की सारी कहानी छिपाकर स्वयंवर का नाटक रचा गया था। उसकी परीक्षा को अर्जुन के अनुकूल बनाने के सारे दौंव-पेंच लगाए गए थे।”

उसकी यह अप्रत्याशित आवाज मुझे जैसे झकझोर गई। वह बोलती रही—“तुम्हारे ही कहने पर मैंने कर्ण का विरोध किया था।” यह एकांत उसे खुलकर कहने के लिए काफी अनुकूल था—“मैं तो कर्ण पर पहली दृष्टि में ही मोहित हो गई थी। ऐसा तेजोमय और ओजस्वी व्यक्तित्व मैंने पहली बार देखा था; पर तुमने बार-बार अपने संकेतों से मुझपर दबाव डाला और ऐसी बात कहवाई, जो सचमुच मुझे नहीं कहनी चाहिए थी। उस अपमान के दंश से आज तक वह तिलमिला रहा है। यदि वह मुझे पा जाए तो कच्चा चबा जाए।”

“वह तुम्हें पा जाए तो क्या करेगा, यह तो वही बता सकता है।” मैंने हँसते हुए कहा, जिससे द्रौपदी की वाणी की दाहकता थोड़ी कम हो।

“तुम्हें इस परिस्थिति में भी परिहास सूझता है!” मेरे सोच के विपरीत उसकी दाहकता और भभक उठी। उसने अपने खुले हुए केश दिखाते हुए कहा, “इस वेणी को देखते हो, जिसके केश बिखरे हैं! और तब तक बिखरे रहेंगे जब तक मैं इन्हें दुःशासन के रक्त से धो न लूँगी। इन्हें दुःशासन खींचता हुआ मुझे हस्तिनापुर की उस सभा में ले आया था—और यह स्थिति केवल इसलिए आई थी कि कर्ण का प्रतिशोध मेरे विरुद्ध किसी सीमा तक जाने को तैयार था। यदि मैंने उसका अपमान न किया होता तो वह देववर्णी व्यक्तित्व नीचता की इस परिधि तक न आता।”

मेरे मुख से तुरंत निकला—“तुम कैसे जानती हो कि वह देववर्णी है?”

पर उसका कहना अँधेरे में मारा गया तीर था, जो अपने निश्चित लक्ष्य पर और निश्चित समय पर लगा दिखाई दिया। उसने उलटे प्रश्न किया—“उसे देखने पर तुम्हें ऐसा नहीं लगता?”

मैं कुछ बोल न सका। रहस्य को रहस्य ही रहने दिया।

वह बोलती गई—“यदि उसका सहयोग न मिलता तो स्थिति यहाँ तक न आती। उसीके बल पर कौरव कूदते हैं और उसीके प्रतिशोध की भावना से स्थिति यहाँ तक आई कि आज हम जंगल की धूल फाँक रहे हैं।”

फिर वह क्षण भर के लिए रुकी। उसकी मुद्रा बदली। उसने कहा, “तुम्हीं ने अनेक बार कहा है कि जो मुझे जिस भाव से देखता है, मैं उसे उसी भाव से देखता हूँ। मैं पहले भी तुमसे प्रेम करती थी, पर दूसरे भाव से; आज भी प्रेम करती हूँ, पर दूसरे भाव से। मैं पहले भी तुम्हारी प्रेमिका थी, आज भी हूँ; तो क्या तुम मेरी समस्या को निस्पृह भाव से ही देखते रहोगे—जैसे इस मशाल को देख रहे हो?”

“नहीं, द्रौपदी, नहीं।” मैंने कहा।

फिर भी उसने मुझे सुना नहीं और बोलती गई—“अग्निकुंड से उत्पन्न मेरी तेजस्विता को क्या तुम धूल में ही मिला देना चाहते हो? बोलते क्यों नहीं?”

मैं मौन उसकी ओर देखता और मुसकराता रहा।

“तुम्हें इसलिए भी मेरी रक्षा करनी चाहिए कि तुम मेरे संबंधी हो और सभी दृष्टियों से समर्थ हो। यदि तुम भी मेरे पतियों की तरह निरुपाय और असमर्थ होते तो मैं तुमसे कुछ न कहती।” इसके बाद द्रौपदी ने बड़ी लगती बात कही—“क्या पांडवों का यह हुआ अपमान तुम्हारा अपमान नहीं है? क्या हमारे अपमानित होने के बाद भी तुम सम्मानित रह जाओगे?”

मैंने अनुभव किया कि द्रौपदी आपे से बाहर है। यदि उसे नहीं सँभाला तो वह फूटकर बिखर जाएगी। मैंने कहा, “द्रौपदी, तुम धैर्य रखो। आज तुम जिस तरह दुःखी हो, उसी तरह कौरवों की स्त्रियाँ भी एक दिन दुःखी होंगी, रोएँगी—दहाड़ें मारकर रोएँगी। उनके आँसू पोंछनेवाला भी कोई नहीं रहेगा। तुम विश्वास करो, पांचाली, थोड़े ही दिनों में अर्जुन के बाण ऐसा प्रलय मचाएँगे कि कौरवों को धरती नहीं दिखाई देगी और न आकाश।”

“पर कब? जब हम धरती में हमेशा के लिए सो जाएँगे तब?” वह बोली।

“जब नियति की भृकुटि फिरेगी तब!” अब मैं आवेश में था—“और वह किसी भी समय फिर सकती है। तुम विश्वास करो। आकाश फट सकता है, हिमालय धूल हो सकता है, समुद्र सूख सकता है; पर मेरी बात झूठी नहीं हो सकती, द्रौपदी!”

इस पूरे घटनाक्रम में पहली बार द्रौपदी ने थोड़ी शांति का अनुभव किया।

□

दूसरे दिन प्रातः सरस्वती में जब स्नान करने चला तब मेरे साथ छंदक और दारुक भी थे। दोनों गंभीर थे। दोनों

पर यहाँ की परिस्थिति का काफी गहरा असर पड़ा था। मैंने दोनों को हलका करने के लिए परिहास की मुद्रा में दारुक से कहा, “अच्छा होता तुम अपने दोनों घोड़ों को भी साथ ले लेते। कम-से-कम हिनहिनाते हुए तो चलते।”

दारुक बिल्कुल समझ नहीं पाया कि मैं क्या कह रहा हूँ। वह सकपकाया-सा मेरा मुख देखता रह गया। प्रतिक्रिया व्यक्त की छंदक ने—“दोनों सरस्वती में डुबकी लगाते। हो सकता है, इससे उन अश्वों की ही सरस्वती जाग उठती।”

“अरे, जिनकी सरस्वती जागी हुई है, जब मैं उन लोगों को किसी विषम स्थिति में घोड़ों जैसा मुँह निकाले हुए मौन देखता हूँ, तब मैं उन घोड़ों की ही सरस्वती जगाकर क्या करूँगा!”

अब दारुक मुसकराया। उसने मेरा व्यंग्य समझा।

फिर भी छंदक गंभीर था। वह विचित्र मुद्रा में बोला, “सचमुच अब पांडवों को बारह वर्ष वन में और एक वर्ष अज्ञातवास में बिताना पड़ेगा?”

“लगता तो ऐसा ही है।”

“आप किसी मध्यम मार्ग के विषय में नहीं सोच रहे हैं?”

“अभी हमारे सोचने का समय नहीं आया है।”

“आप भी विचित्र बात करते हैं!” छंदक कुछ झुंझलाया—“आखिर आपके सोचने का समय कब आएगा?”

“अपने वचन के अनुसार पांडवों को सफलतापूर्वक तेरह वर्ष बिता लेने के बाद।” मैंने कहा, “मुझे नहीं लगता कि इसके पहले कुछ संभव है।”

अब हम लोग सरिता के तट पर आ चुके थे। धृष्टद्युम्न उधर से स्नान करके पांचाल से आए अपने सहयोगियों के साथ लौटा आ रहा था। उसे देखते ही बातों का क्रम थम गया।

“मैं यहाँ से सीधे आपके यहाँ ही जा रहा था।” उसने कहा।

मैंने कहा, “रात काफी देर से सोया।” द्रौपदी के आने और उससे हुई वार्ता की चर्चा मैंने बिल्कुल नहीं की—“इसीसे आज ठीक समय से उठ नहीं पाया।”

इसके बाद वह अपने साथियों को छोड़कर मेरे साथ हो गया। एकदम शांत, गंभीर और चिंतित; जैसे श्मशान की ओर चल रहा है।

मेरे स्नान की सारी शांति और उन्मुक्तता धृष्टद्युम्न की अशांति ने छीन ली। न मैं छंदक के साथ हँस-बोल पाया और न अपनी प्रकृति के अनुसार तैर ही सका। किसी धारा में बिना संतरण के स्नान मेरे लिए वैसा ही आधा-अधूरा था जैसे बिना वंशी के मेरा जीवन।

मार्ग में वह कुछ नहीं बोला। उसे दारुक की उपस्थिति कुछ खल रही थी। शिविर में लौटते ही वह बोल पड़ा—“पांचाल से चलते समय ही मैं सेना सन्नद्ध रखने का आदेश दे आया हूँ।”

मैंने वैसी ही गंभीरता से पूछा, “क्यों, किसलिए?”

मेरा यह प्रश्न उसे बड़ा अटपटा-सा लगा। फिर उसने कहा, “आप क्या समझते हैं, युद्ध के अतिरिक्त भी इस समस्या का कोई समाधान है?”

“संप्रति कोई दूसरा समाधान तो नहीं है।” मैंने कहा, “क्योंकि दुर्योधन की महत्वाकांक्षा और कर्ण का प्रतिशोध युद्ध से कम पर शांत नहीं होगा।”

“तब युद्ध की तैयारी पर आपने शंका क्यों व्यक्त की?”

“युद्ध की अनिवार्यता तो है; क्योंकि इस समस्या के समाधान का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।” मैंने कहा, “पर मैं

हारने के लिए युद्ध करने के पक्ष में नहीं हूँ।”

“यह आप कैसे समझते हैं कि युद्ध में आपकी हार ही होगी?”

“क्योंकि इस अन्याय को पूरा आर्यावर्त अभी जानता नहीं है।” मैंने कहा, “पहले इस अन्याय का अच्छी तरह प्रचार होना चाहिए; क्योंकि बिना जनमत को पक्ष में किए कोई युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। फिर हमें या आपको तो लड़ना है नहीं। लड़ना तो पांडवों को है। अग्रणी तो उन्हींको होना है।”

“अर्जुन, भीम, नकुल—सभी युद्ध के पक्ष में हैं।”

मुझे हँसी आ गई।

“पर धर्मराज हैं या नहीं?” मैंने पूछा, “आगे तो उन्हींको रहना है। द्यूतयुद्ध में वे ही आगे थे।”

“वह तो द्यूतक्रीड़ा थी। उसमें उनकी रुचि है।”

“जी नहीं, वह द्यूतयुद्ध था, जो पासों से चौपड़ पर हुआ। उसमें कौरवों ने व्यूह-रचना की। सेनापति का चुनाव भी उसी व्यूह-रचना का एक अंश था।” मेरे इतना कहते ही धृष्टद्युम्न चुप होकर कुछ सोचने लगा।

धृष्टद्युम्न पांडवों का सबसे बड़ा हितैषी था। वह द्रौपदी का सहोदर ही नहीं था, सहाग्नि भी था। दोनों पुत्रेष्टि यज्ञ की उपलब्धि थे। यज्ञ की तेजस्विता दोनों के व्यक्तित्व में विद्यमान थी; फिर उसके पिता द्रुपद और द्रोण का विरोध जग-जाहिर था। द्रोण इस समय कौरवों के प्रभाव में थे। हस्तिनापुर और पांचाल का पुश्तैनी विरोध भी था। सब मिलाकर स्थिति ऐसी थी कि धृष्टद्युम्न कुछ भी करने को तैयार था। अतएव मैंने उससे सारी बातें खुलकर कीं; जैसा मैं युधिष्ठिर के सामने नहीं कर सकता।

“युद्ध तो अंतिम उपाय है।” मैंने उसे समझाया—“जब कोई रास्ता दिखाई न देगा तब तो युद्ध होगा ही। यहाँ हम लोग इसी पर तो विचार करने आए हैं। बल्कि आए नहीं, बुलाए गए हैं। देखें, इस स्थिति में युधिष्ठिर क्या सोचते हैं! आखिर सब तो उन्हींको करना है।”

“उनकी मंशा का पता तो कल इंद्रप्रस्थ से आई प्रजा के सामने व्यक्त उनके विचारों से स्पष्ट हो गया है। आपने देखा नहीं कि प्रजा कितनी हताश और निराश होकर गई है! उसका वश चलता तो कौरवों को कच्चा चबा जाती।”

“यदि उसका वश चलता तब तो!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “कुछ शिलाखंडों के भभक उठने से ज्वालामुखी नहीं बनता।”

अंत में निश्चय हुआ कि आज की बैठक में हमें किसी निष्कर्ष पर अवश्य आ जाना चाहिए। इसके बाद मैं चला गया।

अपराह्न में ही हम लोग उस वट के नीचे उपस्थित हुए, जहाँ आज की बैठक आहूत थी। मेरे रथ से उतरते ही केकय से पधारे बृहत्क्षत्र मेरे पास आया। बोला, “मुझे आपसे बहुत सी बातें करनी हैं, पर अवसर नहीं निकाल पाया।”

“यही स्थिति तो मेरी थी।” मैंने कहा, “फिर मैंने सोचा कि जब तक पांडवों की इच्छा की सही जानकारी न मिले कि वे वस्तुतः क्या चाहते हैं तब तक हम लोगों के कुछ सोचने या आपसी विमर्श का कोई मतलब नहीं है।”

मैंने आते ही देखा कि एक ओर भीम युधिष्ठिर से किसी बात पर उलझ रहा है और दूसरी ओर अर्जुन को द्रौपदी कुछ समझा रही है। नकुल और सहदेव चुपचाप समितिस्थल पर मुँह लटकाए बैठे हैं।

यह तो मैं पहले से जानता था कि सभी भाइयों में मतैक्य नहीं है। इस समय तो स्थिति विस्फोटक है। मैंने कहा, “आपने अपने लोगों को बुलाया है और आपस में आप ही उलझे लगते हैं। ऐसे में आप हमारी स्थिति का क्या लाभ उठा सकते हैं? हमारा आना किस सीमा तक आपके लिए सार्थक हो सकता है?”

मेरे कथन का तत्काल प्रभाव पड़ा। लोग चुपचाप आकर बैठ गए।

तब मैंने कहा, “अब महाराज ही बताएँ कि ऐसी विषम स्थिति पांडवों के सामने क्यों आई और महाराज हमसे क्या आशा करते हैं?”

सब एक-दूसरे का मुँह देखते हुए चुप रह गए।

महाराज ने बड़े टूटे मन और भीगी आवाज में बोलना आरंभ किया—“स्थिति से तो आप महानुभाव अवगत होंगे ही। इस सारे संकट के मूल में मैं ही हूँ। यही मेरे भाई कहते हैं। यही आप लोग कहेंगे और आगे चलकर यही संसार भी कहेगा।”

“क्योंकि आप परिवार-प्रमुख हैं।” मैंने देखा कि जब युधिष्ठिर स्वयं टूट चुके हैं तब मुझे उन्हें सँभालना चाहिए—“परिवार की सफलता एवं असफलता का दायित्व उसके प्रमुख पर आता है। यही स्थिति राज्यों में शासकों की भी होती है। सभी परिणामों का यश और अपयश प्रजा उसीको देती है; पर वह यह नहीं जानती कि राजा को किन परिस्थितियों में यह करना पड़ा है। इसलिए महाराज से मेरा यह निवेदन है कि संसार क्या कहता है या परिवार के लोग क्या कहते हैं, इसपर जरा भी ध्यान न दें और वस्तुस्थिति से अवगत कराएँ।”

“वस्तुस्थिति भी आप लोग बहुत कुछ जानते हैं।” उन्होंने कहा, “मैं तेरह वर्ष के लिए राजपाट से अलग कर दिया गया हूँ।”

“क्या आप जानते हैं कि तेरह वर्ष बाद राजपाट आपको फिर मिल जाएगा?” इस बार बृहत्क्षत्र बोला।

“हाँ, मिल तो जाना चाहिए।” उन्होंने सोचते हुए कहा, “महर्षि का कहना तो यही था।”

“किस महर्षि का?” बृहत्क्षत्र ने ही यह जिज्ञासा की।

“महर्षि वेदव्यास का।”

“इस द्यूतक्रीड़ा में उनकी क्या भूमिका थी?” बृहत्क्षत्र की जिज्ञासा बढ़ी।

युधिष्ठिर ने कहा, “द्यूतक्रीड़ा में तो उनकी कोई भूमिका नहीं थी; पर हमारे ग्रह-नक्षत्रों की गणना कर उन्होंने बताया था कि आगामी तेरह वर्ष पांडवों के लिए अत्यंत संकटापन्न होंगे।”

“तो भी आप अब भी कौरवों की नीचता को इस स्थिति का दोषी नहीं समझते?”

“कैसे समझूँ?” युधिष्ठिर की उदास निराशा बोल उठी—“जब मेरे ही ग्रह-नक्षत्र अनुकूल नहीं हैं तो दूसरों को कैसे दोष दूँ?”

मैंने मन-ही-मन माथा ठोका। अद्भुत है यह व्यक्ति भी। इतना बड़ा धोखा खाने के बावजूद यह अब भी कौरवों को दोषी नहीं मानता।

“जब आप जानते थे कि ग्रह-नक्षत्र राजपाट आपके पास रहने नहीं देंगे, तो फिर जुए में हारने की आवश्यकता क्या थी? आप ऐसे ही कौरवों को दे देते। उनपर आपका अहसान भी होता और आप लोगों की इतनी खराब स्थिति भी न होती।”

“यदि मैं कर पाता तब तो!” युधिष्ठिर बोले।

उनके इतना कहते ही भीम तैश में आ गया—“आपको रोक कौन रहा था? और आप किसीकी माननेवाले तो हैं नहीं, जो आपको रोकता।” आवेश में आकर भीम खड़ा हो गया और युधिष्ठिर की ओर संकेत करके बोलने लगा—“आप लोग इनसे पूछिए—पहली बार जुए में हारने और इतना अपमान सहने के बाद भी दूसरी बार खेलने के लिए फिर तैयार होने की क्या आवश्यकता थी; जबकि मालूम था कि हम फिर हराए जाएँगे और फिर उन्हीं पासों से वही व्यक्ति खेलेगा?”

“न खेलता तो क्या करता?” युधिष्ठिर की आवाज पहले से तेज हुई—“तुम लोगों ने देखा नहीं कि कौरवों ने हमें किस तरह घेर रखा था! हमें हस्तिनापुर से इंद्रप्रस्थ तक तो आने दिया नहीं।”

“आपने स्वयं आना नहीं चाहा। नहीं तो किसमें हिम्मत थी कि हमें रोकता!” इस बार भीम का क्रोध अपने पूरे उफान में था।

“अरे भाई, क्या बात करते हो!” युधिष्ठिर ने लगभग उतने ही ऊँचे स्वर में कहा, “हम चारों ओर से कौरवों से और उनके सहायकों तथा मित्रों की सेना से घिरे थे।”

“तो उनके घेरने से क्या होता है!” भीम फिर बोला, “आपने स्वयं निकलना नहीं चाहा।”

“इसलिए निकलना नहीं चाहा कि जरा भी हमारी ओर से कुछ होता तो रक्तपात हो जाता।” युधिष्ठिर बोले, “और यही मैं नहीं चाहता।”

“आपके चाहने से क्या होगा! आपके ग्रह यदि चाहते हैं तो रक्तपात होगा ही।” इस बार द्रौपदी बोली।

युधिष्ठिर चुप हो गए। यह व्यंग्य उन्हें चुभ गया। उनकी आकृति क्रोध में लाल हो गई—एकदम भीतर से धधकती हुई। युधिष्ठिर इतने आवेश में बहुत कम आते थे। मैंने देखा कि स्थिति तनावपूर्ण होती जा रही है। यदि बीच-बचाव नहीं किया गया तो यह और भी भयंकर रूप ले सकती है।

मैं तुरंत खड़ा हो गया। मैंने कहा, “अब इसका विचार करने की आवश्यकता क्या है? जो हो चुका, वह तो हो चुका। समझिए, वह एक दुःखद स्वप्न था, जो भंग हुआ। एक और लाक्षागृह था, जो भस्म हो गया। अब तो कष्टप्रद अतीत को भुलाने और सुखद भविष्य की कल्पना में ही आपका कल्याण है। उसीसे आपको शक्ति और ऊर्जा मिलेगी। अब हमें सोचना है कि करणीय क्या है।”

मेरी बात सुनकर सब चुप हो गए और मेरी ओर देखकर प्रतीक्षा करने लगे कि मैं उन्हें कोई कार्यक्रम दूँगा; पर मैं ऐसी भूल करनेवाला नहीं था, क्योंकि मैं जानता था कि युधिष्ठिर के मन में व्यास की भविष्यवाणी का भय ऐसा समाया था कि वे परिस्थिति का कुछ भी प्रतिरोध करना नहीं चाहते थे। नकुल ने इनके एक तर्क का उल्लेख द्वारका में किया था। उसने कहा था कि भैया का कहना है कि महर्षि ने भी तेरह वर्ष का संकट बताया था और दुर्योधन ने भी बाजी तेरह वर्ष की लगाई, तो एक ही संख्या दोनों ओर से क्यों आती?

धर्मराज ने इसी तरह की बात इस समय भी शुरू की, जिसका बृहत्क्षत्र ने तुरंत प्रतिवाद किया—“इस बाजी के पीछे दुर्योधन की कुत्सित मंशा है।”

इतना सुनते ही लोगों की प्रश्नवाचक मुद्रा बृहत्क्षत्र की ओर हुई। वह कहता रहा—“बारह वर्ष का एक युग होता है। यदि एक युग तक कोई व्यक्ति अदृश्य रहे तो उसे मरा हुआ मान लिया जाता है। धर्मशास्त्रों में उसकी अंत्येष्टि करने का विधान है। इसी तरह यदि कोई धरती किसीके पास बारह साल तक न रहे और वह इस समय के भीतर अपना अधिकार न जताए तो वह सदा के लिए उसकी हो जाती है, जिसके पास वह रहती है। इसीलिए एक वर्ष अज्ञातवास का नाटक भी रचा गया है।”

बृहत्क्षत्र की इस घोषणा के बाद पांडव चिंतित हो गए।

“पर चौदह वर्ष के वनवास के बाद राम ने अपना राज्य पा लिया था!” युधिष्ठिर बोले।

बृहत्क्षत्र हँसा। उसकी हँसी पांडवों के अज्ञान पर धूल उड़ाती निकल गई। उसने हँसते हुए ही कहा, “वस्तुतः वह भरत की महिमा थी, जिसने उस राज्य को कभी स्वीकार ही नहीं किया और सिंहासन पर राम की खड़ाऊँ रखकर उनका अस्तित्व बनाए रखा। कैकेयी की सारी पेशबंदी बेकार गई। अयोध्या की स्थिति भी दूसरी थी। यद्यपि कैकेयी ने अपनी ओर से कोई कमी छोड़ नहीं रखी थी।”

“क्यों रखती! आखिर थी तो आपके वंश की महिला!” मैंने परिहास की दृष्टि से कहा था। सोचा था कि यहाँ का तनाव कुछ ढीला पड़ेगा। कुछ गुदगुदी अवश्य लगी; पर अधिक प्रभावकर नहीं हुई। वातावरण गंभीर ही रहा।

अब मैंने फिर स्थिति को सामान्य करने की चेष्टा की और समझाया—“अरे भाई, तेरह वर्ष बाद जो होगा, देखा जाएगा। यहाँ तो एक-एक दिन में परिस्थितियाँ बदल रही हैं। कोई सोच सकता था कि राजसूय यज्ञ करनेवाले इतने प्रतापी राजा की यह दशा हो जाएगी। फिर हम किसी स्थिति का केवल श्याम पक्ष ही क्यों सोचें! तेरह वर्ष बाद तो बादल छँटेंगे; फिर दिन बदलते देर नहीं लगेंगे। इसलिए महाराज की इच्छा का अक्षरशः पालन करें।”

“उनकी आज्ञा का परिणाम ही था कि हम इस स्थिति में आ गए।” भीम ने दबी जबान से कहा।

अब मैंने अपना तेवर बदला—“यदि आज्ञा-पालन नहीं करोगे तो अब क्या कर लोगे? अब तो एकजुट रहना आपका पहला धर्म है। यदि आपके विरोधी सुनेंगे कि आप आपस में ही लड़ रहे हैं तब तो जो खुशी वे तेरह वर्ष बाद मनाने की कल्पना कर रहे हैं, उसे आज से ही मनाने लगेंगे। आप स्वयं को आज से ही पराजय के मुँह में ढकेल देंगे।”

लोग एकदम शांत हो गए। भीम तो लगभग बुझ-सा गया। पर मैं बोलता गया—“इसलिए मैं फिर कह रहा हूँ कि जो हो गया, उसे भूल जाइए। जो हो रहा है, उसके लिए तैयार होइए और जो होने वाला है वह मुझपर छोड़ दीजिए।”

□

जब मैं अपने शिविर में आया, संध्या उतर आई थी। आश्विन की चिलचिलाती दोपहरी का अंत सुहावना था। पूर्व के आकाश में अभी-अभी उगा चंद्रबिंब कुछ बड़ा, पर धुँधला दिखाई दे रहा था; जैसे प्रकृति के किसी युवा खिलाड़ी ने किसी पदकंदुक को आकाश में मारा हो और वह वहीं टँग गया हो। आज आश्विन पूर्णिमा थी—शरद पूर्णिमा। तरह-तरह की कल्पनाएँ मन में उठने लगीं।

आज की इस बैठक की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आरंभ से अंत तक छंदक मेरे साथ था और चुप था।

शिविर में आकर मैंने उसे खोदा—“आज बड़े शांत थे, छंदक!”

“जब सभी अशांत थे तो ऐसी स्थिति में शांत ही रहना मैंने उचित समझा।”

“आज तो बड़ी समझदारी की बात कर रहे हो, छंदक!” मैंने कहा।

पर अभी भी छंदक गंभीर था। वह थोड़ी देर बाद बोला, “मुझे तो लगता है कि तेरह वर्षों बाद भी पांडवों को सिंहासन आसानी से नहीं मिलेगा।”

“लगता तो मुझे भी है।” मैंने कहा, “पर यह बात अभी कहने की नहीं है। मन में रखकर उस स्थिति की तैयारी करने की है।”

मैंने और मंथन किया। फिर अपना निष्कर्ष छंदक को सुनाया—“यह तैयारी दो स्तरों पर होनी चाहिए। पहले स्तर पर तो स्वयं पांडवों को मानसिक रूप से दृढ़ करना चाहिए, जिससे वे आनेवाली सभी परिस्थितियों का दृढ़ता से सामना कर सकें और दूसरे स्तर पर पूरे आर्यावर्त में इस अन्याय का प्रचार होना चाहिए।”

“यहाँ तो एक ही स्तर पर हमें सोचना है, वह है पांडवों का मनोबल बढ़ाना।” छंदक बोला, “सबसे बड़ा संकट तो यह है कि वे एक निष्कर्ष पर नहीं हैं।”

मैंने उसकी बात को मौन स्वीकृति दी और सरस्वती के तट पर संध्या-पूजन के लिए चल पड़ा। सरस्वती में गोता लगाते-लगाते संध्या डूब चुकी थी। फिर धीरे-धीरे राका निशि की मादकता बरसने लगी। सिकता कणों में चंद्रकिरण की जगमगाहट अद्भुत थी। मैंने छंदक की गंभीर मनःस्थिति को गुदगुदाया—“यह नीरव एकांत, ऐसी मादक राका और यह सरिता का तट। छंदक! ऐसे वातावरण में तुम्हारा मन और कहीं तो नहीं रम रहा है?”

“हाँ, आपके साथ वृंदावन में रम रहा है।” उसके चेहरे पर मुसकराहट आ गई। स्पष्ट लगा कि उसका तनाव ढीला पड़ा। हम लोग यमुनातट पर अपनी किशोरावस्था की स्मृति में जीने लगे।

आज व्यतिक्रम हो गया। संध्या का पूजन रात्रि में किया। डूबते हुए सूर्य को अर्घ्य न देकर मैंने पश्चिम को अर्घ्य दिया। हमारे यहाँ आपद्धर्म में इस सबकी व्यवस्था है। जब रात को वहाँ से चला तब चाँदनी का रेशमी आँचल अच्छी तरह फैल चुका था।

जब हम रथ पर चढ़ने वाले थे, सामने से दूसरा रथ आता दिखाई दिया। मैंने समझा कि धृष्टद्युम्न अपनी किसी योजना के साथ आ रहा है। हो सकता है, उसके मन में कोई और बात रह गई हो, जिसे वह उस बैठक में कह नहीं पाया हो। अतएव मैं जहाँ था वहीं रुक गया। कुछ पास आने पर मैंने देखा, वह धृष्टद्युम्न नहीं, बृहत्क्षत्र है।

मुझे देखकर वह भी रथ से उतर गया। पैदल चलकर ही मेरे पास पहुँचा और बोला, “मैं शिविर में आपसे मिलने गया था। वहाँ आपको न देखकर समझ लिया कि आप इस समय सरस्वती तट पर होंगे।”

“मेरी इतनी खोज क्यों?” मैंने मुसकराते हुए कहा।

वह एकदम खुल पड़ा—“आप यहाँ की स्थिति तो देख ही रहे हैं। कोई किसीकी बात सुनने और माननेवाला नहीं है। राजनीतिक कूटनीतिज्ञता धर्मराज को तो छू तक नहीं पाई है। ऐसी स्थिति में आप ही पांडवों को सँभालिए। मैं तो कल प्रातः चला जाऊँगा।”

मैंने समझ लिया कि यह सोचता है, मैंने इसके कथन की उपेक्षा की। इसके अहं को धक्का लगा है। मैंने स्थिति सँभाली—“अभी जाने की इतनी जल्दी क्या है! अभी तो हमें आपसे लंबी बात करनी है। आप ही यहाँ एक ऐसे हैं, जिसका चिंतन पांडवों के भविष्य के बारे में अधिक सही लगता है।”

“पर आपकी दृष्टि से तो अभी आगे की बातें सोचना निरर्थक है।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने बृहत्क्षत्र की पीठ पर आत्मीयता का धौल जमाते हुए कहा, “अरे मित्र, यह तो मैंने पांडवों से कहा था। आपकी बातों का प्रतिकार नहीं किया था। मैंने पांडवों से वैसी ही बातें कही थीं, जो हारे और हताश लोगों से कहनी चाहिए।” वह चुपचाप सुनता रहा। मैं कहता गया—“मैं भी तुम्हारे ही मत का हूँ। तेरह वर्षों बाद भी कौरव पांडवों का राज्य आसानी से नहीं देंगे।”

“आसानी से तो जाने दीजिए, वे किसी भी हालत में नहीं देंगे। युधिष्ठिर कितना भी रक्तपात से दूर रहें, पर यही रक्तपात उनके लिए अनिवार्य हो जाएगा।”

“पर इस समय तो हमें पांडवों को तेरह वर्ष तक कष्ट सहने के लिए तैयार करना है।”

“कष्ट ही नहीं, उन्हें दुर्योधन का प्रच्छन्न आक्रमण भी सहना पड़ेगा; क्योंकि उनका मामा, वह जो शकुनि है, महा दुष्ट है।” बृहत्क्षत्र कहता गया—“वह तो चाहेगा कि इस समय के भीतर पांडवों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाए।”

“आखिर वह है तो तुम्हारा ही मित्र न!” मैंने परिहास में कहा।

“हमारा मित्र! यह क्या कहते हो, कन्हैया!” बृहत्क्षत्र बोला, “जब तक वह गांधार में रहा तब तक केकय और गांधार की शत्रुता बराबर बनी रही; यहाँ तक कि सामान्य व्यवहार भी नहीं था। उसके न रहने पर इतना तो हुआ कि महाराज सुबल से बातें होने लगीं।”

“क्या वह जीवन भर यहाँ रहेगा?” मैंने कहा, “तब तो तुम उससे भी बातें आरंभ करो और उसे यहाँ से ले जाओ।” बहुत सी बातें जानते हुए भी मैंने उसे कुरेदा।

वह एकदम खुल गया—“आप बात ही नहीं समझ पा रहे हैं। वह यहाँ नहीं रहेगा तो रहेगा कहाँ? महाराज सुबल

ने उस दुष्ट को घर से निकाल दिया है।”

फिर बृहत्क्षत्र ने वही कथा सुनाई, जिसे आधी-अधूरी मैं सुन चुका था।

उसने बताया—“महाराज सुबल अपनी सुंदर बेटी गांधारी का विवाह एक अंधे राजकुमार से नहीं करना चाहते थे; पर महाराज भीष्म अड़ गए।”

“तब तो गांधारी की सुंदरता ही उसके जीवन के लिए अभिशाप बन गई।” छंदक बोला।

“जी नहीं, एक अंधे के लिए सुंदरता का क्या महत्त्व!” बृहत्क्षत्र ने कहा। हम लोगों को भी हँसी आ गई। उसने बताया—“वस्तुतः बात यह है कि गांधारी ने रुद्र की बड़ी आराधना की थी। सुना है, रुद्र ने उसे सौ पुत्रों की जननी होने का वरदान दिया था। इस वरदान की बात हस्तिनापुर किसी तरह पहुँच गई। इधर हस्तिनापुर निरवंशियों का सिंहासन था। अंधा क्या चाहे, दो आँखें। अब भीष्मजी को अपने अंधे के लिए गांधार में आँखें दिखाई दीं।”

“ओ, तो यह बात थी!” मेरे मुख से निकला।

“सुबल को तो ऐसी आशंका है कि गांधारी के वरदान की बात भी शकुनि ने ही हस्तिनापुर पहुँचाई थी। कहते हैं कि गांधारी और धृतराष्ट्र के विवाह में शकुनि ने प्रच्छन्न रूप से भीष्म की हर तरह से सहायता की।”

“शायद इसीलिए पितामह उसके एहसान से दबे दिखाई पड़ते हैं।” मैंने कहा, “हम लोगों को आश्चर्य था कि क्या बात है कि पितामह शकुनि से इतनी घृणा करते हैं। उसे दुष्ट, नीच और सबकुछ कहते हैं; पर एक बार भी उसे हस्तिनापुर से चले जाने के लिए नहीं कहते।”

“हो सकता है, विवाह के पूर्व दोनों में कोई गुप्त संधि हो गई हो।” बृहत्क्षत्र बोला, “पर इतना तो निश्चित है कि कुत्सित भाई के पाप ने बहन के वरदान को अभिशाप में बदल दिया। शकुनि के स्वार्थ ने अपनी बहन की आँखों पर जीवन भर के लिए पट्टी बाँध दी।”

मैं सोचने लगा। मेरे मौन का अंतराल थोड़ा लंबा हुआ।

“क्या सोचने लगे?” बृहत्क्षत्र ने पूछा।

“इन सारे विषयों से हटकर मैं गांधारी के जीवन संदर्भ पर सोचने लगा।” मैंने कहा, “इसका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्र से विवाह के पीछे गांधारी की बिल्कुल इच्छा नहीं थी।”

“मैंने तो यही सुना है।”

“इतनी गहरी अनिच्छा से हुए विवाह के पीछे ऐसा गहरा पातिव्रत कि पति के अंधे होने से पत्नी भी अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ले!” मैंने कहा।

“तब आप क्या समझते हैं?”

“मैं तो समझता हूँ, आरंभ में उसने घृणा से अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली होगी।” मैंने कहा, “यह घृणा धीरे-धीरे समाप्त हो गई हो और आँखों पर बँधी पट्टी पर पतिव्रता का पानी चढ़ गया हो।”

“यह भी हो सकता है।” बृहत्क्षत्र बोला, “पर इतनी गहराई तक तुम्हीं सोच सकते हो।”

बातों की झोंक में पैदल ही हम सरस्वती तट से चलते हुए अपने शिविर तक आ चुके थे। हमारे रथ, सारथि, छंदक और बृहत्क्षत्र के सेवक भी हमारा अनुसरण कर रहे थे।

मैंने सोचा, बात तो पटरी से उतर गई है। हम लोग किस समस्या का समाधान खोज रहे थे और किस उधेड़बुन में पड़े। शायद वह भी कुछ ऐसी बात सोचते हुए मेरे साथ ही मेरे शिविर में आ गया।

अब मेरे शिविर में हम दोनों ही थे।

बात उसीने शुरू की—“तो अब आपने क्या सोचा है?”

“किसके विषय में?”

“जिसके विषय में हमें इस काम्यक वन में भेजा गया है!” उसने कहा।

मैंने अपना पूर्व निष्कर्ष स्पष्ट रूप से बृहत्क्षत्र को सुनाया—“अभी कुछ भी संभव नहीं है; क्योंकि युधिष्ठिर महाराज की इच्छा के विपरीत जाना संप्रति नहीं हो सकता। इसे तो आप जानते ही हैं कि युधिष्ठिर महाराज अपने धर्मबोध से जितने विवश हैं उतने ही महर्षि व्यास की भविष्यवाणी से भयातुर हैं। वह अपनी हारी हुई बाजी के अनुसार बारह वर्ष का अरण्यवास और एक वर्ष का अज्ञातवास बिताएँगे ही। इस बीच उनके साथ जो अन्याय हुआ है, उन्हें जुए में जैसे हराया गया है, उसका प्रचार हमें योजनाबद्ध रूप से करना चाहिए; जिससे पूरा आर्यावर्त जान जाए कि पांडवों का राज्य हथियाने के लिए किस प्रकार का कुचक्र कौरवों ने रचा है। दूसरी ओर इस बीच पांडव जंगल में घूम-घूमकर अरण्य शक्ति अर्जित करें।”

“अरण्य शक्ति!” बृहत्क्षत्र जोर से हँसा—“कहाँ हस्तिनापुर और कहाँ अधनंगे जंगली लोग! तुम भी क्या बात करते हो, कन्हैया! उनकी शक्ति के भरोसे हम कौरवों का क्या सामना कर सकते हैं?”

“उनकी शक्ति के भरोसे तो श्रीराम ने रावण जैसे शक्तिशाली सम्राट् को पराजित कर दिया था। उन आदिवासियों को आप क्या समझते हैं? उनकी विश्वसनीयता और निस्स्वार्थ समर्पण ही इनकी शक्ति है। ये आस्था के दास होते हैं। यदि आपके प्रति इनकी आस्था हो गई तो फिर ये अपने प्राणों की भी चिंता नहीं करते।”

“तो फिर यही नीति अपनाई जाए।” बृहत्क्षत्र बोला, “तो मैं चलता हूँ। ब्राह्म मुहूर्त में ही मैं यहाँ से कैकय के लिए प्रस्थान करूँगा। अब पांडवों को आप सँभालिएगा। यह मेरे अकेले का काम नहीं है।”

मैंने कहा, “हम सबको मिलकर पांडवों पर तेरह वर्ष तक सजग दृष्टि रखनी पड़ेगी कि वे कौरवों के किसी षड्यंत्र का शिकार न हो सकें।”

“तेरह क्यों, हम बारह ही वर्ष क्यों न करें? एक साल जब वे स्वयं अदृश्य रहेंगे तो हम दृष्टि क्या रख सकेंगे! एक साल तो पांडवों और कौरवों के बीच लुका-छिपी का खेल होगा।” वह हँसा और चलने लगा।

“खेल नहीं, लुका-छिपी का युद्ध कहो।” मैंने कहा।

□

दूसरे दिन युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचने के पहले ही पता चला कि आज ब्राह्म मुहूर्त में बृहत्क्षत्र चला गया। मार्ग में यह बात मुझे धृष्टद्युम्न ने बताई। वह दुःखी भी था। उसका कहना था कि विपत्ति में लोग बहुत दूर तक साथ नहीं देते।

“फिर जितनी दूर तक वे साथ दें, उतनी दूर तक ही स्वीकार करो।” मैंने हँसते हुए कहा। वह चुप हो गया। मैंने फिर समझाया—“विपत्ति में कोई साथ नहीं देता, राजकुमार! यहाँ तक कि बुद्धि भी साथ छोड़ देती है। केवल एक प्रभु का ही साथ रह जाता है।”

“वह तो आपको ही अपना प्रभु समझते हैं।”

‘प्रभु! इस शब्द की तो विराट् अर्थवत्ता है।’ मैं बोला नहीं, मन-ही-मन मुसकराया।

“जो मुझे अपना समझते हैं, मैं उनसे अलग कभी नहीं रहता। मैं हमेशा उनके साथ रहता हूँ।”

मैं उसे समझाने लगा—“आखिर हम सब यहाँ से लौट जाएँगे। बृहत्क्षत्र आज चला ही गया। तुम भी कल-परसों में चले जाओगे। हम लोगों में से कोई भी पांडवों का साथ नहीं देगा। उनके साथ तो रहेंगे उनके धर्म, कर्म और बुद्धि। इसलिए किसीके जाने का कोई दुःख नहीं। फिर बृहत्क्षत्र को मैंने समझा दिया है। वह काफी समझदार व्यक्ति है। मार्ग से ही अपने कार्य में लग जाएगा।”

“मार्ग से ही!” वह हँसने लगा।

मैंने उसे समझाया—“इस समय हमारा मुख्य कार्य आर्यावर्त में इस घटना का प्रचार करना है, जिससे लोगों में कौरवों के प्रति एक प्रकार की घृणा पैदा हो और जनमत का ऐसा दबाव उत्पन्न हो कि उनका जीना दूभर हो जाए। तब शायद युधिष्ठिर के पक्ष में वातावरण बने।”

मैं उसीके साथ युधिष्ठिर के शिविर में आया। अभी पूर्वाह्न था। दोपहर होने में घड़ी-दो घड़ी की देर थी। मुझे देखकर उसी वटवृक्ष के नीचे सभी भाई एकत्र हो गए। द्रौपदी स्थानीय ग्रामवासी महिलाओं के साथ भोजन बनाने में लगी थी। वह भी मुझे देखते ही आ गई।

उन लोगों को विश्वास था कि द्वारकाधीश इस समय हमारा कोई दिशा-निर्देश करेंगे। शायद वे हस्तिनापुर जाकर पितामह से बातें करें। पर मैं इसे बहुत सार्थक नहीं समझता था।

बातों के क्रम में मैंने स्पष्ट कहा, “हम ये सारे अवसर खो चुके हैं।”

“यही तो मैं कहता हूँ कि अब केवल युद्ध ही एक उपाय है।” भीम बोला।

“हम उसका भी अवसर खो चुके हैं।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अब केवल एक ही बात हो सकती है कि हम केवल आपस में ही लड़ें।”

मैंने इतने नाटकीय ढंग से कहा था कि लोग एकदम सन्न रह गए। काफी देर तक सन्नाटा छाया रहा। इस सन्नाटे को तोड़ा द्रौपदी ने। बड़ी दबी जबान में उसने कहा, “आपने अभी कहा है कि हमने युद्ध का भी अवसर खो दिया है। कृपा कर आप बताएँ कि वह अवसर कब था?”

“मेरे विचार से वह अवसर दो समय आया था और दोनों समय अगुआई तुम्हें ही करनी थी।” मैंने कहा, “एक समय तो वह था, जब तुम्हारा चीर खींचा जा रहा था। जब तुमने मुझे पुकारा था और बार-बार कहा था कि ‘मेरी लज्जा रखो’, पर एक बार भी नहीं कहा कि इस दुष्ट का संहार कीजिए। मेरे मन में आया कि मैं इस दुष्ट का संहार कर दूँ। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें चल पड़ने के लिए सन्नद्ध चक्र को भी दिखाया था; पर तुमने बार-बार यही कहा कि मेरी रक्षा कीजिए। मैंने वही किया। मैंने देखा, तुम्हारा आक्रोश भयंकर है; पर अब भी वह कौरवों का विनाश नहीं चाहता।”

“फिर भी तो आप उसका संहार कर सकते थे!”

“कैसे कर सकता था?” मैंने कहा, “जब तुम्हारी इच्छा नहीं थी! मैं तुम्हारी पुकार पर आया था और तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता! भगवान् भी भक्त की इच्छा के विरुद्ध नहीं करता, मैं तो मानव हूँ। फिर प्रकृत्या मैं रक्तपात का विरोधी हूँ। फिर भय एवं आतंक से कौरव मानसिक रूप से ऐसे संत्रस्त लगे कि मैंने सोचा कि अब वे पांडवों को मुक्त कर देंगे और उनसे क्षमा माँगेंगे। मैंने सुना कि ऐसा हुआ भी।”

सब चुप हो मेरी ओर देखते रहे। फिर द्रौपदी ने पूछा, “अच्छा, तो दूसरा अवसर कौन सा था?”

“दूसरा अवसर तो इसके पूर्व ही था, तब तुम आक्रामक हो सकती थीं।” मैंने कहा, “जब धर्मराज तुम्हें जुए में हार गए थे, जब तुम पितामह से भी प्रश्न करके उचित उत्तर नहीं पा रही थीं। उस विवशता में तुम्हें असि खींच लेनी चाहिए थी। सीधे-सीधे ललकार देना चाहिए था—आ जाए! जिसने माँ का दूध पिया हो, वह मेरे वस्त्र को हाथ लगाए!”

“उस समय एक बार तो मेरे मन में आया था।” द्रौपदी बीच में ही बोल पड़ी—“पर मैं अपने पतियों से लाचार थी।”

“क्या करते तुम्हारे पति? जब वे यह कह चुके थे कि अब तुमपर हमारा अधिकार नहीं रहा।” इतना कहने के बाद मैंने युधिष्ठिर की ओर देखा। वे सिर नीचे किए चुपचाप सुनते जा रहे थे। मैं कहता जा रहा था—“यदि पति कुछ

कहते तो तुम्हें उन्हें भी ललकार देना चाहिए था—जब आपका मुझपर कोई अधिकार ही नहीं तो आप बोलनेवाले कौन होते हैं? अब मैं परम स्वतंत्र हूँ। मैं याज्ञसेनी हूँ। यज्ञकुंड की लपलपाती ज्वाला हूँ। मैं पूरी सभा को भस्म कर दूँगी। मैं आर्यावर्त की नारी की अस्मिता हूँ, जिसकी पवित्र तेजस्विता आज कराला काली हो गई है; जो तुम्हारे रक्त की एक-एक बूँद पी जाएगी।

“तब देखतीं, किसीका साहस आने का न होता। तुमने अनुभव नहीं किया कि मेरी छाया के पहुँचने के बाद जब तुमने दुःशासन को ललकारा तब वह कितना तेजहीन होकर गिर गया था!”

सभी लोग एकदम शांत थे। द्रौपदी जैसे तिलमिलाकर रह गई।

थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर के मुख से निकला—“संघर्ष तो होता ही।”

“क्या बात करते हैं आप!” मैंने कहा, “यद्यपि आप मुझसे बड़े हैं। मुझे आपके मुँह तो नहीं लगना चाहिए। धर्म की एक मामूली किरण भी अधर्म के सागर के समक्ष अगस्त्य हो जाती है, यदि धर्म अपनी शक्ति को समझे। आततायी की आत्मिक शक्ति कितनी दुर्बल होती है, इसका अनुमान आप लोगों को नहीं है।”

एक अप्रत्याशित गंभीरता लोगों की आकृतियों पर आ गई। मुझे लगा कि लोग कहीं यह न सोचें कि मैं युधिष्ठिर की कायरता को ललकार रहा हूँ। धृष्टद्युम्न भी बड़ी हेय दृष्टि से उन्हें देखने लगा था।

इसी बीच द्रौपदी बोल पड़ी—“अब जो हो गया, उसे छोड़िए। अब बताइए, मुझे फिर ऐसा अवसर कब मिलेगा?”

“मैं तुमसे अलग एकांत में बातें करूँगा।”

वह चुप हो गई।

“अब हम लोगों के लिए क्या आदेश है?” अब तक की हुई बातचीत में एकदम चुप रहनेवाला अर्जुन बोल उठा।

“आप लोगों के लिए मैं क्या कह सकता हूँ!” मैं मुसकराते हुए बोला, “महाराज तो वय में, ज्ञान में, धर्मपरायणता में—सबमें मुझसे आगे हैं। जहाँ उन्होंने मुझे आगे किया है, उसमें भी उनकी कृपा रही है। उसे भी मैंने उन्हींका आदेश समझकर ही पालन किया है। इस समय भी यदि वे अन्यथा न लें तो मैं कुछ निवेदन करूँ!”

युधिष्ठिर ने अनुमति दी और मैं फिर बोलने लगा—“ये तेरह वर्ष तो आपके संकट के वर्ष हैं—और आप यह भी ध्यान रखें कि जिसने आपके प्रति इतना बड़ा अन्याय किया है, वह कभी नहीं चाहेगा कि आप इस समय को शांति से काट दें। वह बीच-बीच में भी कोई खुराफात करता रहेगा। वह आप लोगों पर हर विपत्ति ढहाने की पूरी कोशिश करेगा।”

“तो क्या वह आक्रमण भी कर सकता है?” यह प्रश्न धृष्टद्युम्न का था।

“क्यों नहीं कर सकता?” मैंने मुसकराते हुए पूछा, “पर यह आक्रमण हमेशा सेना द्वारा ही नहीं होता, चौसर के पासों द्वारा भी होता है।”

लोगों की दृष्टि युधिष्ठिर की ओर गई और युधिष्ठिर ने आँखें मूँद लीं।

मैं बोलता रहा—“किसी भी रूप में कौरव आपको छोड़नेवाले नहीं हैं। दुर्योधन की महत्वाकांक्षा और कर्ण का प्रतिशोध कुछ भी कर सकता है।” मैंने तुरंत अनुभव किया कि मेरा निष्कर्ष कुछ अधिक ठीक नहीं है। मैंने स्वयं को सुधारा—“कर्ण उतना बड़ा नीच नहीं है, उसका प्रतिशोध इस घटना के बाद शांत भी हो सकता है; पर शकुनि ऐसा होने नहीं देगा।”

“इसका तात्पर्य है कि हमारा मुख्य शत्रु शकुनि है?”

“हमें ऐसा लगता है।” मैंने कहा, “पर हमारा मुख्य शत्रु समय है। वह किसी भी ओर से और किसी भी रूप में हमारे विरुद्ध खड़ा हो सकता है। और समय का सामना करने की मुख्य ताकत धैर्य में ही है। ऐसे में आपका धैर्य

और आपकी एकजुटता हर जगह आपकी रक्षा करेगी। आप कुछ भी ऐसा न करें, जिससे लोग यह समझें कि आपमें आपस में ही कलह है। फिर कुछ बातें और हैं, जिनसे आपको सावधान रहना होगा। अब किसी भी स्थिति में आप जुआ मत खेलिएगा—आपस में मनोरंजन के लिए भी नहीं।” इसी संदर्भ में मैंने उन्हें राजा नल की याद दिलाई। लोगों ने मेरी बात को गंभीरता से लिया। यहाँ तक कि युधिष्ठिर ने भी मेरी बात की स्वीकृति में सिर हिलाया।

मैं आगे बोलने लगा—“दूसरी बात यह है कि आप पर स्त्रियों से सदा सावधान रहिएगा। उनसे बहुत अधिक हेल-मेल मत बढ़ाइएगा।” मैंने विशेषकर अर्जुन और भीम की ओर संकेत किया।

अर्जुन ने दबी जबान प्रतिवाद भी किया—“और आप ऐसा कह रहे हैं!”

उसका सीधा व्यंग्य मेरे चरित्र पर था। इस बार एक हलकी सी खिलखिलाहट भी उभरी।

“हाँ, कम-से-कम मुझे तो ऐसा नहीं कहना चाहिए।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “पर मेरे मित्र, यह सामान्य स्थिति नहीं है। यदि इस स्थिति में मैं भी होता तो मैं भी इसका कट्टरता से पालन करता। क्योंकि पुरुषों की कठोरतम एकजुटता को ये रति की अनुकृतियाँ या वासना की पुत्तलिकाएँ ही तोड़ सकती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है। श्रीराम और लक्ष्मण के बीच कोई शूर्पणखा आ सकती है तो कैसे समझा जाए कि आप लोगों के बीच कोई नहीं आ सकता! राम को तो चौदह वर्ष के बाद युद्ध नहीं लड़ना था। उनका राज्य तो सुरक्षित था। प्रजा उनकी व्यग्रतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही थी। भरत नंदिग्राम से ही शासन चला रहे थे। सिंहासन उनकी खड़ाऊँ के नीचे सुरक्षित था। उस स्थिति से आज की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। आज की स्थिति में राम होते तो दक्षिण से भी उन्हें लड़ना होता और उत्तर से भी।”

“तो क्या आप समझते हैं कि तेरह वर्ष बाद भी हमें युद्ध लड़ना पड़ेगा?” इस बार शंका सीधे-सीधे धर्मराज ने की थी।

मैंने कहा, “मुझे तो कोई स्थिति ऐसी नहीं दिखाई देती, जिसके आधार पर मैं यह कह सकूँ कि बिना युद्ध किए आपका राज्य मिल जाएगा।”

“पर इसके लिए अब कौरवों का बहाना क्या होगा?” सरल चित्त युधिष्ठिर ने बहुत सोचते हुए पूछा।

“यह समय बताएगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “समय आपका सबसे बड़ा शत्रु है।”

भविष्यवाणियों से भयाक्रांत युधिष्ठिर के चित्त की क्या स्थिति हुई होगी, इसे तो भगवान् ही जाने; पर मैंने बड़े शांतभाव से बातें आगे बढ़ाई और कहा, “अंतिम बात, पर बड़े महत्त्व की बात एक है कि इन तेरह वर्षों के बीच आप आखेट से निरपेक्ष रहें। बल्कि मेरे कथन का तात्पर्य यह कि आप जीव-हत्या से दूर रहने का व्रत ले लीजिए।”

भीम तुरंत बोल पड़ा—“आखेट नहीं करेंगे तो खाएँगे क्या?”

मुझे हँसी आ गई।

“मैं जानता था कि कोई भी क्षत्रिय इस वर्जना को सुनकर विचलित हो जाएगा—और यदि वह पेटू हुआ तो तुरंत उसका विरोध करेगा।” मेरे इस कथन पर औरों के अधर खिल गए।

मैंने अपनी बात को और स्पष्ट किया—“मेरी वर्जना इस आधार पर है कि जंगलों में यही पशु-पक्षी आपके साथी और मार्गदर्शक होंगे। ऐसे लोगों की हत्या तो शास्त्र में भी वर्जित है। और, रह गई आदरणीय अग्रज (भीम) के पेट भरने की बात! वह तो जंगली फल-फूलों से भी भरा जा सकता है।”

अपने कथन के पीछे के एक रहस्य का मैंने और उद्घाटन किया। मैंने कहा, “यद्यपि आप स्वयं शक्तिशाली हैं

और धर्म की शक्ति भी कम नहीं होती, फिर भी आपको अरण्य की विराट् शक्ति की आवश्यकता पड़ सकती है। इसके अतिरिक्त आपके स्थायी शत्रु कौरव हर स्थिति में आपको विपत्ति में डालने से बाज नहीं आएँगे। तब इन्हीं पशु-पक्षियों की विराट् सेना आपके साथ होगी—जैसे राम के साथ थी।”

“राम का युग दूसरा युग था, द्वारकाधीश!” इस बार धृष्टद्युम्न बोला, “उस समय पशुओं में भी मानवता थी। आज तो मनुष्य ही पशु हो गया है।”

“इसीलिए तो हमें जंगल की सहानुभूति की और भी आवश्यकता है।” मैंने कहा और मेरा व्यंग्य लोग समझें, इसके पहले ही मैं उठ गया।

सभा विसर्जित हो गई।

□

कल प्रातः ही मुझे यहाँ से चल देना था, इसलिए सोचा कि क्यों नहीं आज ही मैं द्रौपदी से भी मिलता चलूँ। मैंने उसे वचन भी दिया था।

रात्रि का प्रथम प्रहर। कार्तिक की ओस से धरती की भीगी धूल मेरे पदत्राण में चिपकती गई। जब मैं द्वार पर पहुँचा तो द्वार बंद था। भीतर किसी पुरुष से बातें करती द्रौपदी का अस्पष्ट स्वर सुनाई पड़ा। मैं द्वार पर ही ठिठक गया। हो सकता है, श्रम-परिहार कर रहे पांडवों में से कोई एक भीतर हो। ऐसे में क्या मेरा घुस पड़ना उचित होगा?

मैं सोचता रहा। तब तक युधिष्ठिर का कुत्ता मुझे देखकर भौंकने लगा। युधिष्ठिर को कुत्तों से प्रेम था। कुत्ते भी जीवन भर उनके साथ रहे और अंत में उन्हींमें से एक हिमालय में गलने भी गया।

लगातार कुत्ते का भौंकना सुनकर भीतर से द्रौपदी बोली, “कौन है? कौन है बाहर?”

“मैं हूँ, कन्हैया!”

इतना सुनते ही वह एकदम द्वार की ओर झपटी।

“अरे, आपको तो आ ही जाना चाहिए था। मैंने तो पछुवा हवा से बचने के लिए द्वार बंद कर लिया था।”

“कोई बात नहीं।” मैंने देखा, न वहाँ युधिष्ठिर थे और न पांडवों में से कोई और। पर था शिशुपाल का पुत्र धृष्टकेतु और उसकी बहन—नकुल की पत्नी करेणुमती।

“क्षमा करना! मैं तुम लोगों की गंभीर मंत्रणा के बीच बाधक हुआ।”

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।” द्रौपदी बोली। उसने करेणुमती की ओर संकेत करते हुए कहा, “हम लोग इसे समझा रहे हैं कि यह अपने भाई के साथ चली जाए। यह अपने पितृगृह में सुरक्षित रहेगी।”

“सारी सुरक्षा की चिंता मेरे ही लिए है, जीजी के लिए नहीं!” करेणुमती ने कहा, “आखिर श्रीराम के साथ सीता भी थीं कि नहीं। वैसे ही मैं भी अपने पति के साथ रहूँगी।”

“हाँ, तभी न वह राम के लिए विपत्ति बनीं। राम को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनमें से अधिकांश के मूल में सीता थीं।” मैं बोला, “और मैंने बार-बार कहा है कि आपकी समस्या श्रीराम की समस्या से बिल्कुल भिन्न है।” फिर मैंने करेणुमती को समझाया—“राम के लिए एक साल का अज्ञातवास नहीं था। आप क्या समझती हैं, पांडव कभी कौरवों की गुप्तचर व्यवस्था से ओझल हो पाएँगे! वह सदा उनके साथ लगी रहेगी और अज्ञातवास के समय तो उनकी हजारों आँखें उनका पीछा करेंगी। ऐसी स्थिति में तो उन्हें अपने को छिपाना ही कठिन होगा, तुम तो उनके लिए और संकट हो जाओगी।”

“मैं ही संकट होऊँगी? क्या जीजी संकट नहीं होंगी?” करेणुमती अपने हठ पर दृढ़ थी।

मुझे परिहास सूझा। मैंने कहा, “तुम्हारा तो शरीर ऐसा है कि यदि उसे काटा जाए तो उसमें से यदि तीन नहीं तो ढाई जीजियाँ अवश्य निकल आएँगी। (‘करेणु’ का एक अर्थ हथिनी भी होता है, इसीलिए वह अवश्य स्थूलकाय

रही होगी) इसीलिए तुम्हें छिपाने में जीजी से ढाई गुना अधिक कठिनाई होगी।”

इतना सुनते ही जोर का ठहाका लगा। करेणुमती भी पहले मुसकराई, फिर लज्जा से उसकी आँखें झुक गईं। मैंने भी अनुभव किया, आखिर वह मेरी बहन ही है और वय में भी काफी छोटी है। मुझे ऐसा परिहास नहीं करना चाहिए।

मैंने तुरंत बात बदली—“द्रौपदी तो पांडवों की अनिवार्यता है। उसके बिना उनका काम नहीं चल सकता; पर तुम्हारे बिना तो उनका काम चल जाएगा।”

वह कुछ नहीं बोली।

फिर भी मैं उसे समझाता रहा—“जानती हो, अज्ञातवास के समय तुम्हारे पति का पता लगाने के लिए हस्तिनापुर के गुप्तचर तुम्हें ही पहली सीढ़ी बनाएँगे; क्योंकि तुम उनके लिए चींटे फँसाने के लिए गुड़ का काम करोगी।”

वह सोच में पड़ गई।

मैंने धृष्टकेतु के कान में धीरे से कहा, “अज्ञातवास शुरू होते ही तुम इसे द्वारका लाकर मेरे यहाँ छोड़ देना; क्योंकि तुम्हें कौरव बड़ा परेशान करेंगे। तुम शायद न जानते हो कि अपने भाइयों के बीच दुर्योधन ने गुप्तचर प्रमुख से कहा था कि ‘वनवास आरंभ होने के दस-पंद्रह दिन बाद नकुल आया था और एक रात अपनी पत्नी को लेकर चुपचाप गुम हो गया।’ उसके इस कथन का कुछ अर्थ है।”

धृष्टकेतु मुसकराता हुआ मेरा चेहरा देखता रह गया। उसकी मुसकराहट में मुझे अपनी कूटनीति की स्वीकृति दिखाई दी।

“इससे तो लगता है, कौरवों के गुप्तचरों की दृष्टि से द्वारका शायद ही बची रहे। पर जो भी होगा, मेरे लिए समस्या आप लोगों से कुछ कम ही उत्पन्न होगी।”

मेरी और धृष्टकेतु की ये बातें बहुत धीरे-धीरे हो रही थीं। द्रौपदी को यह अच्छा नहीं लगा। उसने मुसकराते हुए ही कहा, “आप लोगों को यदि कानों में ही बातें करनी हों तो कहिए, हम कहीं और चली जाएँ।”

मैंने अपनी बात पर और बल दिया—“यह गोपनीय बात मैंने आप दोनों के समक्ष ही करना उचित समझा, जिससे आप लोग भी समझें कि ये बातें आप ही लोगों के संबंध में की जा रही हैं, फिर भी आपसे छिपाई जा रही हैं।”

“क्या मैं जान सकती हूँ कि ऐसा क्यों है?” प्रश्न तो करेणुमती का ही था, पर पूछा केवल द्रौपदी ने।

“क्योंकि नारी स्वभाव की स्निग्धता पर कूटनीतिक गोपनीयता बड़ी जल्दी फिसल जाती है।” मेरी बात सुनकर सभी हँस पड़े।

दूसरे दिन जब मैं द्वारका के लिए चल पड़ा तो द्रौपदी ने मुझे टोका—“आज तो आप मुझसे कुछ विशेष बातें करने वाले थे।”

मुझे स्मरण आया कि सामूहिक वार्ता के समय किसी बात के संदर्भ में मैंने कहा था कि उसके विषय में मैं फिर कभी बातें करूँगा। उस समय मैंने उसे चुप करने के ही लिए कहा था। इस समय मैं फिर टाल गया—“जब कहा था तब कहा था। तब से समय बहुत आगे बढ़ गया।” और एक नाटकीय अट्टहास में मैंने उसे उड़ा देना चाहा। पर द्रौपदी गंभीर हो गई। मेरा अट्टहास उसकी गंभीरता हिला नहीं पाया। तब मैंने कहा, “अभी क्या सोचती हो! हो सकता है, समय हमें निकट भविष्य में फिर मिलने के लिए विवश करे।”

□

हम द्वारका चले आए। दिन बीतते गए।

चिंता तो लगी रहती थी। मेरा सारा परिवार चिंतित रहता था।

माँ ने तो यहाँ तक कहा, “उन लोगों को द्वारका ही लाना था। बारह साल यहीं बिताते, फिर अज्ञातवास के समय

कहीं चले जाते।”

“मैंने इस संदर्भ में भी सोचा था।” मैंने माँ को बताया—“पर युधिष्ठिर इस प्रस्ताव को स्वीकार न करते। न तो यह उनके धर्म के अनुकूल होता और न हारी हुई बाजी की शर्त के अनुकूल। उन्हें तो अरण्य में निवास करना है—राजधानी में नहीं, वैभव के निकट नहीं।”

माँ चुप तो हो गई; पर चिंता उसे घेरे रही।

समय की परत पर परत पड़ती गई। घटना भी पुरानी पड़ने लगी। पीड़ा भी धुँधलाती गई। अचानक एक दिन गुप्तचरों से सूचना मिली कि कौरवों ने दुर्वासा के माध्यम से एक षड्यंत्र रचा है। षड्यंत्र का विस्तृत विवरण तो नहीं मिला, पर गुप्तचरों ने यह बताया कि हस्तिनापुर में एक दिन महर्षि दुर्वासा पधारे थे। दुर्योधन और कर्ण ने उनका खूब सेवा-सत्कार किया है। महर्षि प्रसन्न हो गए। उन्होंने वरदान माँगने को कहा।

यद्यपि दुर्वासा बहुत कम वरदान देने की स्थिति में होते थे। ऐसे क्रोधी प्रकृति का ऋषि क्या, व्यक्ति भी शायद दिखाई दे। क्रोधाग्नि तो सारी तपस्या को भस्म कर देती है; फिर भी उनकी तपस्या हिमगिरि के शिखर-सी कभी गलती ही नहीं। ऋषि परंपरा के एकमात्र अपवाद हैं दुर्वासा।

वह वरदान माँगने को कहें तो अवश्य अनहोनी बात है। जरूर इससे कौरवों ने पांडवों के विरुद्ध उनका उपयोग करने का अवसर प्राप्त किया होगा। पर मेरे गुप्तचर यह न बता सके कि उनका क्या उपयोग होगा; पर उन्होंने यह अवश्य बताया कि जब वे लौट रहे थे तो महर्षि अपने शिष्यों के साथ काम्यक वन की ओर जाते दिखाई दिए थे।

“और पांडवों का कुछ पता है?” मैंने गुप्तचरों से पूछा।

“वे भी अभी काम्यक वन में ही हैं।” गुप्तचरों में से एक ने बताया।

मेरी आशंका को बल मिला। अवश्य ही कोई षड्यंत्र है। यदि समय रहते ही उसका उपचार न किया गया तो पांडव निश्चित रूप से किसी संकट में पड़ जाएँगे।

मेरे मस्तिष्क में मंथन शुरू हुआ। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुझे तुरंत वहाँ पहुँचना चाहिए; क्योंकि ऋषिवर वहाँ पहुँच चुके होंगे।

द्वारका से बहुत तेज चलने के बाद भी काम्यक वन दो दिनों का मार्ग तो था ही। मैंने तुरंत दारुक एवं छंदक को बुलाया और किसीसे बिना किसी प्रकार की मंत्रणा किए चल पड़ा।

छंदक ने कहा भी—“आप तो हमेशा स्वयं विपत्ति में कूद पड़ते हैं। अरे, कुछ शांति से जीने की भी कभी सोचिए!”

मैं जोर से हँसा; क्योंकि मैं उस समय विवाद करने की स्थिति में नहीं था। मैंने कहा, “चलो, मार्ग में ही बातें होंगी।”

लोगों को यह तो सूचना थी कि मैं कुछ दिनों के लिए द्वारका छोड़ रहा हूँ; पर कहाँ जा रहा हूँ, किसीको पता नहीं। केवल माता-पिता और भैया से बताया कि मैं पांडवों से मिलने जा रहा हूँ।

माता-पिता तो कुछ बोले नहीं, केवल भैया ने ही आपत्ति की—“पांडवों के संबंध में ही सोचोगे या कभी अपनी प्रजा की ओर भी देखोगे? कभी सोचा है कि हमारी पकड़ प्रजा पर कमजोर होती जा रही है!”

“आप कहते तो ठीक हैं; पर इस समय पांडवों को मेरी बड़ी आवश्यकता है।”

“आवश्यकता तो उन्हें तुम्हारी हमेशा बनी रहेगी।” इतना कहकर भैया चले गए। स्पष्ट लगा कि वे न तो मेरे उत्तर से संतुष्ट हैं और न मुझसे प्रसन्न।

भैया न्याय और अन्याय से तो प्रभावित होते थे, पर प्रकृत्या वह पांडवों और कौरवों के मामले से दूर ही रहना

चाहते थे। फिर भी रथ में बैठने के पहले मैंने उनके चरण छुए और आशीर्वाद लिया। न उन्होंने विस्तृत जानकारी चाही और न मैंने कुछ कहा।

मार्ग में इसी संदर्भ को छंदक ने उठाया—“भैया काफी नाराज मालूम होते हैं।”

“नाराज तो हैं; पर तुम्हीं सोचो, क्या मैं पांडवों को छोड़ सकता हूँ? और यदि छोड़ भी दूँ तो क्या संसार विश्वास करेगा? अब तो कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बन गई हैं कि उनकी जय-पराजय हमारे साथ जुड़ी है। और फिर यह केवल कौरव और पांडवों का युद्ध नहीं है। यह युद्ध है सत्य और असत्य का, धर्म और अधर्म का, न्याय और अन्याय का। यह युद्ध है पाशविकता से पोषित महत्वाकांक्षा और मानव के सहज संतोष का—और मैं ऐसे में तटस्थ रह जाऊँ, यह कैसे हो सकता है?”

“तब आप खुलकर सामने क्यों नहीं आते?” छंदक ने साफ-साफ कहा, “मध्य रेखा पर चलते हुए एक ओर झुका रहना—क्या यह दूसरे के प्रति छल नहीं है? या तो आप संसार के साथ छल कर रहे हैं या कौरवों के प्रति।” मुझे हँसी आ गई। मैंने हँसते हुए कहा, “मैं छल नहीं, नट की लीला कर रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि किस सीमा तक नीति और अनीति के बीच कसी डोर पर संतुलन साधा जा सकता है। अंत में तो वह होना ही है, जिसकी ओर तुम्हारा संकेत है।”

“जब अंत में वही होना है तो क्यों नहीं वह अभी से हो जाए? लोग क्यों परेशान हों? आप भी उलझे रहें और पांडव भी तेरह वर्षों तक वनों की धूल फाँकें!”

“क्योंकि वह अभी से हो नहीं सकता।” मैं हँसते हुए ही बोलता रहा—“जिस वस्तु को जब होना होता है, वह तभी होती है।” मैंने उसीसे प्रश्न किया—“एक दिन तेरे बाल पक जाएँगे। आकृति पर झुर्रियाँ उभर आएँगी। तू वृद्ध हो जाएगा। तू यदि चाहे कि अभी से वृद्ध हो जाए तो क्या तू वृद्ध हो सकता है?”

“इसका तो तात्पर्य यह हुआ कि काल पर किसीका नियंत्रण नहीं है।”

“स्वयं काल का भी नहीं।” मैंने कहा, “काल को भी अपने नियमों के अनुसार ही चलना पड़ता है। जैसे राजा राज्य की व्यवस्था का नियामक होता है, सारे नियम उसके बनाए होते हैं; पर वह उन नियमों के ऊपर नहीं होता। ये नियम ही राजसत्ता के मदमाते हाथी पर अंकुश होता है, छंदक! जैसे निरंकुश मतवाला हाथी सबकुछ तहस-नहस कर देता है वैसे निरंकुश राजसत्ता स्वयं अपना नाश कर लेती है। जो राजा स्वयं नियम का पालन नहीं करेगा, वह प्रजा से क्या आशा रख सकता है! और काल जब अपने नियम तोड़ता है तब जानते हो, क्या होता है?”

छंदक मेरा मुँह देखता रह गया।

“तब होता है प्रलय! काल के ही नियमों का काल में ही लय होना प्रलय है।”

जब हम काम्यक वन पहुँचे, एक घड़ी दिन निकल आया था। हम लोग तो सरस्वती में स्नान-ध्यान करके पहुँचे थे और सोचा था कि आज का प्रातः जलपान पांडवों के साथ ही होगा; पर लोग चिंतित मुद्रा में बड़े गंभीर दिखाई दिए। मुझे अचानक देखकर सभी चकित थे। हर व्यक्ति मेरी आवश्यकता का अनुभव कर रहा था। पर उन्हें विश्वास नहीं था कि उनके स्मरण मात्र से मैं उपस्थित हो जाऊँगा।

सभी प्रसन्न दिखे। सूखते धान पर जैसे पानी पड़ा। मेरे आने के पहले अवश्य ही ये बड़े दुःखी रहे होंगे, इसका आभास मुझे हो गया।

“यह आपका महान् अनुग्रह है, द्वारकाधीश, कि इस बार आप लाक्षागृह जलने के पूर्व ही आ गए।” युधिष्ठिर ने कहा और वे भी बड़े प्रसन्न दिखे।

“क्यों? क्या फिर कोई लाख का महल बनाया गया है?” मैंने हँसते हुए पूछा।

“वह भी एक षड्यंत्र का महल था, जो लाख का था।” युधिष्ठिर ने अपने कथन का विस्तार किया—“इस बार षड्यंत्र का महल महर्षि दुर्वासा के क्रोध का है। जल उठना दोनों की नियति है।”

“और आप सबका बच जाना भी उसी नियति का एक पक्ष होगा।” मैंने उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा और सभी की आकृतियाँ खिल गईं। स्पष्ट लगा कि वे गंभीर तनाव से मुक्त हुए।

युधिष्ठिर ने मुसकराते हुए कहा, “अब आप उठें। स्नान-ध्यान से निवृत्त हों। अब हम अपनी सारी चिंता कन्हैया को सौंपते हैं।”

मैं मुसकराता हुआ सुनता रहा। पर मुझे अभी तक पता नहीं था कि पांडवों की चिंता क्या है। मैं चुपचाप द्रौपदी के पास गया। वह भोजनालय में थी। यह पहली बार था कि उसका अहं मेरे चरणों में पड़ा था।

उसकी आँखें भर आई थीं। वह सिसकती हुई मुझसे लिपट गई। मैंने उसके आँसू पोंछे।

“सचमुच आप भगवान् हैं, जो अपने भक्तों की पीड़ा सुनकर दौड़ पड़ते हैं।”

“बहन की पीड़ा सुनकर तो हर भाई दौड़ पड़ता है, तो क्या वह उसका भगवान् है?”

“क्या बात करते हैं आप भाई की!” “भाई” शब्द सुनते ही वह एकदम उबल पड़ी—“भाई का करतब तो आप देख ही रहे हैं। आज भाई अपने भाई की गरदन काटने के लिए तैयार है। इसीका फल हम भोग रहे हैं—और आज उसका चरम उत्कर्ष हम भोगने जा रहे हैं।”

“तुम यह कैसे कह सकती हो कि जो होने जा रहा है, वह कौरवों की नीचता का चरम उत्कर्ष है?” मैंने पूछा।

वह क्षण भर के लिए रुकी। फिर बोली, “जब दुर्वासा का क्रोध हमें भस्म कर देगा तब हम और क्या भोगने लायक रह जाएंगे?”

इसके बाद उसका धधकता क्रोध कौरवों की ओर भभका। अपने विरुद्ध बनाए गए उस षड्यंत्र को उसने बताना आरंभ किया, जिसका आधा-तीहा भी मैं नहीं जानता था।

उसने बताया—“सुना है, महर्षि दुर्वासा हस्तिनापुर गए थे। वहाँ हमारे तथाकथित भाइयों ने उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा की। उन्होंने उन्हें प्रसन्न कर लिया। तब उन्होंने कहा, ‘तुमने मेरी इतनी सेवा की। मुझे इतना खिलाया-पिलाया। मैं चाहता हूँ कि मेरे शिष्यों का भी एक विराट् भंडारा हो जाए।’

“इतना सुनते ही शकुनि ने फिर अपना दाँव खेल दिया—‘मैंने सुना था कि आपके शिष्यों का एक विराट् भंडारा पांडव काम्यक वन में करना चाहते हैं।’

“‘ऐसा!’ दुर्वासा सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और काम्यक वन आने का उन्होंने निश्चय किया।”

“इस बात का तो मुझे पता चला था।” मैंने कहा, “जो कुछ मैंने सुना था, वह दूसरे ढंग का था।”

“वह क्या था?” द्रौपदी ने पूछा।

“मैंने सुना था, कौरवों ने अपनी सेवा और आवभगत से दुर्वासा को प्रसन्न किया। तब महर्षि ने उनसे वर माँगने को कहा। तब दुर्योधन ने कहा कि मेरी प्रार्थना है कि आप काम्यक वन जाएँ और पांडवों से वैसा ही भंडारा लें जैसा आप हमसे चाहते हैं—और यदि वे न दें तो उन्हें शापित करें।”

“तब क्या कहा महर्षि ने?”

“वे कहते क्या!” मैं मुसकराते हुए बोलता रहा—“ऐसे अवसरों के लिए उनके पास मात्र एक शब्द है—एवमस्तु।”

“हे भगवान्! अब तो आशंका भी सत्य में परिवर्तित हो गई।” द्रौपदी माथा ठोंकते हुए बोली, “इसका तात्पर्य है कि महर्षि अपने सभी शिष्यों के साथ पधारेंगे।”

“पर कब आएँगे वे, अभी तो निश्चित नहीं है। तब अभी से व्यग्र होने की आवश्यकता क्या?”

“मेरे भाई, वे आज ही आ रहे होंगे—और बहुत हुआ तो कल तक आ जाएँगे।” द्रौपदी ने खीजते हुए कहा और बताया—“एक बार वे आ चुके हैं। हम लोगों ने उनकी बड़ी आवभगत की थी। बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि हम अपने सभी शिष्यों के साथ तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे।”

“तब तुम्हारे धर्मराज बोल उठे होंगे कि अवश्य पधारें।” मैंने कहा।

“वे तो आश्चर्यजनक रूप से मौन थे। उन्होंने चरण स्पर्श करते हुए बस इतना ही कहा था—‘जैसी आपकी इच्छा। आप तो अंतर्यामी हैं। हमारा आपसे कुछ छिपा नहीं है।’ ”

मैंने मन-ही-मन सोचा कि अद्भुत तपस्वी है यह दुर्वासा भी, जिसे अपने मान-अपमान का जरा भी विचार नहीं। तब तक द्रौपदी स्वयं बोल उठी—“आतिथेय की असमर्थता से लाभ उठाते हमने किसी अतिथि को अभी तक तो देखा नहीं।”

“पर वे अतिथि हैं क्या?” मेरी आवाज और गंभीर हुई—“न वे शास्त्रीय दृष्टि से अतिथि हैं और न व्यावहारिक दृष्टि से। अतिथि का आगमन तो अप्रत्याशित होता है। तब आतिथेय को अपनी असमर्थता कहने की गुंजाइश रहती है। लोग समझते भी हैं। पर इस स्थिति में कोई क्या कर सकता है! पर दुर्वासा तो तुम्हारे शत्रु द्वारा प्रयुक्त एक अमोघ अस्त्र की तरह तुम लोगों पर आ गिरेंगे।”

“तब क्या होगा?”

“तुम्हारी विजय होगी।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

द्रौपदी चकित थी। वह मेरा मुख देखती रह गई। फिर बोली, “तुम हँस रहे हो! विपत्ति को आसन्न देखकर भी हँस रहे हो!”

“इसलिए कि विपत्ति भी हँसता देखकर एक बार चकरा जाए। तुमने मुझे कभी रोते देखा है? आँसू तो अनेक बार आए होंगे, पर दुःख के नहीं।” मैंने उसे अपने जीवन का गुर बताया—“मैं कालिय के फन पर भी नृत्य कर रहा था। व्यक्तित्व को ऐसा बनाइए कि उसे देखकर विपत्ति भी चकित रह जाए। फिर क्रोध से क्रोध को नहीं जीता जा सकता और न अहंकार को अहंकार से।”

वह मेरी बात समझ न पाई। मैंने तुरंत बात बदली—“महर्षि के लिए तुमने क्या तैयारी की है? उन्हें और उनके शिष्यों को खिलाने के लिए तुम्हारे पास क्या है?”

“कुछ भी नहीं।” उसने अत्यंत शीघ्रता से कहा।

मुझे फिर हँसी आ गई।

वह झुंझलाई—“हँसते क्या हो! जो कुछ था, अभी तुम्हें खिला दिया। खाली हाँड़ी पड़ी है।”

“खाली हाँड़ी!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “हाँड़ी कभी खाली नहीं हो सकती। वह कुछ-न-कुछ हमेशा अपने पास रख लेती है। यह उसकी प्रकृति है।”

वह बड़े आवेश में उठी और उसके अनुसार जो खाली हाँड़ी थी, उसे उठा ले आई। उसने उसे दिखाते हुए कहा, “देखो, यह खाली नहीं तो और क्या है!”

“पर मुझे तो यह खाली नहीं दिखाई दे रही है।”

अब वह और भी चकित हुई। उसने स्वयं हाँड़ी में दृष्टि डाली। चावल के दो-चार उबले दानों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं दिया।

उसने कहा, “हाँड़ी की दीवार से चावल के कुछ उबले दाने चिपके हैं।”

“तब यह खाली कहाँ है? ये दो-चार दानें ही बहुत हैं।” मैं मुसकराता रहा। उस रहस्य भरी मुसकराहट में वह डूबती चली गई।

फिर मेरी अतिशय गंभीर ध्वनि फूटी—“द्रौपदी, इसे अच्छी तरह समझो कि क्रोध अहंकार का ही शिशु है और अहंकार अज्ञान से पैदा होता है। अहंकार से पैदा होने के बाद क्रोध अपने पितामह अज्ञान की छाया में ही रहता है। जहाँ अज्ञान हटा कि क्रोध भी लुप्त और अहंकार भी।”

द्रौपदी ने मुझे सुना बड़ी गंभीरता से, पर वह समझ नहीं पाई। उसने कोई जिज्ञासा नहीं की। कभी उस खाली हाँड़ी को और कभी मेरा मुँह देखती रही। वस्तुतः वह रहस्य की और गहराई में डूब गई।

मैंने उसे फिर समझाया—“आज या कल, जब भी महर्षि और उनके शिष्य पधारें तो आप सभी लोग उनका खूब सम्मान करना।”

उसने बीच में ही टोका—“मेरे द्वितीय पतिदेव (भीम) तो कहते हैं कि आप लोग घबराते क्यों हैं? आते ही उस दाढ़ीवाले को उठाकर ऐसा पटकूँगा कि शाप देना तो दूर, उसकी आवाज तक निकल नहीं पाएगी।”

“इससे अधिक उनका सोच जा ही नहीं सकता।” मैंने हँसते हुए कहा और अपनी बात की छूटी डोर पुनः थाम ली—“उनकी आवभगत में किसी प्रकार की कमी मत करना। यह बात मैं अभी चलकर पांडवों को भी समझाता हूँ कि वे उनकी पूरी अर्चना और अभ्यर्थना करें। उनके पद पखारें, चरणामृत लें। उन्हें भोजन के लिए बैठा भी दें।”

“आप भी विचित्र बात करते हैं!” द्रौपदी फिर झुँझलाई—“जब हम भोजन के लिए बैठा ही देंगे तो क्या खिलाएँगे?”

“उनका अहंकार ही उनके सामने परोस देना।” इतना कहकर मैं फिर हँसा। एक क्षण के लिए रुका, फिर बोला, “हर पत्तल पर, जिसे तुम खाली हाँड़ी कहती हो, उसे उड़ेलती चली जाना।”

“अरे बाप रे बाप!” इतना सुनते ही वह बोल उठी—“वे समझेंगे कि हमें चिढ़ा रही है। उनका क्रोध तुरंत भभक पड़ेगा। तब तो वे यदि न भी शापित करना चाहेंगे, तो भी शाप दे देंगे।”

“शापित करना इतना आसान नहीं है।” मैंने कहा, “शापित करने के पहले व्यक्ति बहुत सोचता है।” फिर विचार आया कि ऐसा तो शोकजन्य शाप में होता है। मुख्यतः शाप दो स्थितियों में दिए जाते हैं। एक तो महान् कष्ट या दुःख के क्षणों में—जैसा श्रवणकुमार के पिता ने राजा दशरथ को दिया था तथा दूसरा क्रोधजन्य होता है। दुर्वासा के क्रोध को सोचने का अवसर कहाँ मिलेगा कि वह हाँड़ी का एक दाना देखें और चेतना तुरंत हिल उठे। उसे तो झकझोरना पड़ेगा।

तब मैंने द्रौपदी को समझाया—“अच्छा, तुम एक काम करना। उनसे कहना—‘कन्हैया आए थे, खा गए। जब हमने शिष्यों के साथ आपके पधारने की बात कही, तब वे एकदम हँस पड़े और बोले कि वे तो तुम्हें शापित करने ही आ रहे हैं। उन्होंने तुम्हें शापित करने का वचन कौरवों को दिया है। उन्हें पेट भर खिलाओ, चाहे न खिलाओ, वे किसी-न-किसी बहाने तुम्हें शाप देंगे ही।’ ”

“पर इतना कहने से क्या होगा?” द्रौपदी और चिंतित हुई।

“उनकी चेतना हाँड़ी से चिपके अन्न के दानों में अपना अहंकार देखने लगेगी।”

जैसे उसे विश्वास नहीं हुआ।

“अच्छा, तुम एक बात और कहना कि ‘कन्हैया यह भी कह रहे थे कि अद्भुत ऋषि हैं दुर्वासा भी। वरदान और शाप इतना बिखेरने पर भी न उनकी प्रसन्नता चुकी है और न क्रोध ही। हाँ, चिंतन अवश्य चुक गया है।’ ”

“यह कैसे कह सकती हूँ?”

“क्या बात कहती हो, द्रौपदी!” मैं बोला, “तुम तो वह कह सकती हो, जो तुम्हारे पति नहीं कह सकते; क्योंकि तुममें यज्ञ की धधकती आग है। उसपर पड़ी संकोच की राख उड़ाओ और भस्म कर दो दुर्वासा के क्रोध को।” वह फिर सोचती रह गई।

“जरा भी मत घबराओ। मैंने जो भी कहा है और जैसे भी कहा है वैसे कह देना।” मैंने कहा, “मैं इस स्थिति के लिए धर्मराज को भी एक मंत्र देता हूँ और अन्य पांडवों को भी तैयार करता हूँ।”

“अरे रे रे, ऐसा मत कीजिए। धर्मराज कहीं कुछ-का-कुछ न कह दें।” द्रौपदी बोली।

“ऐसा कैसे होगा कि वे कुछ-का-कुछ कह देंगे! जब मैं कहने को कहूँगा तो वे वही कहेंगे, जो मैं कहूँगा। विश्वास न हो तो तुम भी मेरे साथ आओ।”

हम दोनों भोजनालय से निकले। छंदक बाहर ही टहल रहा था। मैंने देखा कि वह अतिशय गंभीर है। मैंने उसे लिया और पांडवों के शिविर की ओर आया।

शिविर के पास ही, वट के नीचे के विशाल चबूतरे पर पौष की धूप में लोग मृगछाला पर श्लथ पड़े थे। ऐसे चिंतित जैसे किसी निर्दय दस्यु द्वारा लूट लिये गए हों। उनकी मानसिकता निरुपाय तथा अंधकार में भटके उस बटोही की तरह थी, जिसे आगे का हर रास्ता बंद दिखाई देता है।

मैंने पहुँचते ही उन्हें झकझोरा—“आप तो युद्ध के पहले ही हार मानकर धराशायी हो गए दीखते हैं।”

“तो क्या करूँ? गीत गाऊँ? नाचूँ? मंत्रोच्चार करूँ?” भीम अपनी प्रकृति के अनुसार बोला, “अब आप ही बताइए, क्या करूँ? दुर्वासा की चढ़ाई अभी अपने शिष्यों के साथ होने वाली है।”

“अभी होने वाली है!” मैंने कहा, “यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“एक ब्रह्मचारी सूचना दे गया है।”

“तब आप लोग उठिए और स्वागत की तैयारी कीजिए।”

“मैं स्वागत करूँगा! शापित करनेवाले का स्वागत करूँगा!” क्रोध में काँपता भीम उठा—“हाँ, मैं उसकी जाँघ पर चढ़कर उसके दो टुकड़े कर सकता हूँ।”

मैंने हँसते हुए उसके क्रोध को थपथपाया—“यह तो तुम कर ही सकते हो और बहुतों का किया भी है! तुम्हारे सामने दुर्वासा क्या हैं! मुट्ठी भर हाड़-मांस का व्यक्ति! पर तुम्हें यह सब नहीं करना है। तुम्हें तो उस सर्प का केवल विषदंत तोड़ना है—और यह तुम्हारे वश का काम नहीं है।”

“तब किसके वश का काम है?” भीम फिर बोला।

मैंने देखा कि इस बार अर्जुन ने उसका हाथ दबाया। वे लोग मेरी बात सुनने की मुद्रा में हुए।

“मुझे जो द्रौपदी से कहना था, वह कह चुका हूँ और जो आपसे कहना है, उसपर ध्यान दीजिए।” फिर मैंने वे सारी बातें संक्षेप में कह सुनाई, जो द्रौपदी से कही थीं। फिर धर्मराजजी को संबोधित करते हुए बोला, “इसके बाद आपकी भूमिका शुरू होती है।” मैं बताता रहा—“जब तक द्रौपदी अपनी भूमिका करती रहेगी, आप सब करबद्ध, नितांत चिंताकुल मुद्रा में सिर झुकाए एक पंक्ति में महर्षि का स्वागत करते हुए खड़े रहेंगे। एकदम चुप, मौन, मूर्तिवत्।”

“यदि वे हमसे कुछ पूछेंगे तो भी हम मुँह सीए ही रहेंगे?” भीम के इस कथन में मुझे अपने प्रति परिहास की कुछ गंध लगी।

“यह समय परिहास का नहीं है।” मैंने कुछ चिढ़कर कहा, “आप इसे स्पष्ट समझें कि जिस गंभीर समस्या पर विचार चल रहा है, वह मात्र एक दिन की घटना नहीं है और न केवल आज समाप्त होनेवाली कोई बात है; वरन्

आपके वनवास के पूरे काल में अनवरत चलनेवाले युद्ध की आरंभिक अवतारणा है। यदि आप इसमें ही हार जाएँगे तब तो वनवास का समय काटना आपके लिए कठिन हो जाएगा। यदि पहली फुफकार के समय ही नाग का मुँह कुचल गया, तब तो वह फिर इधर मुँह फेरकर देखेगा भी नहीं।”

अब सभी भाइयों की आँखें भीम की ओर गईं। सभी की दृष्टियों ने उसे दबाया। वह अब शांत हुआ। मैंने फिर अपनी मूल बात आगे बढ़ाई।

मैंने धर्मराज से कहा, “जब द्रौपदी अपनी बात समाप्त करेगी और आपको लगे कि हाँड़ी में चिपके अन्न का दाना महर्षि के अहंकार को परास्त नहीं कर पाया, उनके क्रोध में विस्फोट होने ही वाला है, तब आप कहिएगा—‘महाराज, यदि आज हमारी माँ हमारे साथ होतीं तो हमें यह दिन शायद देखना न पड़ता। उन्हें देखने के बाद आपका न क्रोध रह जाता और न आप हमें शापित करने की स्थिति में होते।’ ”

इतना सुनते ही सबकी दृष्टि प्रश्नवाची हो गई। मैं मुसकराया; क्योंकि मैं वह जानता था, जिसका आभास भी इन लोगों को नहीं था। किसी संदर्भ में कभी मैंने कुंती बुआ के बचपन में दुर्वासा की सेवा और उनके आशीर्वाद की कथा सुन रखी थी।

किंतु मैंने वह कथा बतानी उचित नहीं समझी। केवल अपनी बात आगे बढ़ाई और धर्मराज को संबोधित करते हुए कहता गया—“जब देखिएगा कि अभी बात आगे नहीं बढ़ी तब वाक्य या अमोघ बाण मारिएगा—‘हम लोग तो आपके मंत्रज* पुत्र हैं।’ बस इतना सुनते ही सर्प धरती पर ही अपना फन पटकने लगेगा। फिर भी आप कहते जाइएगा—‘जब हम आपके पुत्र हैं तो क्या कोई पिता अपने निरपराध पुत्रों को कभी शापित करना चाहेगा? वह भी तब जब उनका राजपाट छीन लिया गया हो और वे निरुपाय वन-वन भटक रहे हों।’ ”

पूरी बात सुन लेने के बाद युधिष्ठिर अपनी जिज्ञासा रोक नहीं पाए—

“मंत्रज पुत्र का क्या रहस्य है?”

“इस रहस्य को जानने का यह समय नहीं है, धर्मराज! आपको आम खाने से मतलब है, न कि गुठलियाँ गिनने से। तो जैसा मैंने कहा वैसा कीजिए।”

मैंने ऐसे ढंग से कहा था कि इसके बाद लोगों को बात बढ़ाने का साहस न रहा। समय भी बड़ी तेजी से भाग रहा था। मैंने देखा कि ईशान (उत्तर-पूर्व) की ओर से आकाश में कुछ पक्षी उड़ते चले आ रहे हैं। थोड़ी देर बाद कुछ जंगली पशु भी दौड़ते हुए उसी दिशा से आने लगे। स्पष्ट लगा कि कोई मानव समूह उधर से आ रहा है। कितना विचित्र है, जंगल में मानव समूह जाता है तब पशु-पक्षियों का समूह भागने लगता है।

“लगता है, महर्षि अपने शिष्यों के साथ आ रहे हैं।” मैंने कहा, “अब मुझे जाने दीजिए।”

पांडव कुछ बोल नहीं पाए। वे अब भी काफी घबराए हुए थे।

मैं छंदक को लेकर चल पड़ा। छंदक पहले अपने शिविर की ओर बढ़ा।

“इस समय शिविर में चलना ठीक नहीं। तुम दारुक को तुरंत रथ के साथ ले जाओ। मैं दक्षिण की ओर बढ़ रहा हूँ।”

“तो क्या हम लोग उधर से सीधे द्वारका चले चलेंगे?”

“जिस बड़े नाटक की तैयारी की गई है, उसकी फलश्रुति के बिना ही!” मैंने मुसकराते हुए कहा।

थोड़ी देर बाद दारुक रथ दौड़ाता हुआ मेरे पीछे आ गया। उसी पर छंदक भी था। मैं उसी रथ से और दूर जंगल की ओर निकल गया। जिज्ञासा तो थी ही। मैंने रथ रुकवाया और छंदक से बोला, “जरा देखना चाहिए कि क्या होता है!”

“मैं भी तो यही कहना चाहता था।” छंदक बोला, “पर आप तो एकदम चल पड़े।”

“चल पड़े तो क्या हुआ! कोई द्वारका जाने के लिए तो नहीं चल पड़े।” मैंने कहा, “अभी तो सारा सामान शिविर में पड़ा है।”

फिर हम लोगों ने रथ छोड़कर ऐसे स्थान की खोज आरंभ की, जहाँ से वह स्थान दिखाई पड़े जहाँ पांडवों का शिविर है।

“वह स्थान ऐसा भी होना चाहिए कि वहाँ से कोई हमें देख न सके।” मैंने कहा।

खोजते-खोजते एक पुराने मंदिर का भग्नावशेष दिखाई दिया, जिसका खंडहर अपने में पुरानेपन के सिवा और कोई चिह्न रख नहीं पाया था। वहाँ न कोई शिवलिंग दिखा और न उसकी अरघा, न नंदी तथा न किसी प्रकार की कोई और मूर्ति। हम लोग उसीकी टूटी दीवार पर चढ़ गए। यहाँ से सबकुछ दिखाई पड़ रहा था। हमारी दाहिनी ओर उगे पीपल की एक शाखा की उपस्थिति हमें अपनी छाया में छिपा लेने के लिए भी यहाँ उपस्थित थी। हम लोग उसी बड़ी दीवार पर बैठकर अवाक् नाटक देखने लगे।

शिष्यों की काफी लंबी कतार। आगे-आगे दाढ़ी-मूँछों से युक्त एवं शायद संसार की सबसे लंबी कायावाला एक तेजस्वी व्यक्तित्व दिखाई दिया। निश्चित ही यह दुर्वासा ही हैं। दूर से उन्हें आता देखकर धरती पर लेटकर सभी पांडवों ने उन्हें दंडवत् प्रणाम किया। भीम तुरंत एक बड़े से कांस्य पात्र में जल ले आया। युधिष्ठिर ने गुरु एवं शिष्यों सबके चरण धोए। पूरे परिवार ने चरणामृत लिया। फिर सभी शिष्यों को वट के नीचे बैठाया गया।

हम लोग देख तो सब रहे थे, पर उतनी दूर से हमें कुछ सुनाई नहीं दे रहा था। तब तक छंदक बोला, “मुझे प्रसन्नता है कि सबकुछ आपके कथनानुसार ही हो रहा है।”

“यह तो ठीक है, पर देखो, इसका परिणाम क्या होता है!” मैं बोला।

“परिणाम भी आपके कहे अनुसार ही होना चाहिए।” छंदक ने कहा।

“होना चाहिए।” मैंने कहा, “पर इसका होना न होना हमारे हाथ में नहीं है—और यही हमारे दुःख का एक बड़ा कारण है, छंदक, कि जैसे कर्म मनुष्य के हाथ में होता है वैसे ही वह उसके फल को भी अपने हाथ में समझता है; जबकि उसपर नियति का अधिकार है।”

“यह क्या तमाशा है!” छंदक एकदम उखड़ गया—“तब मनुष्य कर्म की ओर प्रेरित क्यों होगा? कर्म हम करेंगे और फल आप देंगे?”

“इसीलिए कि हमारे कर्मों के प्रति हमारी निर्णायक बुद्धि काम नहीं करती; जैसे आँखें सबकुछ देखती हुई स्वयं को नहीं देख पातीं।” मुझे लगा कि छंदक मेरे कथन का दूसरा अर्थ भी निकाल सकता है। इसलिए मैंने अपने कथन को थोड़ा और स्पष्ट किया—“वैसे ही हमारी क्रियमाण बुद्धि अपने कर्मों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाती। अनजाने हम चूक पर चूक करते जाते हैं और अभीष्ट फल की कामना करते हैं।”

“बिना फल की आशा के मनुष्य कर्म की ओर प्रेरित नहीं होगा।” अपनी कही हुई बात पर छंदक ने फिर जोर दिया।

“मैं कब कहता हूँ कि फल की आशा मत कीजिए। फल पर दृष्टि भी रखिए, उसकी आशा भी कीजिए; पर उसपर आसक्ति मत कीजिए।” मैंने उसे और समझाया—“फल पर आसक्ति से हमारे कर्म कमजोर भी हो सकते हैं और साध्य के लिए साधन की पवित्रता भी खो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि हमारे कर्म भ्रष्ट भी हो जाएँ। दूसरे, जब हम फल पर अपना अधिकार नहीं समझेंगे तो अपने मनोनुकूल फल न प्राप्त होने से हम दुःखी नहीं होंगे। एक बात और है। फल तक पहुँचना ही कर्म की पूर्णता है। इस पूर्णता पर एक प्रकार का अहंकार भी पैदा होता है। हमने

यह किया है, हमने वह किया है। फल को दूसरे के हाथ में समझने से हममें अहंकार का भी जन्म नहीं होता।”

छंदक मेरी बात पर गंभीरता से सोचने लगा था।

बाद में मोहग्रस्त अर्जुन से जो मैंने ‘गीता’ कही थी, उसका एक अध्याय उसी समय जन्म ले चुका था। अब तक सामने जो कुछ हो रहा था या हो चुका था, उसे देखते हुए भी हम उसे देख नहीं पाए थे। अब दिखाई पड़ा कि वटवृक्ष के नीचे पंक्ति में भोजन के लिए बैठे ब्रह्मचारियों को दिखाने के लिए द्रौपदी भोजनालय से वह खाली हाँड़ी ले आ रही है। सभी पांडव भाई अत्यंत गंभीर एवं भयातुर मुद्रा में चुपचाप हाथ बाँधे खड़े हैं। सबकी दृष्टि झुकी हुई है।

उस खाली हाँड़ी को लेकर अब द्रौपदी ने पंक्ति के अंतिम छोर से दिखाना शुरू किया। यह उसकी चतुराई थी कि अंत में वह महर्षि के पास पहुँची।

हम लोग साँस रोके देखते रहे—ब्रह्मचारियों का आश्चर्य, असंतोष एवं तितिक्षा—और प्रतीक्षा कर रहे थे द्रौपदी के महर्षि तक पहुँचने की।

हमारे लिए एक कठिनाई और थी कि हम तक केवल दृश्य पहुँच रहा था, श्रव्य नहीं। आँखें ही सुनने और देखने—दोनों का काम कर रही थीं। ज्यों ही उसने महर्षि को हाँड़ी दिखाई, वे बड़े झटककर उठ खड़े हुए; जैसे कोई नाग फनफनाकर उठ खड़ा हुआ हो। उनकी आँखें निकल आईं और वे दाहिने हाथ की बिल्व की टहनी घुमाते हुए कुछ कहने लगे।

“महर्षि दाहिने हाथ में हमेशा बिल्व की टहनी क्यों लिये रहते हैं?” छंदक ने जिज्ञासा की।

“यह तो वे ही बता सकते हैं।” मैंने कहा, “पर यही बिल्व की टहनी इनकी पहचान बन गई है। इसीको घुमाते हुए ये सभी जगह घूमते हैं।”

पर द्रौपदी बड़े शांतभाव से बोल रही थी, हम देख रहे थे। लगता है, वह हमारा सिखाया संवाद ही बोल रही है।

महर्षि थोड़े शांत तो अवश्य हुए, उनके हाथ की टहनी भी भूमि देखने लगी। पर अचानक यह क्या हुआ? पाँचों पांडव फिर महर्षि के चरणों पर मस्तक धरकर धरती पर लेट गए।

मैं एकदम दीवार पर से कूद पड़ा। छंदक का हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा, “जल्दी चलो। लगता है, कुछ अप्रिय होने वाला है।”

हम सब एक ही रथ पर चल पड़े।

हमारे धड़धड़ाते हुए आते रथ को देखकर महर्षि और उनके शिष्य एकदम रुक गए। पांडव मुझे देखते ही रहे। द्रौपदी कनखियों से मुसकराई। मैं समझ गया कि मेरी ओषधि काम कर गई।

रथ से उतरते ही मैंने महर्षि को प्रणाम किया।

वे बोल पड़े—“अच्छा, तो आप भी उपस्थित हो ही गए!”

“मैं तो यह देखने चला आया कि अपने मंत्रज पुत्रों को पिता कैसे शापित करता है!” मैंने मुसकराते हुए कहा,

“कैसे एक तपस्वी पुत्रहंता के पाप से स्वयं को आबद्ध करता है!”

“अच्छा, तो यह मंत्र तुम्हारा ही दिया हुआ है!” उनकी मुद्रा और स्वर से स्पष्ट लगा कि उनका क्रोध पराजित हुआ है, पर धराशायी नहीं।

मैं कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराता रहा।

“पर याद रखना, कन्हैया! आज तो जो हुआ, सो हुआ, पर यह मंत्र फिर और कहीं काम नहीं आएगा।”

“यह आप शाप दे रहे हैं, प्रभु, कि व्यास की तरह पांडवों के लिए भविष्यवाणी कर रहे हैं?”

“जैसा तुम समझो।” इतना कहकर वे एक क्षण भी वहाँ रुक नहीं सके।

वे चले गए—जैसे राहु ने चंद्रमा को छोड़ दिया हो, ग्रहण-मोक्ष हुआ। पांडवों की आकृति पर चाँदनी छिटक आई।



पाँच

कई वर्ष बीत गए। पांडवों का कोई विशेष समाचार नहीं मिला। इस बीच हमसे जो कुछ हो सकता था, वह किया गया। गुप्तचर विभाग के प्रमुख अंग को केवल एक काम सौंपा गया था कि वह पूरे आर्यावर्त में घूम-घूमकर पांडवों पर हुई ज्यादतियों का प्रचार करे और पूरे आर्यावर्त से कहे कि धर्म की यदि ऐसी उपेक्षा हुई तो फिर देश में अधर्म की खेती होने लगेगी—और तब उसका फल हम सबको भोगना पड़ेगा। अनावृष्टि और अतिवृष्टि होगी, दुर्भिक्ष पड़ेगा, महामारी फैलेगी, मनुष्य का सुख-चैन छिन जाएगा; क्योंकि मनुष्य धर्म का पराभव देखकर चुप रह सकता है, पर प्रकृति चुप नहीं रह सकती। वह तो दंड देगी ही। उसका दंड सर्वोपरि है। उसे हमें झेलना ही पड़ेगा।

मैंने इस कार्य में छंदक को लगाया। उसकी प्रकृति हवा की तरह थी। वह प्रचार के धुँएँ को हर ओर उड़ा सकता था, कोने-अँतरे तक पहुँचा सकता था। उसने सत्य पर अपना रंग चढ़ाकर खूब प्रचार किया। हस्तिनापुर की प्रतिष्ठा पर धूल जमने लगी। उसके अपयश की गंध चारों ओर फैल गई।

एक ओर जुए का विलक्षण संदर्भ था ही, दूसरी ओर काम्यक वन में दुर्वासावाला षड्यंत्र भी कम नहीं था। और फिर अपयश की जो आँधी चली, उसने केवल एक ही पेड़ नहीं उखाड़ा, मार्ग के सारे वृक्ष झकझोरकर रख दिए। अब भीम को विष देने से लेकर आज तक की सारी घटनाओं को जोड़कर दुर्योधन के सारे कुकर्मों का एक लंबा-चौड़ा इतिहास ही बना दिया गया और लोगों के मन में यह बात बैठा दी गई कि यदि सत्ता धृतराष्ट्र के पास न होती, या धृतराष्ट्र पुत्र-प्रेम में न पड़ते तो पांडवों की यह स्थिति न होती।

उसने लोगों में यह विश्वास बैठा दिया कि यह संभव नहीं दिखता कि पांडव शर्त पूरी करने पर भी अपना राज्य पा सकेंगे।

छंदक ने बताया—“दशार्ण के महाराज ने स्पष्ट कहा, ‘द्यूतक्रीड़ा एक राजनीतिक शिष्टाचार अवश्य है; पर किसीको बलात् जुए के फड़ पर बैठाकर खेलने के लिए विवश करना—यह मात्र अनैतिकता नहीं, अपराध है। इसका विरोध होना चाहिए।’

“ ‘पर कौन करेगा उसका विरोध?’

“ ‘हम सबको मिलकर इसका विरोध करना चाहिए।’ दशार्णराज ने कहा। फिर कुछ सोचते हुए अचानक उनकी मुद्रा बदली—‘जब युधिष्ठिर जैसे धर्मनिष्ठ ने ही उसे न्यायसंगत मान लिया तब अब क्या किया जा सकता है! पर हुआ बड़ा अंधेरा है।’ ” छंदक का कहना था—“इस विषय पर बड़ी दृढ़ता से अपने निष्कर्ष व्यक्त करते हुए दशार्णराज ने कहा था—‘देखना, छंदक, पांडव अपने वचन का निर्वाह भले ही कर लें; पर अब उनका राज्य उन्हें मिलना नहीं है। अंत में तलवार ही उठेगी। पूरे आर्यावर्त की शांति उस तलवार के साए में आ जाएगी—और तब तुम्हारा मित्र भी निरपेक्ष नहीं रह सकेगा।’

“ ‘वह दिन बड़े दुर्भाग्य का होगा।’ मैंने कहा, ‘मैं युद्ध का कभी भी समर्थक नहीं रहा। मैं क्या, मनुष्य मूलतः कभी युद्ध नहीं चाहता। वह शांतिप्रेमी है। पर उसकी महत्त्वाकांक्षा सदैव उसे युद्ध की ओर झोंकती रही है। सत्ता की लिप्सा ऐसा अंगारा उगलती है कि कभी-कभी पूरा शांति वन उससे जलने लगता है।’ दशार्ण के महाराज ने मेरा समर्थन किया। उन्होंने कहा, ‘देखना, एक दिन कौरवों का सारा पाप आर्यावर्त के ही सिर फूटेगा और पूरा आर्यावर्त एक महासमर की चपेट में आ जाएगा।’ ”

मैं चुप हो सोचने लगा। फिर बोला, “तुमने उनसे यह नहीं पूछा, छंदक, कि युद्ध हुआ तो आप किधर होंगे?”

“यह पूछना मैंने उचित नहीं समझा; क्योंकि मैं देख रहा था कि उनकी पूरी सहानुभूति पांडवों की ओर है।”

मुझे बड़ा संतोष हुआ। कम-से-कम एक हवा तो बन रही है।

मैंने छंदक को धन्यवाद देते हुए कहा, “तुम बहुत बड़ा काम कर रहे हो। देखना, यह जनमत हस्तिनापुर को भी प्रभावित करेगा। आधा युद्ध तो जनमत के अनुकूल होते ही जीत लिया जाता है।”

आज न्यायपीठ पर बैठने का मेरा दिन था। यों दंडनायक लगभग सभी वाद निपटा देता था। जो थोड़े से पेचीदे विवाद और जिसमें वादी अपना निर्णय मेरे द्वारा ही कराना चाहता था, वे ही वाद मेरे समक्ष लाए जाते थे।

अतएव छंदक से पुनर्मिलन का वादा करके मैं उठकर चल पड़ा। अपराह्न का सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चला था। आज विलंब हो गया था।

अंतःपुर से निकलते ही गुप्तचर विभाग के प्रमुख कर्मचारी ने झुककर मेरा अभिवादन किया और बोला, “एक महत्वपूर्ण सूचना है।”

“क्या?” मेरे पैर ठिठके और एक क्षण के लिए मैंने यह अनुभव किया कि अंतःपुर के द्वार पर यह कर्मचारी बहुत देर से खड़ा रहा होगा।

उसने बताया—“राजमाता कुंती तीर्थ पर निकली हैं।”

“वह तुमसे कहाँ मिली थीं?”

“कहाँ बताऊँ?” उसने कहा, “वे जहाँ मिली थीं, वह ऐसा कोई विशेष स्थान नहीं है, जिसका कोई सर्वविदित नाम हो। यह कह सकता हूँ कि इस समय वे प्रभासतीर्थ में होंगी।”

“उनसे मिलकर तुमने यह नहीं कहा कि आप द्वारका भी होती चले?”

“मेरे मन में एक बार यह बात आई अवश्य थी। फिर सोचा कि इससे मेरी गोपनीयता उघड़ जाएगी। एक खुली गोपनीयता का गुप्तचर बुझी हुई आग की तरह व्यर्थ हो जाता है।”

मैं उसकी सूझ-बूझ एवं कर्तव्यनिष्ठा पर कुछ बोला तो नहीं, पर मुसकराया अवश्य। मेरी मुसकराहट में उसकी योग्यता की स्वीकृति थी। मैंने उसकी पीठ ठोंकी और कहा, “मैं अभी बुआजी को बुलाने के लिए राजकीय आमंत्रण के साथ एक दूत भेजता हूँ।”

तुरंत ही बिना किसीको पूर्व सूचना दिए मैंने बुआजी को बुलाने के लिए एक अमात्य के साथ यथानियम एक सैनिक टुकड़ी भेजी। जाना तो स्वयं मुझे था, पर व्यस्तता के कारण जा नहीं पाया।

ठीक इसके तीसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में राजमाता की सवारी द्वारका आ गई। नगर में प्रवेश करते ही उन्होंने समुद्र में स्नान किया और फिर द्वारका के विराट् शिव मंदिर में पूजन के लिए पधारीं। ऐसी ध्यानमग्न हुई कि मैं उनके पीछे ही खड़ा था, इसका उन्हें आभास नहीं हुआ।

समय अपनी गति से आगे बढ़ता जा रहा था। प्रातःकाल की पूजा आरंभ हो गई थी। घंटे, शंख, घड़ियाल—सब बज रहे थे; पर कुंती बुआ पर इसका कोई प्रभाव नहीं। वह मंदिर में बैठीं एकदम जड़वत्; जैसे उनकी आत्मा प्रभु में लीन हो अपने वनवासी बच्चों के लिए कुशलक्षेम की याचना कर रही हो और शरीर मूर्ति के समक्ष मूर्तिवत् हो। धूप-चंदन की गंध और पूजा की ध्वनियों के बीच उनका तपोनिष्ठ व्यक्तित्व मंदिर की निष्कंप दीपशिखा की तरह पवित्र तथा आकर्षक लगा। यद्यपि वे पहले से बहुत कृशकाय हो गई थीं, फिर भी उनकी आकृति पर एक अपूर्व शांति थी। थके-हारे जीवन की नहीं वरन् नियति को समर्पित, सामाजिक संदर्भों के एक निरपेक्ष द्रष्टा की, जिसको समझने की चेष्टा करना हिमाच्छादित गतिहीन गंगा में गोते लगाना था। मैं बस देखता रह गया। पूजन चलता रहा।

फिर मैंने उस अमात्य को बुलाया, जिसे बुआजी को आमंत्रित करने के लिए भेजा था। उसे एकांत में ले जाकर

मैंने पूछा, “तुम उन लोगों को जानते हो, जो राजमाता के साथ आए हैं?”

पहले तो वह सकपकाया, फिर बोला, “इतना तो जानता ही हूँ कि वे राजमाता के सेवक हैं, सैनिक हैं और हमारे अतिथि भी।”

मैं मुसकराया और बोला, “तुमने सही बात तो कही ही नहीं।”

“क्या?”

“वे हस्तिनापुर के गुप्तचर भी हैं, जो द्वारका में आए हैं।” मैंने कहा, “इनमें से प्रत्येक के प्रति हमें सजग रहना है। सबसे पहले तुम अपने कर्मचारियों और सैनिकों को उनसे अलग करो। उन्हें एक दिन का अवकाश दे दो। वे चुपचाप अपने घर चले जाएँ। और गुप्तचर विभाग के अमात्य को बुलाओ।”

शीघ्र ही गुप्तचर विभाग का अमात्य बुलाया गया। मैंने उसे सारी स्थिति समझाई—“हस्तिनापुर के ये सैनिक आए तो हैं कुंती बुआ की सेवा और सुरक्षा में, पर इनमें अधिकतर गुप्तचर होंगे। जो नहीं होंगे, उनको भी उनके अधिकारी द्वारका के विरुद्ध कोई-न-कोई गुप्तचरी का काम दे देंगे।”

“तो क्या करना चाहिए?”

“एक तो इनपर सजग दृष्टि रखनी चाहिए।” मैंने समझाया—“दूसरे, सेवक के बहाने इनमें हर एक के पीछे अपने गुप्तचर लगा देने चाहिए, जिससे वे सेवा करते हुए हस्तिनापुर की वर्तमान स्थिति का पता लगाएँ।”

“उनके समाचार तो रोज आते रहते हैं।” उसने कहा, “महामात्य को रोज उनसे परिचित कराता भी रहता हूँ।”

“वह मुझे मालूम है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अब तक तुम समुद्र में गोते लगाकर रत्न खोजते रहे हो। इस समय समुद्र सौभाग्य से तुम्हारे ताल में आ गया है। जाल डालकर जितना रत्न निकालना हो, निकाल लो।”

उसने मुसकराते हुए मेरी नीति स्वीकार की। मैंने अब उसे विस्तृत कार्यक्रम दिया—“बुआजी के साथ आए सभी सैनिकों को आज सागरस्नान कराओ, फिर समुद्रतट की सैर। आज का दिन ऐसे ही काट दो। कल प्रातः से ही उन्हें द्वारका दर्शन पर लगा दो। इस बीच भी उनके हर सैनिक के साथ तुम्हारा कोई-न-कोई व्यक्ति अवश्य रहना चाहिए।”

“यदि आपसे मिलने की कोई इच्छा व्यक्त करे तो?”

“तो उसे अवश्य मिलाओ।” मैंने कहा, “एक बार तो मैं उनसे सामूहिक रूप से मिलूँगा ही। यदि हो सकेगा तो कल के बाद परसों ही; क्योंकि उन्हें मैं संबोधित भी करना चाहूँगा।” इसके बाद मैं कुछ और सोचने लगा। पर किसी निष्कर्ष पर नहीं आया। तब मैंने कहा, “अच्छा, कल फिर मिलना, तब बातें होंगी।”

“एक बात शायद हमारे ध्यान में नहीं है।” अमात्य बोला।

“क्या?”

“यही कि उनमें से कोई यह कह रहा था कि पांडवों का अब अज्ञातवास भी आरंभ हो गया होगा।”

“हाँ, देखिए, आई न बात बिंदु पर।” मैंने कहा, “कौन कह रहा था?”

“किसी एक व्यक्ति को अलग नहीं किया जा सकता।” अमात्य ने कहा, “सुगबुगाहट सभी सैनिकों में थी।”

अँगुलियों पर गिनते हुए मैंने कहा, “निश्चित तिथि क्या है, यह तो मुझे मालूम नहीं। इसके लिए गर्गाचार्य से राय लेनी होगी।” इसी समय मेरी स्मृति में बिजली-सी कौंधी। करेणुमती को द्वारका पहुँचाने के लिए मैंने धृष्टकेतु से कहा था। हो सकता है, वह आ ही रहा हो। यदि वह आज-कल में आ धमकता है तो बना-बनाया काम बिगड़ सकता है। उसके आगमन की सूचना तुरंत हस्तिनापुर को हो जाएगी और तब उसकी शंकित दृष्टि सीधे द्वारका पर पड़ेगी। यह दृष्टि हमारी अब तक की सुरक्षित तटस्थता के लिए घातक होगी।

“आप किसी गहरी चिंता में खो गए?” अमात्य बोला।

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।” मैंने कहा, “वस्तुतः मैं अनुभव करता हूँ कि मैं जिसे अधिक ढकना चाहता हूँ, उसके उघड़ने की उतनी ही संभावना अधिक हो जाती है।” फिर मैंने उसे सारी कथा बता दी।

तब उसने राय दी—“जब धृष्टकेतुजी अभी तक नहीं आए हैं तब वे भगवान् करे कि दो-चार दिनों तक और न आएँ। इस बीच आप किसी व्यक्ति को भेजकर करेणुमती को चुपचाप बुला लीजिए और धृष्टकेतु को आने से रोक दीजिए।”

“मुझे तो लगता है कि अभी भी देर नहीं हुई है।” मैंने कहा, “इसके लिए तुम्हीं अपने विभाग के किसी विश्वस्त सैनिक को भेज दो।”

और ऐसा ही हुआ।

उधर कुंती बुआ सीधे पिताजी और माताजी से मिलीं। उन्हें देखकर वे कुछ बोल नहीं पाईं। आँखें भरी थीं। कंठ अवरुद्ध था। और फिर कंठ फूटा तो वह फफककर रो पड़ीं। लोग समझाते रहे और वह रोती रहीं। थोड़ी देर बाद जब वे प्रकृतिस्थ हुईं तब उन्होंने सारी कथा बताई। उनके कथन का सारांश था कि कभी भी मेरा जीवन आशंकामुक्त नहीं रहा। पति भी मिला तो रोगी; फिर भी वे मेरे लिए देवता थे। उनकी सारी कमियों को अपना कर्मफल समझकर उन्हें भोगती रही। अब तो जीवन की संध्या आई; पर कभी सूर्य बादलों से मुक्त नहीं दिखा। अब जीवन के अंत में कष्ट के अपार सागर में पड़ी थपेड़े खा रही हूँ।

तब मैंने समझाया—“बुआजी, आपको इतना निराश नहीं होना चाहिए। जब सुख के दिन नहीं रहे तब यह दुःख की रात भी नहीं रह जाएगी। और फिर आपको अपने पुत्रों के पराक्रम पर विश्वास करना चाहिए। ऐसे पराक्रमी, धर्मात्मा, धनुर्धर और सुंदर पुत्र इस समय आर्यावर्त में किसके हैं!”

“यह तो तुम ठीक कहते हो, कन्हैया! इसका मुझे गर्व अवश्य है।” कुंती बुआ बोलीं, “पर, वत्स, मैं तो एक दूसरे ही निष्कर्ष पर पहुँची हूँ। किसी माँ को धर्मात्मा पुत्र हो चाहे न हो, पराक्रमी हो चाहे न हो, धनुर्धर और गुणी हो चाहे न हो; पर उसके पुत्र को भाग्यवान् अवश्य होना चाहिए।”

मैंने अनुभव किया कि कुंती बुआ के जीवन का यही कठोर सत्य है। बड़े-से-बड़े पुरुषार्थ को प्रारब्ध चुटकी बजाकर निरर्थक कर देता है।

मैंने उन्हें फिर समझाया—“यदि मनुष्य के कर्म उचित हैं तो उसके प्रारब्ध को भी झुकना पड़ता है।”

“कहने और सुनने में तो यह अच्छा लगता है, बेटा! यथार्थ इसके विपरीत है।”

मैं कुछ कह नहीं पाया; क्योंकि एक ओर जीवन का कठोर सत्य था और दूसरी ओर मेरा कोरा जीवन दर्शन। एक का आधार भोगा हुआ यथार्थ था और दूसरे का आधार चिंतन। भोग के समक्ष चिंतन हमेशा असमर्थ दिखता है; पर होता नहीं है। भोग वर्तमान का होता है, इसलिए उसमें ताजापन होता है, सद्यता होती है। चिंतन तो शाश्वत होता है, वह समझ से कुछ दूर होता है। उस तक पहुँचने के लिए समझ को कुछ प्रयत्न करना पड़ता है।

हमारा चलना है कर्म। प्रयत्न या पुरुषार्थ चाहे जो कहें, पर गति का सिद्धांत है प्रारब्ध। हमें अपनी चाल का परिणाम गति के सिद्धांत के अनुसार ही मिलेगा। (इसीलिए तो मैं कहता हूँ, फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं) जबकि हम फल चाहते हैं अपनी चाल के अनुसार। यहीं भूल होती है। किंतु एक पीड़ित माँ के आगे यह सिद्धांत बघारना निरर्थक भी होता है और उसे चिढ़ाने जैसा भी। मैं चुपचाप उन्हें सुनता रहा।

वह कहती गई—“मेरे पुत्रों के पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं है; पर प्रारब्ध उनका साथ नहीं दे रहा है।”

“घबराओ मत, बहन, भगवान् पर भरोसा रखो। वह सब ठीक कर देगा।” माँ बोली।

“अब तक तो उसीका भरोसा किए हुए हूँ।” बुआजी बोलीं, “मैं रोज ही प्रार्थना करती हूँ कि प्रभु, यदि सबको तुम सद्बुद्धि नहीं दे सकते तो कम-से-कम दो-एक व्यक्ति को तो अवश्य सद्बुद्धि दो।”

“हाँ, दुर्योधन और उसके भाइयों की महत्वाकांक्षा न होती तो यह स्थिति शायद न आती।” माँ बोली।

“यही तो हम सबका भ्रम है, भाभी!” बुआ ने कहा, “दुर्योधन जितना दुष्ट दिखाई देता है उतना है नहीं। उस गोल में सबसे दुष्ट तो है शकुनि। वह ऐसा नाग है, जिसका विष कभी समाप्त होता ही नहीं। वह बराबर दुर्योधन को भरा करता है। दूसरा है कर्ण। वह तो बहुत समझदार है; पर पांडवों के प्रति उसके मन में ऐसी ईर्ष्या है कि वह उसीमें जला करता है। पर मैं उसे दोष क्यों दूँ? वह तो...” इतना कहते-कहते कुंती बुआ रुक गई। उनकी आँखें नीची हो गईं। मेरे माता-पिता भी अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो गए। उन्होंने मेरी ओर भी देखा। मुझे लगा कि इस समय उन्हें मेरी उपस्थिति कुछ भारी पड़ी।

पर मेरी दृष्टि बराबर बुआ की ओर थी। उनकी आँखें नम थीं। भीतर से उमड़ते आँसुओं को उनके धैर्य के बाँध ने आँखों तक ही सीमित कर रखा था। दो-एक अश्रुकण नयन कोरों में निरंतर झलक रहे थे। उन मोतियों में पीड़ा की आभा पर रहस्य का पानी चढ़ा था।

पिताजी अब भी मौन थे। उनकी स्थिति उस वक्त ऐसी थी, जो या तो सबकुछ जानता है या कुछ भी जानना नहीं चाहता। मुझे ठीक याद है, उस समय माँ ने ही बातें आगे बढ़ाई थीं—“खैर, अब तो बारह साल लगभग बीतने को आए। एक साल अज्ञातवास का रह गया है। भगवान् उसे भी काट देगा।”

“आप तो ऐसे कह रही हैं जैसे बारह साल बड़ी शांति से बीत गए हों।” बुआजी ने कहा।

“तो क्या उन बारह सालों में भी कौरवों ने परेशान किया था?”

“खुराफात तो शुरू की ही थी, पर उन्हें उलटे मुँह की खानी पड़ी।” बुआ ने कहा।

अब माँ की मुद्रा जिज्ञासु हो गई।

“आपको घटना नहीं मालूम है क्या?”

माँ ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

“तुम्हें भी नहीं मालूम?” अब बुआ ने मुझसे पूछा और तुरंत बोल पड़ीं—“तुम तो द्वारकाधीश हो, शासक हो। गुप्तचरों की दृष्टि से तुम्हें सारे आर्यावर्त को देखना चाहिए।”

“एक बार मुझे कुछ सूचना अवश्य मिली थी। साथ ही यह भी पता चला था कि पांडवों ने वह गौरवशाली लड़ाई शीघ्र ही जीत ली थी। इसलिए मैंने और कुछ जानने की चेष्टा नहीं की थी।”

“मुझे भी कुछ मालूम न होता, यदि दुर्योधन ‘प्रायोपवेशन’ (प्रायोपवेशन उस व्रत को कहते हैं, जिसमें व्यक्ति मृत्यु की आकांक्षा से अन्न-जल छोड़ देता है) पर उतारू न हो जाता।” बुआ ने बताया—“सारे हस्तिनापुर में हाहाकार मच गया। दो दिनों तक दुर्योधन ने कुछ खाया-पीया नहीं। बहुतों ने उसे समझाया; पर उसने किसीकी बात नहीं मानी। तब विदुर ने सारी स्थिति मुझे बताई और कहा, ‘महाराज का सोचना है कि शायद आपके मनाने से वह मान जाए।’

“‘जब इतने लोग कहकर हार गए तब भला मेरे कहने का उसपर क्या प्रभाव पड़ेगा! मुझे वह क्या समझता है!’

“‘हो सकता है, इस समय वह आपको समझे।’ विदुर ने बताया—‘सबसे बड़ी बात यह है कि आपसे कहने के लिए महाराज ने बड़े दुःखी मन से कहा है।’

“‘महाराज धृतराष्ट्र ने कहा है!’ जैसे मुझे विश्वास ही न हो। तब विदुर ने बताया—‘हाँ, भाभी, आप विश्वास करें। कल से तो उन्होंने भी अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है। स्वयं महारानी गांधारी रो रही थीं। वह आपके पास आना

चाह रही थीं। उनका विश्वास है कि दुर्योधन जो निश्चय कर लेता है, उससे वह जल्दी नहीं हटता। वह बचपन से ही हठी है।’

“तब मैंने विदुर से कहा, ‘आखिर वास्तविक बात क्या है? तुम तो मुझे पहेली बुझाने में लगे हो।’

“तब विदुर ने एक लंबा षड्यंत्र बहुत संक्षेप में सुनाया। उनका कहना था—‘इस षड्यंत्र की अवतारणा भी हस्तिनापुर के राजभवन में दुर्योधन के कक्ष में हुई थी। दुर्वासावाले कुचक्र में पराजित हो जाने के बाद कौरव बड़े निराश हुए। उन्होंने सोचा कि जब तक कन्हैया ही उनकी सहायता करता रहेगा तब तक उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। पांडव हमारी शर्त को पूरा कर एक दिन आ धमकेंगे और अपना राज्य माँगेंगे। यह चिंता व्यक्त की कर्ण ने।’ ”

मेरे मन में अचानक एक बात आई—“यह कर्ण हमेशा हस्तिनापुर में ही रहता है?”

“यही तो आश्चर्य है।” बुआ बोलीं, “मैंने उसे कभी अंग देश जाते नहीं सुना। फिर भी वह अंगराज है। हस्तिनापुर से इतना दूर अंग का शासन करने की उसमें अद्भुत क्षमता है।”

“और वह भी सूतपुत्र होकर!” मैंने कहा, “जन्मजात तो वह शासक है भी नहीं।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?” बुआ के मुख से अचानक निकल गया। फिर ऐसा लगा कि भीतर से उठ रही किसी बात को उन्होंने अचानक भीतर ढकेल दिया और तुरंत बातों की दूसरी पगडंडी की ओर पैर बढ़ा दिए—“यही हालत शकुनि की भी है। गांधार का राजकुमार होकर भी हस्तिनापुर में ही पड़ा रहता है। दुर्भाग्य है कि इस समय हस्तिनापुर का शासन वे चला रहे हैं, जिनसे हस्तिनापुर का कुछ लेना-देना नहीं है।”

जल का एक घूंट गले के नीचे उतार लेने के बाद बुआजी ने कथा की छोड़ी डोर पुनः थाम ली—“हाँ, तो उन लोगों ने तय यह किया कि हम लोगों को द्वैत वन में चलना चाहिए। वह काम्यक वन के निकट भी है और वहीं से पांडवों से छेड़छाड़ भी की जा सकती है। इसके लिए महाराज से आदेश लेना पड़ेगा और वह मिल भी जाएगा; क्योंकि द्वैत वन हस्तिनापुर के गोष्ठों (जहाँ गायें पाली जाती हैं) में से एक है। उसके निरीक्षण की बात किसी तरह उनके सामने उठाई जाए।

“ ‘और यदि महाराज ने पूछ लिया कि इस समय द्वैत वन के गोष्ठों के निरीक्षण की बात तुम लोगों के मन में क्यों आ रही है? कहीं तुम लोग पांडवों के विरुद्ध किसी षड्यंत्र की रचना करने में तो नहीं लगे हो, तब क्या कहा जाएगा?’ यह शंका भी शकुनि ने उठाई थी और इसका समाधान भी उसीने दिया।

“शकुनि ने सुझाव रखा कि पहले द्वैत वन के गोष्ठ प्रधान संगम को बुलाया जाए और उसके द्वारा ही युवराज के आमंत्रण का प्रस्ताव महाराज के समक्ष रखवाया जाए।

“इस प्रकार कौरवों के द्वैत वन जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। संयोग से उस दिन मैं कौरवों के प्रासाद में ही थी—और वह भी दुर्योधन के कक्ष की बगल में। उन्हें लगभग इस गतिविधि का आभास लग रहा था। सेना सज्जित करने की आज्ञा भेज दी गई थी। राजकुमारों के साथ उनकी पत्नियाँ भी जाने वाली थीं। उनकी दासियाँ उनकी तैयारी में लगीं और सैरंघ्रियाँ रानियों का शृंगार करने में।”

बुआ ने बताया—“मैंने विदुर से पूछा, ‘यह सब किसलिए हो रहा है?’

“विदुर बोले, ‘मैं कुछ कह नहीं सकता। मैं तो उतना ही जानता हूँ जितना राजप्रासाद जानता है।’

“ ‘मैं तो वह भी नहीं जानती।’ मैं बोली। तब विदुर ने कुछ विस्तार से चर्चा की—‘द्वैत वन का गोष्ठ प्रधान संगम आया था। दुर्योधन के कहने पर ही महाराज ने उसे द्वैत वन का अधिपति बनाया था। गायों की देखभाल और उनकी रखवाली का दायित्व उसी पर है। एक दृष्टि से द्वैत वन के गोष्ठों का उसे स्वामी ही समझिए। इसीसे

उसकी दुर्योधन में पूर्ण निष्ठा है। दुर्योधन जैसा चाहता है, उससे वैसा कराता है।’

“विदुर बोलते जा रहे थे—‘इस बार भी वह दुर्योधन के बुलावे पर तुरंत आ गया। तब उसे सारा पाठ शकुनि ने पढ़ाया। उससे महाराज के समक्ष कहलवाया गया कि उस क्षेत्र की सारी गायें इस समय द्वैत वन में एकत्रित कर दी गई हैं। एक बार उनकी गिनती और उनके स्वास्थ्य की परीक्षा कर लेनी चाहिए। ऐसा किए बहुत दिन हो गए हैं। इससे हमें अपनी गो-संपत्ति का सही अनुमान भी हो जाएगा और हमें उनकी देखभाल में सहायता भी मिलेगी।’

“‘यह तो तुम्हारा काम है।’ महाराज ने कहा।

“तब संगम बोला, ‘सबकुछ करेंगे हम और हमारे सहायक, पर यदि युवराज की देखभाल में यह कार्य संपन्न होता तो और बात होती। मेरा तो आग्रह है कि आप युवराज को अवश्य भेजें। यदि वे चाहें तो अपने मित्रों के साथ आएँ। कुछ दिनों तक अरण्य जीवन का भी आनंद लें।’

“बस, इतने पर महाराज ने वही कर दिया, जिसे दुर्योधन और उसके मित्र चाहते थे। एक बड़ी सेना और अधूरे रनिवास के साथ लोग द्वैत वन पहुँचे।”

अब सब बताने के बाद बुआजी कुछ समय के लिए चुप हो गई। फिर हँसते हुए बोलीं, “मैंने भी कहाँ का पचड़ा छोड़ा! जिस कथा को छोड़कर मैं आगे की बात बता रही थी, उसीको विस्तार से कहने लगी।”

“‘नहीं-नहीं, आप विस्तार से ही सुनाइए।’ मेरी जिज्ञासा बोल पड़ी।

“अब विस्तार करने को रह क्या गया है! लगभग सारी बातें तो विस्तार से सुना दी गई हैं।” बुआ ने कहा।

“पर अभी तक पता नहीं चला कि वह षड्यंत्र क्यों रचा गया था?” मैंने कहा।

“यह तो मुझे भी नहीं मालूम।” बुआ बोलीं, “विदुर का कहना है कि मेरे अनुमान से यह सब केवल पांडवों को चिढ़ाने के लिए किया गया था। कौरव पांडवों को यह दिखाना या बताना चाहते थे कि देखो, हम लोग कैसा विलास भोग रहे हैं और तुम लोग कितने कष्ट में हो!”

“‘हो सकता है।’ मैंने कहा, “‘क्योंकि काम्यक वन एवं द्वैत वन निकट ही हैं—और पूरा आर्यावर्त जानता है कि काम्यक वन ही पांडवों के वनवास का केंद्रबिंदु है। वे कहीं भी जाते हैं तो लौटकर वहीं चले आते हैं।”

फिर मैंने इसका कारण बताया—“जीवन की सुविधा वहाँ है—भूमि उपजाऊ है। जंगल के अधिकांश वृक्ष फलदार हैं। गोधन भी पर्याप्त है। और सबसे बड़ी बात है कि कई वनों को एक-दूसरे से अलग करती उपसागर जैसी एक विशाल झील है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई लगभग एक योजन के आसपास होगी। यही झील उस स्थली को नंदन कानन जैसा सौंदर्य प्रदान करती है।”

“तभी उस झील पर गंधर्व उतरते हैं।” बुआ बोलीं और कुछ-कुछ मुसकराते तथा कुछ-कुछ हँसते हुए उन्होंने कहा, “और वही झील कौरवों के लिए चुनौती बन गई।”

हम लोगों की जिज्ञासा और बढ़ी।

“कोई चित्रसेन गंधर्व अपने दल के साथ वहाँ शिविर डाले था।” बुआ फिर कथाक्रम में आ गई।

मैंने बीच में ही टोका—“अरे, चित्रसेन को तो मैं जानता हूँ। वह शक्तिशाली गंधर्वों में से एक है। उच्च कोटि का कलाकार है। अर्जुन ने उससे नृत्य की शिक्षा ली थी।”

“हाँ, तो उसीको कौरवों ने झील खाली करने का आदेश दिया।” बुआ ने बताया—“वहाँ महारानियाँ स्नान करने वाली थीं और दुर्योधन भी सदल-बल जल-विहार करने वाला था। इसीको लेकर गंधर्वों एवं कौरवों में कुछ कहा-सुनी हो गई और फिर दोनों में युद्ध छिड़ गया। ऐसा भयंकर प्रहार गंधर्वों ने किया, जिसकी कौरवों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। यहाँ तक कि कौरव भागने लगे। तब उन्होंने केवल दुर्योधन को घेर लिया।”

“ऐसा क्यों?”

“क्योंकि वही दल का नायक था।” बुआ की आवाज कुछ तेज और नेत्र विस्फारित हो गए। बड़े उत्साह से उन्होंने बहुत सारी बातें बताईं और कहा, “अरे, महिलाओं को तो छोड़ो, दुःशासन, कर्ण, शकुनि—सभी बुरी तरह घायल होकर रणक्षेत्र से भागे।”

“कर्ण रणक्षेत्र से भागा! यह क्या कह रही हैं आप?”

“ठीक कह रही हूँ, वत्स!” उनकी आँखें अचानक गीली हो गईं और बड़े टूटे स्वर में वह बोलीं, “बड़े-से-बड़ा पराक्रमी भी जब पापियों के पक्ष में खड़ा होता है तब उसका मनोबल पराजित रहता है और उसका पराक्रम कुछ कर नहीं पाता।” इतना कहकर बुआ कुछ क्षणों के लिए मौन हुईं।

मेरे माता-पिता तो चकित, मूर्तिवत् केवल सुनते रहे। मैंने ही बात आगे बढ़ाई—“फिर क्या हुआ, बुआ?”

“होता क्या! यदि वे लोग भागे न होते तो वे भी बंदी बना लिये गए होते। बाद में तो जिसने भी उनका सामना किया, उसे उन्होंने बंदी बना लिया। दुःशासन, दुर्मुख, दुर्जय आदि कौरव और उनकी रानियाँ आदि सभी बंदी हुए।” बुआ फिर चुप हो कुछ सोचने लगीं। फिर उन्होंने स्वयं बताया—“इसके बाद की स्थिति का लोगों ने जो वर्णन किया, वह मुझसे तो नहीं कहा जा सकता।”

“आप भले ही न कहना चाहें, पर उसे सुने बिना मेरा मन मानेगा नहीं।” मैंने कहा।

फिर बुआजी ने सँभल-सँभलकर उस सत्य का उद्घाटन किया, जिसे कोई महिला किसी पर पुरुष से तो खुलकर नहीं कह सकती—वह भी मातृतुल्य महिला।

उन्होंने बताया—“बड़ा हृदयविदारक दृश्य रहा होगा। सुना है, एक ओर घायल कौरव बंधन में जकड़े छटपटा रहे थे और दूसरी ओर गंधर्व उनकी रानियों को जंगल में घसीट-घसीटकर ले जा रहे थे। उनके वस्त्र लताओं और झाड़ियों में उलझकर चिथड़े-चिथड़े हुए जा रहे थे। अनेक तो निर्वस्त्र हो गई थीं। अनेक के अंग छिल गए थे। हे भगवान्, क्या किया होगा उन पशुओं ने!”

“पर गंधर्व कभी ऐसी अभद्रता नहीं करते।” अब तक मौन रहे पिताजी बोल पड़े—“उनमें इतनी पशुता आ कैसे गई?”

“युद्ध और क्रोध में मनुष्य की पशुता ही तो प्रगल्भ होती है, पिताजी!” मैंने कहा।

“द्रौपदी ने सुना होगा तो बड़ी प्रसन्न हुई होगी।” माँ बोली, “उसके प्रतिशोध को बड़ी शांति मिली होगी।”

“हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।” बुआ ने कहा, “मेरी बहू बड़ी विचित्र है। उसका प्रतिशोध कर्ण से है, दुःशासन से है, उनकी रानियों से नहीं। यह संपूर्ण घटना सुनकर उसका कहीं नारीत्व न झकझोर उठा हो। तब तो वह स्वयं गंधर्वों का रक्त पीने के लिए महाकाली हो गई होगी।” इसके बाद बुआ ने यह भी बताया—“वहाँ से लौटने के बाद कुछ चुनी हुई दासियों को छोड़कर किसी बाहरी महिला को अंतःपुर में जाने नहीं दिया गया।”

“इस स्थिति में होते हुए भी कौरव लौट आए?” पिताजी बोले, “क्या उन्हें चुल्लू भर पानी डूबने को नहीं मिला?” पिताजी जैसे सहज, निरपेक्ष और नियतिवादी की यह टिप्पणी मुझे विचित्र लगी।

बुआजी ने भी स्वर में स्वर मिलाया—“जबकि पानी से लबालब भरी झील सामने थी।”

मैंने अनुभव किया कि व्यक्ति की चिंतना सामूहिक स्तर पर वैसी गंभीर नहीं रहती जैसी वह व्यक्तिगत स्तर पर रहती है।

मेरी जिज्ञासा तो आगे की कथा की ओर थी। मैंने उस ओर पुनः बुआ का ध्यान आकर्षित किया।

उन्होंने सुनी-सुनाई घटना वैसे ही सुनानी आरंभ की—“भागनेवाले तो भाग खड़े हुए। जिन्हें बंदी बनाना था उन्हें

चित्रसेन ने बंदी भी बना लिया और जिनकी फजीहत करनी थी उनकी खूब फजीहत भी की; पर गंधर्वों ने सैनिकों के साथ विशेष अत्याचार नहीं किया। जिन्होंने पराजय स्वीकार की उन्हें एकदम छोड़ दिया—और अमात्यों को तो छुआ तक नहीं।” इसके बाद बुआ कुछ देर के लिए रुकीं और कुछ सोचने लगीं—जैसे कुछ भूला-बिसरा याद कर रही हों। फिर सिर खुजलाते हुए बोलीं, “देखो, याद नहीं आ रहा है। क्या नाम बता रहे थे उसका!...अरे भाई, चित्रसेन...ऐसा ही नाम है।”

“चित्ररथ तो नहीं?” मैंने कहा।

“हाँ-हाँ, चित्ररथ ही। तुम्हें कैसे मालूम?”

“मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। वह चित्रसेन का अनुज है।”

“तो अपने अनुज को ही चित्रसेन ने आज्ञा दी कि इन बंदी लोगों को आकाश मार्ग से ले चलो। चित्ररथ ने तुरंत अपने भाई की आज्ञा का पालन किया और शेष गंधर्वों को इस कार्य में लगाया।”

बुआ कहती गई—“अब शेष बचे कौरव सैनिक घबरा गए। कौन सा मुँह लेकर अब हम हस्तिनापुर लौटेंगे। यही स्थिति अब अमात्यों की भी हुई। बहुत सोच-समझकर अमात्यों ने निश्चय किया कि हमें काम्यक वन में पांडवों से अविलंब संपर्क करना चाहिए।”

“पर काम्यक वन द्वैत वन के इतना निकट तो है नहीं कि वे तुरंत पहुँच गए होंगे!” मैंने कहा।

“यह सब तो मैं नहीं जानती।” बुआ बोलीं, “तुम इतना ही समझो कि वे किसी तरह वहाँ पहुँच गए और सारी बातें उन्होंने युधिष्ठिर से कहीं। संयोग कुछ ऐसा कि युधिष्ठिर अपनी कुटिया से दूर उसी सरोवर के एक छोर पर एक दिन में समाप्त होनेवाला राजसी यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में द्रौपदी भी उनके साथ थी। वे वहाँ से उठने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने अपने भाइयों को कुटिया पर से तुरंत बुलवाया।” बुआ ने बताया—“मैंने सुना है कि भीम ने पहले किसीको उनके पास जाने नहीं दिया और कहा, ‘मरने दो दुष्टों को! जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा। आए थे नीच अपना वैभव और विलास दिखाकर हमें जलाने, अब मृत्यु से साक्षात्कार करने की स्थिति आ गई। हममें से कोई भैया के पास नहीं जाएगा; क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसी स्थिति में भैया हमें क्या आज्ञा देंगे!’ ”

“आपको इतने विस्तार के साथ ये सारी बातें मालूम कैसे हो गई?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

उन्होंने भी मुसकराते हुए और लगभग हँसते हुए ही उत्तर दिया—“क्योंकि मुझे भी यह घटना बहुत प्रसन्नकर थी।”

उनके इस उत्तर से हम लोगों को भी हँसी आ गई।

वे बताती जा रही थीं—“वहाँ से लौटे एक अमात्य ने अपने महामात्य (विदुरजी) से सारी घटना अक्षरशः बताई थी। उन्होंने भी विस्तार से बड़ा रस ले-लेकर एक-एक बात मुझे सुनाई थी। जब वे राजभवन से संध्या को लौटते तब पूजन से निवृत्त हो अपने परिवार को भी मेरे साथ बैठा लेते तथा एक-एक बात को सविस्तार सुनाते। इतिहास, पुराण और वैदिक कथाओं की तरह उसकी व्याख्या भी करते जाते। मुझे याद है, इसी क्रम में उन्होंने कहा था—‘हम भले ही अन्याय सहकर चुप रह जाएँ, पर नियति अन्यायी को उसके कर्मों का फल अवश्य देती है और वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। अब देखिए, कौरवों से हममें से किसीने वह करने के लिए नहीं कहा था, जिसे करने वे वहाँ चले गए थे।’ ”

इसी क्रम में बुआजी ने एक बड़े महत्व की बात बताई। उन्होंने कहा, “मैंने विदुर से कहा कि कौरवों को तो इस घटना से शिक्षा लेनी चाहिए। तब विदुर ने कहा, ‘लेनी तो चाहिए। पर वे कभी नहीं लेंगे और इसी तरह हमेशा अन्याय तथा अनीति करते रहेंगे।’

“ ‘आपके कहने का तो यह भी तात्पर्य हुआ कि अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर भी वे अनीति का मार्ग अपना सकते हैं?’

“ ‘मुझे तो ऐसा ही लगता है।’ विदुर बोले।

“ ‘तो क्या मेरे पुत्रों को युद्ध करना पड़ेगा और अपने भाइयों को ही मारना पड़ेगा?’

“ ‘पांडवों द्वारा मारे जाने के पहले ही नियति उन्हें मार चुकी होगी।’ विदुर ने बड़े विश्वास से कहा था।”

और यही बात युद्ध में मोहग्रस्त अर्जुन से मैंने भी कही थी।

मैंने फिर कथा को आगे ढकेला—“‘फिर क्या हुआ?’”

“‘हुआ क्या! युधिष्ठिर ने पुनः अपने अनुजों को बुलाया। इस बार सभी उनकी सेवा में उपस्थित हुए। भीम अपनी प्रकृति के अनुसार वहाँ भी रोष प्रकट करने से स्वयं को रोक न सका। युधिष्ठिर ने बड़े शांतभाव से उसे समझाया—‘तुम ठीक कहते हो, भीम! हम उनके अत्याचार और अनीति के शिकार हुए हैं और कष्ट भोग रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि उनकी बुद्धि मारी गई है तो हमारी भी मारी जाए। जरा सोचो तो, इस स्थिति में हमारा क्या धर्म है? यह तो संयोग है कि वे हमारे भाई हैं। यदि किसी और पर विपत्ति पड़ी होती और वह हमारी शरण में आता तो हम क्या करते?’

“‘युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर भीमादि चुप तो हो गए; पर अपने निर्णय से हिलते नहीं दिखाई दिए। तब युधिष्ठिर ने कहा, ‘तो मैं स्वयं यज्ञ भंग करके उठता हूँ।’ सुना है, तब अर्जुन आगे आया। उसने कहा, ‘आप यज्ञ भंग न करें। पहले तो मैं चित्रसेन को समझाऊँगा। वह मेरा मित्र भी है और मैंने उससे नृत्य कला सीखी है—वह मेरा गुरु भी रहा है।’

“‘भीम ने फिर टोका—‘और यदि उसने तुम्हारी बात नहीं मानी तो?’

“ ‘तो फिर युद्ध होगा। भले ही अरण्य की यह देवभूमि रक्तरंजित हो जाए, पर मैं कौरवों को गंधर्वों से मुक्त कराकर ही दम लूँगा।’ ” बुआ ने बड़ी प्रसन्नता से कहा, “‘विदुर का कहना था कि ऐसा कोई अमात्य और कौरव सैनिक नहीं था, जिसने उस समय युधिष्ठिर तथा अर्जुन की सराहना न की हो और पांडवों के पक्ष में जयघोष न किया हो।’”

बुआ सुनाती रहीं—“‘आते ही अर्जुन ने चित्रसेन को बुलवाया। चित्रसेन ने जब सुना कि मेरा पुराना मित्र और शिष्य अर्जुन आया है तो वह तुरंत उपस्थित हुआ—‘अरे, तुम यहाँ कैसे?’

“ ‘यही तो मैं तुमसे पूछने आया हूँ कि तुम यहाँ कैसे? और यहाँ आए भी तो अनीति और अत्याचार से इस तपोभूमि को अपवित्र करने!’

“ ‘मैं कुछ समझ नहीं पाया?’

“ ‘मैंने सुना है कि तुमने कौरवों को बंदी बनाया है और उनकी रानियों के साथ बलात्कार किया है तथा उन्हें हरकर भी ले जा रहे हो?’

“‘वह मुसकराते हुए बोला, ‘क्योंकि वे इस तपोभूमि को विलासभूमि बना रहे थे।’

“ ‘अच्छा, तो तुमने इसका ठेका ले रखा है!’ अर्जुन ने कहा, ‘यदि वे तपोभूमि अपवित्र कर रहे थे तो वे उसका दंड पाते।’

“ ‘उन्होंने उसका दंड ही तो पाया है।’

“ ‘दंड पा लिया तो अब उन्हें मुक्त कर दो।’

“ ‘यह तो असंभव है।’

“ ‘मेरे विचार से तो यही संभव है। अन्यथा अब तुम दंड के भागी हो।’ अर्जुन ने कहा, ‘देखो चित्रसेन, तुम मेरे पुराने मित्र हो, इसलिए अभी मैं तुम्हें समझा रहा हूँ। तुमने पर स्त्रियों का अपहरण कर उनके साथ बलात्कार किया है। इसलिए उन्हें छोड़कर तुरंत उनसे क्षमा माँगो या दंड भोगने के लिए तैयार हो जाओ।’ ”

बुआ ने बताया—“इसपर चित्रसेन भी थोड़ा असामान्य हुआ। बोला, ‘कौन देगा हमें दंड?’

“ ‘उनके भाई-बंधु देंगे।’ अर्जुन ने कहा।

“ ‘अच्छा, तो आप ही उनके भाई-बंधु हैं, जो हमें दंड देंगे!’ व्यंग्य करते हुए चित्रसेन ने कहा, ‘आप ही लोग हैं न, जिनका राज्य छीनकर कौरवों ने निष्कासित कर दिया है! अरे, आप लोगों को तो मुझे पुरस्कृत करना चाहिए और आप चले हैं हमें दंड देने!’

“इतना सुनते ही अर्जुन क्रोध में आ गया।” बुआ बोलीं, “फिर तो घमासान युद्ध होने लगा।”

मेरे मुख से निकला—“घमासान क्या हुआ होगा? अर्जुन और भीम के प्रहार से वह धराशायी हो गया होगा।”

“नहीं, नहीं! ऐसा नहीं हुआ।” बुआ ने बताया—“एक संध्या तो विदुर ने उस युद्ध की भयंकरता में ही बिता दी थी। उनका कहना था कि दिन भर तो युद्ध चलता रहा, जब रात हुई तब वह और भयंकर हो गया। आप लोग तो जानते ही हैं कि रात्रि के अंधकार में गंधर्वों और दानवों की शक्ति दूनी हो जाती है। युद्ध की भयंकरता का आभास इसीसे लगता है कि अर्जुन को ‘स्थूलकर्ण’, ‘इंद्रजाल’, ‘सौर’, ‘आग्नेय’, ‘सौम्य’ जैसे दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करना पड़ा।”

“अरे, ये शक्तियाँ तो अद्भुत हैं!” मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे तो सामान्य युद्ध की ही सूचना दी गई थी। अब मैंने स्वीकार किया—“तब तो युद्ध अद्भुत हुआ होगा।”

“यदि अर्जुन ने इतनी शक्तियाँ न लगाई होतीं तो शायद उसे यह सफलता न मिलती।” बुआ बोलीं। फिर उन्होंने अपने साथ आई सेविका की ओर देखा। उसने भी अपनी स्वामिनी के कथन पर सिर हिलाया।

बुआ के साथ केवल एक सेविका थी। विदुर परिवार की पुरानी सेविका सुखदा।

मुझे लगा कि बातों में बड़ा समय निकल गया। पूर्वाह्न के कार्यालय का समय तो लगभग समाप्त हो चुका था। अब तो भोजन के बाद अपराह्न ही कार्यालय जा पाऊँगा। आजकल शासन की स्थिति भी असामान्य थी। हर क्षण सजग रहना पड़ता था। हस्तिनापुर से आए सैनिकों की गतिविधियों पर ध्यान रखने के लिए अलग से व्यवस्था करनी पड़ी थी और प्रतिदिन उनमें फेर-बदल करना पड़ता था। इधर बुआजी की कथा बढ़ती चली जा रही थी। उसे आगे ढकेलते हुए मैंने पूछा, “फिर क्या हुआ?”

“होना क्या था! किसी तरह छूटकर कौरव हस्तिनापुर आए।” बुआ बोलीं, “सुना है, दुर्योधन आना नहीं चाहता था। वह कह रहा था कि अब मैं हस्तिनापुर जाकर कौन सा मुँह दिखाऊँगा? लोग क्या कहेंगे कि जिन लोगों को तुमने निर्वासित कर दिया, उन्हीं लोगों ने तुम्हें मृत्यु के मुख से निकाला? धिक्कार है तुम्हारे इस जीवन पर!” बुआ का कहना था—“एक अमात्य ने विदुर को यह भी बताया कि दुर्योधन इस बार अपने मामा पर बड़ा नाराज हुआ। उसने क्रोध में उन्हें बड़ा अंड-बंड कहा। बोला, ‘आपकी किसी योजना पर आज तक मुझे सफलता नहीं मिली। हर बार हमें मुँह की खानी पड़ी।’ ”

“तब मामा ने क्या कहा?” मैंने पूछा।

“उसने कहा, ‘इस समय तो तुम क्रोध में हो, भानजे, जो चाहे, कह लो। पर जब तुम शांत होना तब सोचना कि एक बूँद रक्त बहाए बिना सारे इंद्रप्रस्थ पर तुम्हारा अधिकार किसकी योजना से हुआ!’ ”

इसके बाद बुआ ने मुसकराते हुए कहा, “इसी संदर्भ में शकुनि ने एक जोरदार बात कही, जिसपर विदुर काफी

देर तक हँसते रहे। उसने कहा कि 'भानजे, पासा तो हर बार मैं चित ही फेंकता हूँ, उसका फल यदि तुम्हें न मिल पाए तो इसमें मेरा क्या दोष! कभी-कभी अपने भाग्य की ओर भी देखा करो।' "

हम लोगों को हँसी आ गई।

मैंने कहा, "बड़ी जोरदार बात कही मामा ने। फिर तो दुर्योधन चुप ही हो गया होगा!"

"हाँ, उसके बाद उसने शकुनि से शायद कुछ नहीं कहा।" बुआ बोलीं।

"फिर प्रायोपवेशनवाली स्थिति कैसे पैदा हो गई?" मैंने पूछा।

"यह स्थिति तो मार्ग में ही पैदा हो गई थी।" बुआ बोलीं, "मैंने सुना है कि दुर्योधन ने मार्ग में ही निश्चय कर लिया था कि अब मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा और प्राण दे दूँगा। जीवित हस्तिनापुर नहीं जाऊँगा। जो जीवनदान पांडवों की कृपा से मिला है, उसे धिक्कार है।...तब उसे रथ में डालकर लोग किसी तरह हस्तिनापुर ले आए। यहाँ भी उसने अपना संकल्प नहीं तोड़ा। स्थिति भयानक होती गई। अब वह कृशकाय भी होने लगा।" इतना कहते-कहते बुआ को कुछ और याद हो आया। वह अचानक हँस पड़ीं।

"क्या बात है, बुआजी, अचानक क्यों हँस पड़ीं?" मेरी जिज्ञासा बढ़ी।

तब बुआ ने बताया—"एक ओर दुर्योधन ने अन्न-जल त्याग दिया—पूरे राजभवन में उदासी छा गई, दूसरी ओर प्रजा को इस स्थिति पर विश्वास ही नहीं था। प्रजा की दृष्टि में दुर्योधन नाटक कर रहा था; क्योंकि जब कभी भी महाराज उसकी इच्छावाली नहीं करते थे, वह विष खा लेने और प्राण त्याग देने की धमकी देता था। इस बार भी प्रजा ने कुछ ऐसा ही सोचा। इसके पीछे भी उसे किसी रहस्य या किसी षड्यंत्र की गंध लगी। इसलिए राजप्रासाद की सारी उदासी और सारा हाहाकार राजप्रासाद में ही सीमित रह गया। प्रजा तो व्यंग्य और परिहास ही करती रही।"

"यही होता है बार-बार के असत्य का परिणाम कि लोगों का विश्वास हमारे सत्य से ही उठ जाता है।" माँ बोली।

माँ की इस बात पर किसीने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की; क्योंकि सबका मन आगे जानने की ओर था।

"हाँ, तो आप महाराज धृतराष्ट्र के कहने पर दुर्योधन को समझाने चली गईं!" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"हाँ, लोग जानते भी यही हैं और मैं सबसे ऐसा कहती भी हूँ; क्योंकि थोड़ी-बहुत मैं भी राजनीति जानने लगी हूँ।" इतना कहकर वे हँसने लगीं।

हम लोगों को भी हँसी आ गई।

कुंती बुआ की मुद्रा संतोष से भरी थी। इस घटना पर तो उन्हें संतोष था ही, साथ-ही-साथ उनके मन में रह-रहकर यह बात भी उठ रही थी कि उनके पुत्रों के वनवास का समय अब पूरा हो रहा है। शायद इसका संतोष उन्हें अधिक था।

"संसार जानता है कि महाराज के कहने पर मैं दुर्योधन को समझाने गई थी; पर उसके पीछे बात दूसरी थी। वास्तव में दो बार तातश्री विदुर से कह चुके थे कि कुंती को दुर्योधन के यहाँ समझाने के लिए भेजो। एक बार तो उन्होंने संकेत से कहा था। दूसरी बार उन्होंने स्पष्ट कहा, तब मैं गई। वह भी मैं दुर्योधन के यहाँ नहीं वरन् गांधारी जीजी से मिलने गई थी।"

बुआ कहती जा रही थीं—"वह मिलते ही मुझसे लिपटकर जैसे फूट पड़ीं। आँखों के बाँध टूट गए और ऐसी बाढ़ आई कि मैं भी बह गई। मैं गई तो थी उन्हें समझाने और समझ न पाई कि क्या करूँ। उनकी आँखों से पुत्र-प्रेम की गंगा और मेरी आँखों से सहानुभूति की यमुना बहती रही।

"अब मुझे बताओ, मैं क्या करूँ?" मैंने उन्हींसे पूछा, 'कहो तो मैं दुर्योधन को समझाऊँ। कई बार मेरे मन में यह

बात आई कि मैं उससे यह व्रत तोड़ने के लिए कहूँ। शायद वह मेरी बात मान ले। पर मन में यह भय भी बना रहा कि कहीं वह मुझे देखते ही चिढ़ न जाए तथा उसका हठ और भी कठोर न हो जाए।’

“वह गंभीर हो कुछ समय तक सोचती रहीं। फिर बोलीं, ‘तुम ठीक सोचती हो, बहन! दोनों संभावनाएँ हैं। वह नीच हमेशा उससे चिपका रहता है।’ शायद उन्होंने ‘नीच’ शब्द का प्रयोग शकुनि के लिए किया; क्योंकि भाई होते हुए भी वह उसे भीतर से बिल्कुल नहीं चाहती थीं। पर इस समय वह ‘नीच’ संबोधन के आगे बिल्कुल नहीं बढ़ीं। चुप हो गई।

“‘तो मैं क्या कर सकती हूँ?’ मैंने उनसे पुनः पूछा।

“‘यदि उचित समझो तो पहले तुम महाराज से मिलो। तुम अपनी शंका उनके सामने रखो और एकांत में रखो।’ जब गांधारी जीजी ने कहा तब मैं महाराज के यहाँ गई।

“‘पहले तो महाराज भी सुनकर सोच में पड़ गए थे। फिर बोले, ‘तुम अवश्य जाओ और उसे समझाने की चेष्टा करो। बहुत होगा तो वह तुमसे नाराज हो जाएगा। फिर इससे बुरा क्या होगा, जो होने वाला है।’

“‘तब मैं दुर्योधन के यहाँ अप्रत्याशित पहुँची। वहाँ दुर्योधन की रानियों के अतिरिक्त कर्ण और शकुनि भी थे। कर्ण तो एक औपचारिक अभिवादन के बाद चुपचाप बाहर चला गया। शकुनि ने मुझे देखते ही खड़े होकर प्रणाम किया और खड़ा ही रहा। बहुओं ने मेरे चरण स्पर्श किए और उसके पास से थोड़ा दूर हट गईं। अब मुझे देखने के लिए दुर्योधन ने आँखें खोलीं। तब मैंने उसका सिर सहलाते हुए कहा, ‘यह क्या दशा बना रखी है, प्रिय वत्स?’

“‘वह मेरी गोद में सिर रखकर सिसकने लगा। निश्चित ही यह उसके पश्चात्ताप के आँसू थे। पहाड़ शीघ्र पिघलता नहीं और जब पिघलता है तब अपने अस्तित्व को ही बहा देता है। मैं उसका सिर सहलाती और समझाती रही—‘जो कुछ हुआ, उसे भूल जाओ। तुम्हारा जीवन अमूल्य है। तुम नहीं रहोगे तो फिर इस हस्तिनापुर में क्या रह जाएगा!’

“‘वह जोर से रोने लगा। मैंने फिर समझाया—‘इन आँसुओं से अपना मन धो डालो और एक नए जीवन की शुरुआत करो। तुम्हारा यह समय ‘प्रायोपवेशन’ संकल्प लेने का नहीं है। अभी तो हम लोग बैठे ही हैं।’ इतना सुनकर वह कुछ कहना चाहकर भी बोल नहीं पाया।’

बुआ बोलती रहीं—“‘इस सहानुभूति की वर्षा उस सिंधु से उठे बादलों से हो रही थी, जिसे कल तक वह अम्लीय समझता था। मैंने अब शकुनि की ओर देखा, उसका चेहरा फक; जैसे सारा पानी उतर गया हो। दुर्योधन की भी सिसकनें कुछ कम हुईं। मैंने अवसर देखा। तुरंत रजत पात्र में मधुमिश्रित गंगाजल लाने को कहा।

“‘भानुमती उठी और स्वर्ण पात्र में मधुमिश्रित गंगाजल ले आई। मैंने प्रतिकार किया—‘इस समय युवराज के धधकते मन को रजत की शीतलता चाहिए, स्वर्ण की दाहकता नहीं।’

“‘फिर भी दुर्योधन कुछ नहीं बोला। जब मैंने पात्र उसे थमाया तब वह सिसकते हुए बोला, ‘आपके बेटे ने मुझे बंधनमुक्त कराया और अब आपसे जीवनदान लूँ।’

“‘तब मैंने कहा, ‘गंगाजल पिलाकर मैं तुमपर कोई अहसान करने नहीं आई हूँ और न मैं तुमसे किसी तरह की कृपा की आकांक्षा ही करती हूँ। तुम्हारी चाची हूँ, अपना कर्तव्य-पालन करने आई हूँ। तुम्हारे कर्मों एवं महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगाना न तो मेरा धर्म है और न मेरी मंशा। मेरी तो केवल इतनी ही इच्छा है कि तुम जल ग्रहण करो और इस बहुमूल्य जीवन को सुरक्षित रखो।’ ”

बुआ ने बताया—“‘अब शकुनि की भी बैखरी फूटी—‘हाँ, भानजे, जो कुछ हुआ, उसे भूल जाओ। बहनजी के हाथ से जल ग्रहण करो। ये ठीक कह रही हैं। इन सारे संदर्भों का तुम्हारे और पांडवों के संबंधों से कुछ भी लेना-देना

नहीं है।’

“दुर्योधन ने एक बार फिर शकुनि की ओर देखा। उसने फिर आग्रह किया। तब दुर्योधन ने मेरे हाथ से जल ग्रहण किया। उसने एक घूँट पिया। फिर उस पात्र को मैंने भानुमती को थमा दिया और उठ खड़ी हुई। दुर्योधन ने मेरे चरण छुए और मैं आशीर्वाद देकर चली आई।

“मैंने उसी समय समझ लिया था कि लाख करो, पर कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं हो सकती।”

□

इस कथा की मेरे परिवार में बहुत दिनों तक चर्चा चलती रही। लोग इसका आनंद भी लेते रहे और इसके परिणाम की भी अपने ढंग से भविष्यवाणी करते रहे; पर बुआजी ने एक बात और कही थी, जिसपर हम लोगों में से किसीने उस समय ध्यान नहीं दिया। बुआ ने कहा था कि जिस समय उन्होंने दुर्योधन के कक्ष में प्रवेश किया उस समय वहाँ एक कृत्या भी दिखाई पड़ी थी; किंतु क्षण भर में वह अदृश्य हो गई।

पर बुआजी से फिर कभी मैंने उसके बारे में नहीं पूछा; क्योंकि पूछकर मैं उनके मन में एक नई शंका पैदा करना नहीं चाहता था। केवल स्वयं सोचता और निष्कर्ष निकालता रहा। मेरी विचार-परिधि में वे तांत्रिक आते रहे, जिन्हें खांडव वन को जलाते समय हम लोगों ने भगा दिया था। उनका पांडवों से स्थायी वैर होना स्वाभाविक था। हो सकता है, दुर्योधन ने उन तांत्रिकों को इंद्रप्रस्थ में पुनः बसा लिया हो। यह भी हो सकता है कि यह कृत्या (कृत्या तांत्रिकों की मंत्रशक्ति से उत्पन्न एक शक्ति है, जो उनका आज्ञा-पालन करती है, जिनके मंत्र से वह उत्पन्न होती है।) उन्हींके द्वारा भेजी गई हो और उसको दुर्योधन का व्रत तुड़वाने के लिए ही भेजा गया हो। यदि यह सत्य है तो वे तांत्रिक कभी नहीं चाहेंगे कि पांडव फिर सत्ता में आएँ। इस नितांत रहस्यपूर्ण निष्कर्ष को मैंने अपने चिंतन तक ही सीमित रखा।

इस बीच एक सुरक्षाधिकारी करेणुमती को बड़े गोपनीय ढंग से ले आया। वह स्वयं शुक्तिमती (चेदि की राजधानी) गया था। करेणुमती के आने की किसीको भी कानोंकान खबर नहीं थी। उसने पहली सूचना मेरे पास भेजी।

मैंने तुरंत उसे बुलवाया और पूछा, “इसकी सूचना किसी और को भी है?”

उसने मुसकराते हुए कहा, “हाँ, एक व्यक्ति को और है।”

मेरे तो कान खड़े हो गए। मैंने उसी समय पूछा, “वह कौन है?”

“मेरी पत्नी।” उसने हँसते हुए कहा, “अब वह करेणुमती की सखी है।”

बात यह हुई कि वह सुरक्षाधिकारी द्वारका में करेणुमती को लाकर सीधे राजभवन नहीं आया। सुरक्षा और गोपनीयता की दृष्टि से वह अपने घर ही गया। दो-तीन दिनों बाद जब लोगों को यह अच्छी तरह विश्वास हो गया कि वह जो स्त्री सुरक्षाधिकारी के घर आई है, वह उसकी निकट संबंधी है, तब वह आया।

मैंने उस सुरक्षाधिकारी की चतुराई की बड़ी प्रशंसा की और कहा, “कल तुम्हारी पत्नी को उसकी नई सखी (करेणुमती) के साथ अपने अंतःपुर में आमंत्रित करता हूँ। आप लोग मध्याह्न के पूर्व पधारें तो बड़ी कृपा हो।” मैंने हँसते हुए कहा और उसने हँसते हुए ही मेरा निमंत्रण स्वीकार किया।

कुंती बुआ मेरी माँ के साथ ही ठहरी थीं। उसी संध्या को मैंने उनसे मिलकर कहा, “कल पूर्वाह्न में मैं आपकी यहीं एक ऐसे व्यक्ति से भेंट कराऊँगा, जिसे देखकर आप परम प्रसन्न होंगी, साथ ही आश्चर्यचकित भी।” एक पहेली की तरह बात मैंने उछाल दी। वहाँ बैठे मेरे माता-पिता भी उस पहेली में उलझ गए। उन व्यक्तियों का अनुमान पांडवों में से किसीके संबंध में था। पर बुआ कहती थीं कि मेरे पुत्रों में से कोई भी यहाँ आ ही नहीं सकता; क्योंकि शर्त के अनुसार उन्हें वनवास करना है, नगरवास नहीं।

“हो सकता है, कन्हैया उनकी भेंट कराकर उन्हें वन में फिर भेज दे।” माँ हँसते हुए बोली, “क्योंकि इस छलिया का कोई ठिकाना नहीं। इसकी लीला मैं बचपन से देख रही हूँ।”

“ऐसी बात नहीं है।” मैंने हँसते हुए कहा, “न इसमें कोई लीला है और न छल—और जो बुआजी कह रही हैं, वह बात भी ठीक है।” इसी क्रम में मैंने उन्हें बताया—“नकुल जब काम्यक वन का निमंत्रण लेकर आया था तब भी नगर में नहीं आया था।”

“तब कौन है वह?” माँ बोली।

बुआजी भी सिर खुजलाते हुए अनुमान लगाती रहीं।

“यह मैं आप लोगों को क्यों बताऊँ? कम-से-कम एक दिन-रात आप डूबती-उतराती तो रहें।” मैं फिर रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

फिर मेरे सोच को अचानक एक झटका लगा। मैंने उन्हें सावधान किया—“यह घटना बड़ी गोपनीय और रहस्यमय है। आप लोग न तो किसीसे इसकी चर्चा कीजिएगा और न मेरी लीला देखने के लिए किसी और को बुलाइएगा; क्योंकि किसी और की उपस्थिति में वह व्यक्ति उपस्थित नहीं होगा।”

लोग और रहस्य में डूब गए।

वह स्थिति बड़ी विचित्र होती है जब अपने निकटतम व्यक्ति से भी कोई बात छिपानी पड़ती है। उस समय मुझे बड़ा अटपटा लगा, जब मैंने दारुक से कहा कि तुम मुझे रथ दे दो और आज विश्राम करो। वह मेरा मुँह देखता रह गया। यह तो वह समझ ही गया होगा कि कोई अत्यंत गोपनीय बात है, जो उससे छिपाई जा रही है।

वह चुपचाप रथ छोड़कर चला गया। मैं उसे लेकर सीधे पूर्व निश्चयानुसार सुरक्षाधिकारी के यहाँ पहुँचा और उसकी पत्नी के साथ करेणुमती को लेकर पिताजी के आवास पर गया। लगता है, द्वारपाल ने लोगों को पूर्व संकेत दे दिया था; क्योंकि अभी मेरा रथ राजपथ पर ही था कि भवन के वातायन में माँ के साथ बुआजी दिखाई पड़ीं।

मेरे रथ पर वे दो महिलाओं को देखकर परम चकित हुई होंगी; क्योंकि उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि मिलनेवाला पुरुष नहीं, महिला होगी। उनका अनुमान पांडवों के इर्द-गिर्द घूम-फिरकर असमर्थ हो चुका था।

जब मैं उनके निकट पहुँचा तब भी वे उन महिलाओं को देखकर विस्मय से भर गईं। दोनों ने सबका चरण छूकर अभिवादन किया।

सबसे पहले बुआजी की सेविका ने पहचाना—“अरे बहूजी, यहाँ कैसे?”

अब तो कुंती बुआ एकदम उससे लिपट गईं। दोनों की आँखों में गंगा-यमुना बहने लगीं। कितने वर्षों के बाद सास-बहू का मिलन हो रहा था। कितना सुख-दुःख उन आँसुओं में बह रहा था, सो कैसे बताऊँ!

बाद में जब यह मिलन प्रकृतिस्थ हुआ तब मैंने काम्यक वन में करेणुमती के मिलने से लेकर आज तक की सारी घटनाएँ सुनाई और अंत में यह भी बताया कि इसे मैंने यहाँ क्यों बुलाया है।

सबने मेरी बुद्धि की प्रशंसा की। बुआ बोलीं, “तुमने बहुत अच्छा किया, कन्हैया! अज्ञातवास के समय तो मेरे पुत्रों को स्वयं को छिपाना ही एक समस्या हो जाएगी; फिर इसे छिपाना तो असंभव होता।”

“क्या जीजी (द्रौपदी) के लिए यह समस्या नहीं होगी?” करेणुमती ने कई बार मुझसे पूछा हुआ प्रश्न पुनः दुहराया।

“होगी क्यों नहीं!” माँ बोली, “पर वह तुमसे बहुत होशियार है।”

बस इतना सुनना था कि उसका चेहरा एकदम लाल हो गया। उसे लगा कि उसकी बुद्धि को हीन बताकर उसका अपमान किया जा रहा है। वह भीतर-ही-भीतर कसमसाकर रह गई। बोलना चाहकर भी वह बोल न पाई।

उसकी शालीनता ने उसके मुख पर अपने अदृश्य हाथ धर दिए थे।

मैं उसकी मनःस्थिति समझ गया। काम्यक वन में भी जब उसने ऐसे प्रश्न किए थे तो मैं हँसकर उन्हें टाल गया था। इस समय भी मैंने उसके घाव पर लेप लगाने की चेष्टा की—“माँ, आपकी बात सही हो सकती है; पर करेणुमती का त्याग भी लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला से कम नहीं है। एक ओर इसका तेरह वर्ष तक पति से अलग रहने का संकल्प और दूसरी ओर द्रौपदी द्वारा अपने पतियों को एक दिन भी न छोड़ पाना, क्या दोनों में कोई अंतर नहीं है? क्या द्रौपदी से करेणुमती में पतिसेवा की भावना कम है? और रह गई होशियारी की बात, उसपर हमें इतना शीघ्र निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।”

लगभग सभी ने मेरी बात का समर्थन किया। मैंने देखा कि करेणुमती की आकृति का तनाव कुछ ढीला पड़ा। अब बुआजी ने बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा, “मैं जानना चाहती हूँ कि मेरी इस प्यारी बहू के अज्ञातवास के पीछे किसका हाथ है?”

“मेरा।” मैंने मुसकराते हुए स्वीकार किया—“इसमें ही मुझे पांडवों का हित दिखाई दिया।”

“तुम लोग तो व्यर्थ के विवाद में उलझ गए।” अब माँ ने हस्तक्षेप किया—“इतने दिन जब झेल लिया तो अब कितने दिन रह गए हैं उसे समाप्त होने में! तुम गर्गाचार्य से पूछने वाले थे न कि पांडवों का अज्ञातवास कब से आरंभ होगा?”

“मैंने पूछा भी था; पर उन्होंने एक नई शंका उत्पन्न कर दी।”

“क्या?”

“उन्होंने कहा कि ‘इसके लिए हमें यह जानना चाहिए कि पांडवों ने तिथि के आधार पर यात्रा आरंभ की थी या नक्षत्रों के आधार पर। यदि नक्षत्रों के आधार पर यात्रा आरंभ की होगी तो वनवास ठीक उसी नक्षत्र पर समाप्त होगा। यदि तिथि के अनुसार यात्रा आरंभ की गई होगी तो वनवास ठीक उसी तिथि को समाप्त होगा। और अज्ञातवास की गणना भी वनवास शुरू होने की तिथि अथवा नक्षत्र के आधार पर ही की जाएगी।’

“‘यह ज्योतिषीय समस्या है, इसका समाधान तो आप लोग ही कर सकते हैं।’ मैंने आचार्य से कहा।

“‘मैं तब तक कुछ नहीं कर सकता जब तक मुझे वस्तुस्थिति ज्ञात न हो।’

“मैं सोचने लगा। मेरा तो इस ओर ध्यान गया नहीं था और न यह मेरा विषय था। मैंने फिर पूछा, ‘तिथि और नक्षत्र से गणना करने पर सामान्यतः कितने दिनों का अंतर पड़ सकता है?’

“‘सामान्यतः तीन-चार दिनों का अंतर पड़ता है और कभी-कभी उससे अधिक भी हो जा सकता है।’

“‘तब तो यह प्रश्न झगड़े की जड़ बन सकता है।’

“‘यदि कोई बनाना चाहे तो अवश्य बन सकता है।’ गर्गाचार्य ने कहा, ‘पर जहाँ तक मैं सोचता हूँ, युधिष्ठिर जैसे सरल व्यक्ति का इस ओर ध्यान ही न गया होगा और न कभी उन्होंने इस संदर्भ में सोचा होगा।’

“मैं थोड़ा व्यग्र हुआ। सोचा, बात तो आचार्यजी ठीक कहते हैं। यदि किसीने दुर्योधन का ध्यान इस ओर दिलाया, तब तो वह समस्या खड़ी ही कर सकता है। फिर मेरा ध्यान महर्षि धौम्य की ओर गया। मैंने गर्गाचार्य से कहा, ‘यों युधिष्ठिर महाराज महर्षि धौम्य से निरंतर संपर्क बनाए रहते हैं।’

“‘तब तो तुम्हारे प्रश्न का सही उत्तर भी धौम्याचार्य ही दे सकते हैं।’ आचार्यजी का सीधा जवाब था।”

इन बातों से बुआजी भी कुछ चिंता में पड़ गई। किंतु शीघ्र ही उनकी मानसिकता गिरे हुए पहलवान की तरह तुरंत धूल झाड़कर खड़ी हो गई। वे बोलीं, “अब तो सब भगवान् भरोसे है। जैसी उसकी इच्छा होगी वैसा ही होगा।”

क्षण भर बाद उनकी चिंता करेणुमती पर केंद्रित हो गई—“चाहे चार दिन पहले हो या चार दिन बाद, अब वनवास की अवधि तो खत्म होगी ही। इस बीच मेरी बहू का पूरा ध्यान रखना।”

“यदि ध्यान न होता तो मैं इसे यहाँ क्यों लाता!” मैंने कहा, “अब मैं इसे यहाँ रखने की गोपनीय व्यवस्था के बारे में सोच रहा हूँ।”

“क्या तुम्हें मेरे यहाँ कोई कष्ट है?” उस सुरक्षाधिकारी की पत्नी ने करेणुमती से पूछा।

“बिल्कुल नहीं।” उसने सहर्ष स्वीकार किया।

“मैंने इनकी गोपनीयता की पूरी व्यवस्था कर ली है।” सुरक्षाधिकारी की पत्नी ने कहा, “पहले तो मैं इन्हें किसीसे बहुत मिलने-जुलने नहीं देती। अपने भवन के चाकरों से भी कह रहा है कि विदर्भ से आई मेरी यह रिश्ते की बहन है। कुछ अस्वस्थ है। चिकित्सकों ने इसे समुद्री जलवायु-सेवन की सलाह दी है। कुछ दिनों यहाँ रहकर लौट जाएगी।”

“तो क्या तुम भी विदर्भ की हो?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “विदर्भ से तो मेरा पुराना रिश्ता है (रुक्मिणी विदर्भ की ही थी)।”

मुसकराती हुई लज्जा की अरुणिमा उसके चेहरे पर बिखर गई।

मुझे बड़ा संतोष हुआ कि मेरी समस्या उन्हीं लोगों ने हल कर दी। करेणुमती को वहाँ कोई कष्ट भी न था। उसकी देखभाल राजरानी की तरह होती थी। दिन भर वह भवन में रहती थी। संध्या होने के बाद अँधेरे में उसे वायु-सेवन के बहाने सिंधुतट पर सैर कराई जाती थी। तब वह सुरक्षाधिकारी, उसकी पत्नी और कई सुरक्षाकर्मी उसके साथ होते थे। उसे कोई खतरा नहीं था; फिर भी उसे और सुरक्षाकर्मियों की आवश्यकता है, ऐसा मैं अनुभव करता था।

पर नियमत: और सुरक्षाकर्मी लगाए नहीं जा सकते थे। इसके लिए मामला गोपनीय विभाग को सौंपना पड़ता, जो मैं नहीं चाहता था। जितने मुँह बात फैलती उसके फूटने का उतना ही खतरा होता। इसके लिए मुझे एक उपाय सूझा। क्यों नहीं उसकी पदोन्नति कर अमात्य बना दिया जाए। तब उसे और सुरक्षाकर्मी यों ही मिल जाएँगे।

मैंने तुरंत महामात्य को बुलवाया और इस संदर्भ में उसकी सलाह चाही।

उसने सुनते ही पूछा, “इस पदोन्नति का कारण क्या बताया जाएगा?”

एक क्षण के लिए तो मैं चुप हो गया।

“अकारण पदोन्नति का अर्थ होगा, राजकीय सेवा से संबद्ध अन्य कर्मचारियों के प्रति अन्याय। इससे असंतोष बढ़ेगा और सत्ता के प्रति उनकी आस्था में कमी आएगी।”

मैंने पहली बार अनुभव किया कि सबसे ऊपर होने पर भी सिंहासन विधायी नियमों के ऊपर नहीं है। मैं कुछ क्षणों तक सोचता रहा। फिर कहा, “उसने ऐसा सुरक्षा कार्य किया है और उसकी पूर्णता की जिम्मेदारी भी ली है, जिसके संबंध में इस समय कुछ भी कहना राज्यहित में नहीं है।” मैंने इतना ही संकेत दिया महामात्य को। सारी घटना नहीं बताई।

उसने मौन हो समस्या के सभी पहलुओं पर विचार किया। फिर बोला, “एक समस्या और होगी। इस समय तो वह सुरक्षा अमात्य है ही। उसे हटाया कैसे जाएगा कि आप दूसरा सुरक्षा अमात्य बना देंगे?”

“मैं किसीको हटाने की बात कहाँ कर रहा हूँ!” मैंने कहा, “क्योंकि वर्तमान परिस्थितियाँ भीषण हैं। पूरा आर्यावर्त भीतर-ही-भीतर उबल रहा है। ज्वालामुखी फूट सकता है। पांडवों का वनवास भी पूरा होने वाला है। उनकी राजनीतिक स्थिति भी निर्णायक मोड़ पर है। किसी समय कुछ भी हो सकता है। ऐसे में यदि द्वारका में दो सुरक्षा

अमात्य हों तो किसीको क्या आपत्ति होगी?’’

“मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है और न किसीको होगी।” महामात्य ने कहा, “केवल विधि-विधान का ध्यान रखना पड़ेगा। अच्छा हो, इसकी घोषणा आप ही अपने श्रीमुख से करें।”

मैं समझ गया कि महामात्य दो सुरक्षा अमात्य निश्चित करने का जोखिम स्वयं उठाना नहीं चाहता। इस कार्य के औचित्य को भीतर-ही-भीतर उसका मन स्वीकार नहीं कर रहा था। मैंने भी उसपर अधिक दबाव नहीं दिया। मैंने सोचा कि दो-एक दिन में बुआजी चली ही जाएँगी। यों भी तीर्थाटन में किसी मित्र या रिश्तेदार के आवास पर अधिक विश्राम वर्जित है। तीर्थ में तो आप जितने दिन रह लें, संबंधी और हितैषियों के यहाँ का विश्राम मार्ग के विश्राम से अधिक नहीं होना चाहिए। बुआजी भी अपने चलने की इच्छा को कई बार दुहरा चुकी थीं।

अतएव हमने उनके लिए एक सीधी-सादी पारिवारिक बिदाई का आयोजन किया। उसी अवसर पर बुआ के साथ आए सैनिकों को हमारे सैनिकों ने भावभीनी बिदाई दी। उन्हें उपहारों से लाद दिया गया। बदले में उन्होंने दिल खोलकर हमें गुप्त और अगुप्त सूचनाएँ दीं।

इसी अवसर पर मैंने आर्यावर्त की वर्तमान राजनीति की विशद चर्चा की तथा बुआजी का समर्थन प्राप्त करते हुए एक और सुरक्षा अमात्य की नियुक्ति कर दी तथा स्पष्ट घोषणा की कि यह स्थायी नहीं वरन् अल्पकालिक एवं अस्थायी व्यवस्था है। किसीने कोई शंका तक नहीं की।

इसके दूसरे ही दिन मेरे निर्देश पर गुप्तचर विभाग की एक बैठक गुप्तचर अमात्य ने बुलाई। उसमें उसने मुझे भी सादर आमंत्रित किया। विषय था—‘हस्तिनापुर से आए सैनिकों द्वारा मिली सूचनाओं पर विचार’।

पहली बात तो उन्होंने वही बताई, जो हम लोगों को मालूम थी कि अज्ञातवास के बाद भी पांडवों को इंद्रप्रस्थ लौटाया नहीं जाएगा। उन लोगों से मिली सूचना के आधार पर यह बताया गया कि हस्तिनापुर के राजदरबार में यह प्रश्न किसीने उठाया था, तब शकुनि एकदम अट्टहास कर बैठा। दुर्योधन आदि भी मुसकराकर रह गए। शकुनि ने केवल इतना कहा कि यदि लौटाना होता तो बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास की तिकड़म भरी शर्त क्यों रखी जाती। पासों की लड़ाई में शर्त भी एक व्यूह-रचना ही है।

सैनिकों के कथनानुसार—पितामह इतना सुनकर चले गए थे।

“तुमने यह नहीं पूछा कि और लोगों की प्रतिक्रिया क्या थी?” मैंने गुप्तचर अमात्य से जानना चाहा।

“उन्होंने बताया था कि यों तो द्रोण और कृपाचार्य आदि भी प्रसन्न नहीं दिखे, पर सबसे तीखी प्रतिक्रिया महामात्य विदुर की थी। उन्होंने कहा, ‘यदि निर्वाह नहीं करना था तो शर्त लगाई क्यों गई? आप जानते हैं, इससे पूरे आर्यावर्त में हमारी प्रतिष्ठा पर क्या प्रभाव पड़ेगा?’

“उस सैनिक का कहना था कि इसपर महाराज धृतराष्ट्र ने कहा, ‘यह सबकुछ नहीं, शर्त का पूरा पालन किया जाएगा।’ पट्टमहिषी ने भी महाराज का समर्थन किया। तब दुर्योधन उठकर कुछ कहना चाहता था कि शकुनि ने उसका हाथ थामकर शांत करा दिया।”

मेरे मन में गर्गाचार्य का वचन एक बार फिर कौंध गया।

फिर मेरे गुप्तचर विभाग के अमात्य ने नितांत चौंका देनेवाली एक दूसरी सूचना दी—“एक दिन जब अपने आश्रम में द्रौपदी अकेली थी, पांडव वन में ब्राह्मणों के लिए भोजन एकत्र करने गए थे तो एक आधुनिक रावण ने द्रौपदी का हरण कर लिया था।”

“इस नीचता पर भी कौरव उतर आए!” मेरे मुख से सहज ही निकल गया।

“सैनिकों का तो कहना था कि इसके पीछे कौरवों का कोई हाथ नहीं था।”

“तब किस दुस्साहसी का यह कार्य था?”

“बुआजी के साथ आए सैनिकों से मालूम हुआ कि एक ऐसे व्यक्ति के हाथों यह कुकृत्य हुआ, जो पांडवों को जानता भी नहीं था।”

इसके बाद उसने पूरी कहानी सुनाई। उसने बताया—“सौवीर नरेश जयद्रथ अपने विवाह के लिए किसी सुंदरी की खोज में था।”

“अरे, सौवीर क्षेत्र तो यहाँ से निकट ही है। जो सिंधु के दक्षिणी भाग में पड़ता है, वही प्रदेश न?” मैंने बीच में ही टोका।

“हाँ, वही।” उसने स्वीकृति में सिर हिलाते हुए कहा।

“सुंदरियों की खोज में उसे सिंधु के उत्तर पंचनद प्रदेश में जाना चाहिए था, या कांधार अथवा कैकस की ओर बढ़ना चाहिए था। वह उत्तर न जाकर पूर्व की ओर क्यों मुड़ गया?”

“यही तो उसका दुर्भाग्य था।” अमात्य बोला, “उन सैनिकों ने बड़ा रस लेकर यह कथा सुनाई थी कि द्रौपदी उन्हें अप्रतिम सुंदरी लगी। कहते हैं, उस समय आकाश में बादल छाए थे। वायुमंडल में मस्ती भरी आर्द्रता थी और वह प्रकृतवसना अपने आश्रम के निकट कदंब की निचली डाल दोनों हाथों से पकड़े झूम रही थी। जयद्रथ और उसके साथियों के रथ दूर पथ से जा रहे थे। जयद्रथ की पहली ही दृष्टि जो उसपर पड़ी तो वह चिपकी रह गई। उसके साथियों में उसकी अंतरंगता सुरथ राजा के पुत्र कोटिकास्य से थी। उसने भी उधर देखा।”

अमात्य सुनाता रहा—“उसने कोटिकास्य से कहा, ‘अद्भुत है सुंदरी! लगता है, कोई वनकन्या होगी।’

“‘हाँ, लगती तो अद्भुत ही है।’ कोटिकास्य ने उसका समर्थन किया।

“‘तो क्या तुम इसे मेरे लिए तैयार कर सकते हो?’ जयद्रथ ने कहा, ‘तुम उसके पास जाओ और मेरे यश, वैभव तथा पराक्रम की प्रशंसा कर उसे मेरे लिए राजी करो।’”

अमात्य कहता गया—“पहले तो कोटिकास्य ने अपना परिचय दिया; फिर उसके सौंदर्य की बड़ी प्रशंसा की। बोला, ‘तुम वनकन्या हो अथवा कोई देवकन्या हो? हम लोग तुम्हारे सौंदर्य को देखकर चकित हैं।’ तब द्रौपदी ने पूछा, ‘इस एकांत वन में आप पहुँचे कैसे? आप कोई राक्षस तो नहीं, जो मायावी रूप में यहाँ उपस्थित हुए हैं? आखिर आपकी मंशा क्या है? क्योंकि किसी मनुष्य के लिए एकांत में पर स्त्री से मिलना वर्जित है और उसके सौंदर्य की प्रशंसा करना तो धर्म-विरुद्ध भी।’

“अब कोटिकास्य बड़े फेर में पड़ा। उसने अपने परिवार, अपने प्रदेश आदि का विस्तार से वर्णन किया और बताया—‘मैं राक्षस नहीं हूँ। अपने मित्र सौवीर नरेश जयद्रथ के साथ आया हूँ। वे अपने विवाह के लिए उपयुक्त कन्या की खोज में निकले हैं। वे पहली ही दृष्टि में आप पर मुग्ध हो गए हैं। यदि आप विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लें तो बड़ी कृपा हो।’

“अब द्रौपदी ने अपना परिचय दिया और कहा, ‘तुम पांडवों को तो जानते ही होगे। मैं उन्हींकी पत्नी हूँ। किसी विवाहित स्त्री से विवाह का प्रस्ताव करना भी शास्त्रवर्जित है।’

“सैनिकों के कथनानुसार कोटिकास्य का कोई प्रभाव द्रौपदी पर नहीं पड़ा वरन् वह उसका परिहास ही करती रही। विचित्र स्थिति थी। द्रौपदी ने बहुत देर तक कोटिकास्य को मूर्ख बनाते हुए उसे उलझाए रखा। उधर जयद्रथ समझता रहा कि पत्थर पिघलने की स्थिति में है। पर जब कोटिकास्य असफल लौटा तब उसे बड़ा आघात लगा। उसने झुँझलाते हुए कोटिकास्य से पूछा, ‘तुम इतनी देर तक वहाँ क्या करते रहे?’

“इसके बाद जयद्रथ स्वयं गया। उसने भी हर दृष्टि से द्रौपदी को मनाने की चेष्टा की; पर जब वह नहीं मानी और

जयद्रथ को लगा कि यह मेरे पौरुष, वैभव एवं सौंदर्य को अपने आगे कुछ नहीं समझती, तब उसके सिर पर रावण सवार हो गया तथा उसने द्रौपदी को बलात् खींचकर अपने रथ पर बैठा लिया और भाग चला। द्रौपदी चिल्लाती रही—‘तुम मेरे पतियों को नहीं जानते। वे बड़े शक्तिशाली हैं। वे तुम्हारे प्राण ले लेंगे। तुम अंत में पछताओगे, जयद्रथ!’ पर उसने एक नहीं सुनी।”

अब मेरे मुख से निकला—“मैंने पांडवों को इतना समझाया था कि द्रौपदी को कभी अकेले मत छोड़ना; पर उन्होंने यह भूल कर ही दी।”

“वस्तुतः उन्होंने अकेले कहाँ छोड़ा! उन दिनों धौम्य ऋषि भी उसी वन के दूसरे छोर पर डेरा डाले थे और द्रौपदी की सेविका ‘धात्रेयिका’ उसीके पास थी। उसने दौड़कर महर्षि को समाचार दिया। वे अपने आश्रम से दौड़े। जयद्रथ के रथ के पीछे कुछ दूर तक चिल्लाते रहे; पर ऐसा लगा कि जयद्रथ ने उन्हें देखा तक नहीं।”

“कैसे देखता! कामांध जो था।” मैंने कहा, “अंधे को कम-से-कम अंतर्दृष्टि तो होती है, कामांध की तो अंतर्दृष्टि भी अंधी हो जाती है। फिर क्या हुआ?”

“फिर होना क्या था!” अमात्य बोला, “मेरी सूचना के अनुसार तब तक पांडव आ गए। धात्रेयिका ने बिलखते हुए उन्हें सारा वृत्तांत सुनाया।

“‘वह पापी गया किधर?’ आगबबूला हो भीमसेन बोले।

“तब महर्षि ने अपने प्रयत्न की असमर्थता बताते हुए उस दिशा की ओर संकेत किया, जिधर उनके रथ गए थे। अब वे तुरंत उस ओर लपके और कुछ दूर पर ही उसे पा लिया। फिर तो भीषण युद्ध हुआ।”

“भीषण युद्ध हुआ!” मैं चकित था—“एक जयद्रथ इतना लड़ा?”

“वह एक कहाँ था!” अमात्य बोला, “इक्ष्वाकु और शिविवंश के बारह-तेरह राजा उसके साथ थे और उनमें सबसे अधिक सक्रिय कोटिकास्य था। सबको पांडवों ने मार डाला। किसीको भागने तक नहीं दिया। पर किसी तरह जयद्रथ भाग निकला।”

“साथी मारे गए और वह भागने लगा! बड़ा नीच है जयद्रथ! सिंधुराज और ऐसा हो! उसे तो चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए।”

“वह मरने को तैयार हो तब न!” अमात्य ने बताया—“उसे भागते देखकर युधिष्ठिर तो उसे जाने देने के पक्ष में थे, अन्य भाई रुके भी; पर भीम कब मानने वाले थे। उन्होंने दौड़कर पकड़ा और एक मुष्टि के प्रहार में उसे धरती सुँघा दी। उसकी नासिका और मुख से रक्त बहने लगा। अब वह गिड़गिड़ाते हुए प्राणों की भीख माँगने लगा। तब भीम ने चंद्रहास से उसके सिर के बाल छील दिए।

“अब जयद्रथ का विचित्र बानक बना। उसके सिर में पाँच जगह बाल रह गए थे, बाकी सिर सफाचट। उसे भीम धक्का देते हुए ले आए। जो भी उसके पाँच चोटियोंवाले सिर को देखता, वही हँस पड़ता। अब भी वह प्राणों की भीख माँग रहा था।

“‘प्राणदान मैं तुम्हें दे नहीं सकता।’ भीम बोला, ‘यदि देना होगा तो बड़े भैया देंगे या द्रौपदी देगी।’”

अमात्य का कहना था—“सैनिक बता रहे थे कि इसके बाद भीम उसे युधिष्ठिर के पास ले गए। वह उसे देखकर ही हँसने लगे। फिर अपने स्वभाव के अनुसार शीघ्र ही द्रवित हो गए और बोले, ‘इससे तो अच्छा था कि तुम इसके प्राण ले लेते। यह बेचारा यह रूप लेकर कहाँ जाएगा? अपनी आकृति किसे दिखाएगा? मेरी मानो तो अब इसे छोड़ दो।’

“‘हम लोग इसे छोड़नेवाले कौन होते हैं?’ भीम ने अपने बड़े भाई को ही टोका—‘इसे तो वही छोड़ सकती है,

जिसके साथ इसने अपराध किया है।’

“‘तब इसे द्रौपदी के पास ले जाओ।’ युधिष्ठिर ने कहा।

“अब वह द्रौपदी के पास ले जाया गया। द्रौपदी तो उसे देखते ही ताली पीटकर हँस पड़ी। उसने हँसते हुए ही अपनी प्रकृति के अनुसार पूछा, ‘अब तुम मुझसे विवाह नहीं करोगे?’

“उसने दृष्टि नीची कर सिर हिलाया और धीरे से कहा, ‘नहीं।’

“तब द्रौपदी ने उसे प्राणदान देते हुए कहा, ‘तुम्हें छोड़ तो दिया जाता है; पर ऐसे ही कान पकड़े हुए तुम्हें अपने सैनिकों के बीच जाना पड़ेगा।’

“सुना है, वह बेचारा वैसे ही गया।”

अमात्य से सारी कथा सुन लेने के बाद मैं वस्तुतः चिंतित हो गया। मेरी मुद्रा से मेरी मनःस्थिति का अनुमान अमात्य को लग गया। वह सोचने लगा कि इस घटना से तो महाराज को प्रसन्न होना चाहिए था। इसमें दुःखी होने की कोई बात नहीं। जब मैं बहुत देर तक सोचता रहा तब मुझसे अमात्य ने पूछा, “आपका स्वास्थ्य तो ठीक है?”

“स्वास्थ्य तो ठीक ही है, पर मेरा मन बड़ा दुःखी है।” मैंने कहा, “यह द्रौपदी आर्यावर्त में आग लगाकर ही रहेगी। क्या करे, वह भी अपने स्वभाव से विवश है। इंद्रप्रस्थ के राजभवन में उसने दुर्योधन का मजाक उड़ाया, जिसका परिणाम वे भोग ही रहे हैं। और अब जयद्रथ के मामले में तो हद ही कर दी।”

अमात्य मेरा मुँह देखता रह गया। फिर बोला, “ऐसा करके पांडवों ने क्या अनुचित किया?”

“मेरे विचार से तो बिल्कुल उचित नहीं किया।” मैंने कहा, “मैंने तो उन्हें वनवास की स्थिति में किसी पशु-पक्षी तक की हत्या करने से मना किया था। उन्होंने इतने राजाओं को मार डाला और जयद्रथ का ऐसा अपमान किया।”

“फिर वे ऐसी स्थिति में क्या करते?”

“पहले तो ऐसी स्थिति आने देनी नहीं चाहिए थी। द्रौपदी को अकेले छोड़ने की क्या आवश्यकता थी? अरे भाई, उसकी सुरक्षा में एक व्यक्ति रह जाता और लोगों को जहाँ जाना था, जाते।” मैंने उसे समझाया—“पहली बात तो यह है कि यदि द्रौपदी अकेली न होती तो वह जयद्रथ का ऐसा परिहास न करती। मैं उसकी प्रकृति जानता हूँ। एकाकीपन में उसका अहं आकाश में उड़ता है। वह पता नहीं अपने को क्या समझती है! दूसरे, यदि पांडवों में से कोई उसके साथ होता तो जयद्रथ वहाँ आने का साहस नहीं करता। वह तो उसके एकाकीपन का लाभ उठाने आया था।”

“यह तो उसकी भूल थी।” अमात्य बोला, “फिर तो जो हुआ, वही होना था।”

“उसे भी नहीं होना चाहिए। वह भी टाला जा सकता था।” मैंने कहा, “जयद्रथ को पकड़ा। उसे बाँधकर ले आए। इतना काफी था। उसे द्रौपदी से क्षमा करा देते। जो इक्ष्वाकु और शिविवंश के राजा भाग रहे थे, उन्हें भाग जाने देते। उनका पीछा कर उन्हें मार डालने की क्या आवश्यकता थी? अब जानते हो, इसका क्या परिणाम होगा? अब जयद्रथ के साथ ही पूरा इक्ष्वाकु और शिविवंश पांडवों का स्थायी शत्रु हो जाएगा। पांडव जानते हैं इस तथ्य को। लोगों ने उन्हें संकेत भी किया है—और मैंने कई बार कहा है कि हो सकता है, आप लोगों को एक महायुद्ध लड़ना पड़े। फिर भी भविष्य का उन्हें ध्यान नहीं है। वे शत्रु पर शत्रु बनाते जा रहे हैं।”

मैं थोड़ा आवेश में था। बोलता गया—“सिंधुराज ने ऐसी भूल की थी, जिस भूल को भुलाया जा सकता है—उसे छोड़कर, उसपर अहसान जताकर। इसके बाद उससे वचन ले लिया जाता कि इसका प्रत्युपकार तुम्हें कभी करना पड़ेगा। हो सकता है, संभावित युद्ध में वह पांडवों का साथ न देता; पर उनके विरोध में भी कभी खड़ा न होता।”

इसी संदर्भ में मैंने बताया—“हमने कई बार जरासंध को बंदी बनाया था; पर हर बार मैंने उसे छोड़ा। भैया की इच्छा के विरुद्ध मैं ऐसा करता रहा। वे बार-बार नाराज होते रहे; फिर भी मैंने उसे मारने का मन तब तक नहीं बनाया जब तक उसके राज्य की जनता उसके विरुद्ध न हो गई और जब तक उसके पुत्र सहदेव के मन में यह बात न आई कि अब मेरे पिताजी न रहते तो अच्छा होता। वह भी उसे स्वयं नहीं मारा, भीम से मरवाया; जिससे उसके बंदी सभी राजा पांडवों की कृतज्ञता स्वीकार करें। तुम जानते नहीं, अमात्य, कूटनीति न तो धर्मनीति है और न राजनीति का अचार या मुरब्बा; वरन् वह काग का वह अंडा है, जिसे कोकिल सेती है और काम आता है काग के।

“अब क्या समझते हो!” मैं कहता ही गया—“अब देखना, जहाँ कौरवों को इस घटना का पता चलेगा, सीधे उनका दल-का-दल सौवीर पहुँचेगा। सबसे खतरनाक तो वह मामा है। वह तुरंत राय देगा कि सिंधुराज से मिलने दुर्योधन स्वयं अपने भाइयों के साथ जाए और जिन राजाओं की हत्या पांडवों ने की है, वहाँ संवेदना व्यक्त करने के लिए हस्तिनापुर के राजप्रतिनिधि भेजे जाएँ।”

“यह तो होगा ही।” अमात्य बोला, “यह तो राजनीति का सामान्य नियम है।”

“पर जब हमारा स्वार्थ सामान्य नियमों का पालन विशेष ढंग से करता है तब उसका विशेष परिणाम होता है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “दुर्योधन ऐसे थोड़े ही चला जाएगा। प्यासे के पास कुएँ की तरह जाएगा। वह सिंधुराज के समक्ष सीधा प्रस्ताव रखेगा कि मैं अपनी बहन का विवाह आपसे करना चाहता हूँ। फिर उसके पराक्रम, शौर्य और वैभव का सेतु बाँध देगा।”

अमात्य मेरी चिंता समझ रहा था। फिर भी उसने मुझे हलका करना चाहा—“मैं यह नहीं कहता कि आपकी चिंता निराधार है; पर झूठी प्रशंसा हवा में खड़ा किया गया महल है। वह कब तक खड़ा रहेगा? फिर ‘शत्रु का शत्रु मित्र’ के आधार पर मित्रता बहुत दिनों तक नहीं टिकती।”

मुझे हँसी आ गई—अमात्य की बुद्धि पर या मुझे समझाने के उसके प्रयत्न पर, कुछ कह नहीं सकता। मैंने उसे बताया—“तुम कैसे कह सकते हो कि दुर्योधन द्वारा की गई सौवीर के वैभव की कथा हवाई होगी। वह आर्यावर्त का बड़ा संपन्न राज्य है। सौवीर का वैभव हस्तिनापुर से कम नहीं है। फिर मामला केवल ‘शत्रु का शत्रु मित्र’ तक ही सीमित नहीं रहेगा। तुम देखना, दुर्योधन निश्चित रूप से अपनी बहन का विवाह उससे कर देगा।”

“जयद्रथ स्वीकार करेगा तब न!” अमात्य बोला, “उसे तो जगत् सुंदरी चाहिए।”

“दुःशला भी असुंदर नहीं है वरन् अपने भाइयों और जयद्रथ से तो सुंदर ही है। अरे, वह गांधारी की बेटी है और गांधारी पर गई भी है।”

अब अमात्य चुप हो मुझे देखता रह गया।

फिर काफी देर तक हम अपने में खोए रहे। अचानक मेरे मुख से निकला—“राजनीतिक महत्वाकांक्षा व्यक्ति को किस सीमा तक गिरने के लिए विवश करती है, इसका अनुमान करना आसान नहीं।”



छह

काल के रथ का पहिया चलता गया, पर मैं स्थिर रहा—द्वारका में ही; कुछ समय के लिए—तन और मन दोनों से।

मेरा निरंतर द्वारका से बाहर रहना मेरे परिवारवालों को पसंद नहीं था। सबसे अधिक नाराज थीं तो मेरी पत्नियाँ। बेचारी कुछ बोल भी नहीं पाती थीं। पर सबसे अधिक विद्रोह किया रुक्मिणी, जांबवती और सत्यभामा ने। उन लोगों ने लगातार तीन दिनों तक मेरा बहिष्कार किया। न कभी मेरे साथ भोजन किया और न कभी जलपान। कभी मेरे कक्ष में झाँकीं तक नहीं। मुझे आता देखकर वे दूर से ही हट जाया करती थीं। उनकी रुष्टता का मैं कारण भी समझता था और उसके निवारण का उपाय भी मैं जानता था; पर कुछ संकोच तथा कुछ पति होने का मेरा अहं आड़े आ रहा था।

एक रात मैं काफी विचलित हो उठा। बड़ी मादक संध्या के बाद वह रात आई थी। सिंधु के शीतल मंद समीरण पर तिरती लहरों की थपथपाहट जैसे रोमांचित कर उठी। मेरे पति होने के अहं का आवरण वह सागर समीरण अचानक उड़ा ले गया। अब मैं केवल पति था—एक संकोचविहीन केवल पति, और उससे भी अधिक वासना-विचलित मन से पराजित एक सहज मानव।

मैं चुपचाप अपने कक्ष से निकलकर रुक्मिणी के कक्ष की ओर बढ़ा। अचानक मुझे अपना बचपन याद आया, जब मैं ऐसे ही चुपके से दबे पाँव राधा के घर जाया करता था और उसे वंशी बजाकर बुलाया करता था। और तब हम चुपचाप चाँदनी रात में यमुना किनारे निकल जाया करते थे। आज न बचपन है, न वह यमुना का किनारा, न चाँदनी रात और न इस समय वंशी बजाने का अवसर।

मैं रुक्मिणी के कक्ष की ओर बढ़ा चला जा रहा था। अंतःपुर के इस आंतरिक कक्ष में भी महिला सैनिकों का पहरा था। पहले तो ऐसा कभी नहीं होता था, इधर ऐसा परिवर्तन क्यों? पर मेरा मन इस नूतन समस्या पर अधिक ठहर नहीं सका। वह फिसला चला जा रहा था रुक्मिणी के कक्ष की ओर।

उसके कक्ष के द्वार पर ही दो महिला प्रहरी थीं। मुझे देखते ही दोनों हट गईं। भीतर प्रवेश करते ही मैंने देखा, सामने पर्यंक पर रुक्मिणी हाथ-पैर फैलाए बेसुध पड़ी है। घने बाल चंद्रमुख पर बादलों की तरह छाए हैं। वक्ष से आँचल हट गया है। जब वह नींद में गहरी साँस लेती तो कंचुकी फाड़कर बाहर निकल आने के लिए आतुर लगते उसके उन्नत उरोज खुला आमंत्रण देते जान पड़े।

अब मैं अपने को रोक नहीं पाया। वासना के झोंके से टूटकर कदली स्तंभ की तरह उसपर निढाल हो गया। वह एकदम चौंककर हड़बड़ा उठी। पर अब वह मेरे आलिंगनपाश में थी।

चेतना लौटते ही वह बोल पड़ी—“अरे आप!...तो इतने चुप-चुप आने की क्या आवश्यकता पड़ी?”

“क्योंकि चारों ओर पहरा पड़ रहा है।” मैंने धीरे से कहा, “अंतःपुर के इस आंतरिक कक्ष में भी पहरा! अब मुझसे भी तुम लोगों को भय लगने लगा!”

“आप कहाँ आते हैं कि आपसे भय लगे!”

“तब किससे भय है?”

वह चुप रह गई। फिर मौन का इतना गहरा आस्तरण पड़ गया कि कोई कुछ बोल नहीं पाया। एकदम शांति; पर प्रकृति में ऐसी शून्यता नहीं थी। सिंधु समीरण से अश्वत्थ वृक्ष की खड़खड़ाहट और वातायन के कपाटों की पंख

कटे कपोतों जैसी फड़फड़ाहट प्रकृति की इस निस्तब्धता को झकझोर रही थी।

रात कैसे बीत गई, पता नहीं। जब अश्वत्थ के प्रकोष्ठ से झाँकते कोकिल ने उषा की अगवानी में तराना छोड़ा तब मेरी नींद खुली। फिर भी मैं अलसाया वैसे ही पड़ा रहा। मुझपर ढुलकी रुक्मिणी का बायाँ हाथ मेरे वक्ष में होता हुआ मुझे बाँधे रहा। वह बंधन बड़ा मोहक था। इसीसे मैं उसे तोड़ नहीं पाया।

जब उसके हाथ कुछ ढीले पड़े और वह जागने को हुई, तब मैंने उसे छोड़ा—“ऐसा बाँध रखा है जैसे मैं भागनेवाला ही होऊँ!”

“आपके जैसे भ्रमों का विश्वास क्या!” उसने हँसते हुए कहा और उठकर अपने वस्त्र ठीक करने लगी।

अब मैं उठकर चलने को हुआ; पर उसने कक्ष से निकलने नहीं दिया। बोली, “आप ऐसे नहीं जा सकते। पहले मैं आपको उनके पास ले चलूँगी, जिन्होंने मेरे साथ ही आपका भी बहिष्कार करने का संकल्प किया है। वास्तव में मैंने धोखा दिया है; क्योंकि आपने चुपचाप दबे पाँव आकर मेरा व्रत भंग किया।”

“मैं कुछ समझ नहीं पाया।” मैंने कहा। यद्यपि मैं सब समझ रहा था।

“अभी समझ में आ जाएगा।” उसने कहा और मुझे लेकर सत्यभामा तथा जांबवती के यहाँ ले जाने के लिए अपने कक्ष से निकली।

पर यह क्या, वे दोनों तो कपाटों की ओट में ही खड़ी थीं। इस स्थिति में मुझे देखकर न हँसीं, न मुसकराईं वरन् गंभीर बनी रहीं।

मुझे ही मुसकराते हुए पूछना पड़ा—“तुम दोनों यहाँ क्या कर रही हो?”

“हम आपसे नहीं बोलते। यदि यही प्रश्न रुक्मिणी करेगी तो हम उसका उत्तर देंगे।” जांबवती तो चुप थी। सत्यभामा ही बोली।

रुक्मिणी बड़े संकोच में पड़ी। वह कुछ बोल नहीं पाई। लगा, मुझसे मिलकर उसने कोई अपराध किया हो।

मैंने सत्यभामा से कहा, “अच्छा, यही समझो कि यह प्रश्न रुक्मिणी ही कर रही है।”

अब उसने कहा, “हम यहाँ यह देखने आए थे कि हमारी बड़ी बहन ने हमारे साथ कैसा धोखा किया है!”

“धोखा तुम्हारी बड़ी बहन ने नहीं किया, धोखा तो मैंने किया है।” मैंने हँसते हुए कहा, “क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि मैं लड़कपन से ही धोखेबाज और छलिया हूँ?”

जैसे रोका हुआ झरना फूट पड़े वैसे ही उनकी रोकी हुई हँसी एकदम फूट पड़ी; लेकिन जांबवती ने मानो अपनी हँसी का गला दबा दिया। वह पहले के जैसी गंभीर हो गई। दृष्टि नीची और ऐसी उदास जैसे किसी दुःख का पहाड़ उसके सिर पर हो।

मैंने पूछा भी—“क्या बात है, जांबवती?”

वह कुछ बोल नहीं पाई। मैंने अपनी अन्य पत्नियों के सामने भी संकेत से इसी प्रश्न को दुहराया; पर वे भी वैसी ही उदास जांबवती को देखती रहीं। मुझे स्पष्ट लगा कि सबकुछ जानती हुई भी ये बोल नहीं पा रही हैं।

मुझे चलना था नित्यकर्म के लिए। विलंब हो रहा था। मैंने इस उदासी का लाभ उठाया और फिर मिलने का आश्वासन देकर चला आया।

दोपहर के भोजन के बाद विश्राम करके जब मैं अपने कार्यालय पहुँचा तब मुझे सूचना मिली कि नरकासुर के वध के बाद प्रमोद वन के आसपास बसाई गई मेरी भाव पत्नियों ने आज की संध्या अपने यहाँ बिताने का करबद्ध निवेदन भेजा है। मैंने कोई जिज्ञासा नहीं की। समझ गया कि यह संध्या भी उलाहना भरी होगी। पर उनके उलाहने भी बड़े मादक होंगे—और इस समय तो और भी आनंदकर। यही सोच-सोचकर पुलकित होते हुए मैं दिन ढलने

की प्रतीक्षा करता रहा।

कुछ समय बाद मुझे दूसरी सूचना मिली—‘यदि आप एकाकी पथरों तो बड़ी कृपा होगी।’ उनका स्पष्ट संकेत छंदक की ओर था। तुरंत मेरा माथा ठनका। कुछ-न-कुछ विशेष बात अवश्य है।

मैंने उनका आग्रह तो स्वीकार कर लिया, पर छंदक को बुलाकर उसे सारी बातें बताई और एकाकी बुलाने का कारण जानना चाहा।

“जब आप जा ही रहे हैं तब सारी बातें वहीं मालूम हो जाएंगी। मैं क्या बताऊँ!”

“इसका तात्पर्य है कि तुम जानते हो।”

“थोड़ा-बहुत तो जानता ही हूँ।” छंदक ने इस गोपनीयता में थोड़ी गंभीरता और मिलाई—“यदि संभव हो तो सारथि को भी न ले जाएँ।”

“तो एकदम अकेला जाऊँ!” मैं मुसकराते हुए बोला, “ऐसा कौन सा रहस्य है?”

“कुठौं का घाव दिखाने के लिए नितांत अकेलेपन की ही आवश्यकता होती है।” इतना कहकर वह वहाँ से चला गया, जिससे मैं कुछ और न पूछ सकूँ।

संध्या होते ही मैं रथ लेकर एकाकी प्रमोद वन पहुँचा। जहाँ से उनका आवास शुरू होता था, उसके पहले ही मैंने रथ छोड़ दिया। एक घुटन भरे सन्नाटे ने मेरा स्वागत किया और अगवानी की वहाँ पर नियुक्त दो-चार महिला प्रहरियों ने। उनमें से एक ने शायद बढ़कर मेरे आने की सूचना दी।

थोड़ी देर बाद मेरी उन भाव पत्नियों में से दो-चार मेरे पास आईं। आज वे मेरी कल्पना के बिल्कुल विपरीत थीं। बाल खुले हुए। वस्त्र भी सामान्य-से और आकृति एकदम उदास। मुझे उसी लता प्रकोष्ठ में ले जाया गया, जहाँ मैं हमेशा बैठता था। सामने वही पुष्करिणी, वही किल्लोल करते हुए हंस के जोड़े और वैसे ही मुँदते हुए कमल की पाँत—सबकुछ था; पर उनमें ऐसा रस नहीं दिखा।

थोड़ी देर बाद ही मेरी भाव पत्नियों की संख्या बढ़ती गई और देखते-ही-देखते लगभग सभी वहाँ आ गईं। वे मुझे घेरकर धरती पर बैठ गईं। सभी उदास और चुप।

पर मेरी जिज्ञासा चुप न रह सकी—“आज तुम लोग इतनी उदास और खिन्न क्यों हो? मुझे बुलाकर भी तुम लोगों ने न तो शृंगार किया और न राग-रंग की कोई व्यवस्था है?”

“आप तो द्वारका में रहते नहीं, तो किसके लिए हम बनाव और शृंगार करें, उस राक्षस के लिए?”

‘मैं द्वारका में रहता नहीं’—निश्चित रूप से यह मुझपर व्यंग्य था। यदि रहता होता तो वह भी बात न जानता, जिसकी जानकारी छंदक को है।

मैं चुपचाप इस व्यंग्य को पी गया और पूछा, “कौन है वह राक्षस?”

उनमें से कोई नहीं बोला।

अब मेरा तापमान और बढ़ा—“तुम लोग चुप क्यों हो?”

“हम लोग चुप इसलिए हैं कि शायद आप उसे सुन न सकेंगे; क्योंकि वह राक्षस आपका ही पाप है।”

निश्चित ही इतना कहने में उन्होंने अपना सारा साहस बटोरा होगा; क्योंकि आज तक मैंने अपने लिए ऐसी शिकायत कभी नहीं सुनी थी।

अब मैं अपना नियंत्रण खोते हुए काफी तेज आवाज में बोला, “स्पष्ट कहो न, क्या बात है? कौन है वह राक्षस?”

“आपका पुत्र सांब।” उन्हींके बीच से एक आवाज आई।

फिर वह कहानी संक्षेप में सुनाई गई, जो न कहने योग्य है और न लिखने योग्य। एक रात मैरेय के नशे में धुत होकर सांब ने इन नाचती-गाती आनंदविभोर महिलाओं के साथ जो कुकृत्य किए कि मत पूछिए।

अब मुझे काटो तो खून नहीं। अपार कष्ट हुआ। पर मुझे आश्चर्य नहीं था; क्योंकि मैं सांब की प्रकृति जानता था। वह प्रद्युम्न-सा ही सुंदर, आकर्षक तथा पराक्रमी था। उसने अनेक युद्धों में विजय पाई थी; पर वह स्वैराचारी था। मैरेय पीने के बाद उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती थी। फिर वह अधिकतर द्वारका से बाहर ही रहता था। इससे उसके दुर्गुणों में बढ़ोतरी होती गई और वे इस सीमा पर आ गए। मैं भीतर-ही-भीतर खौलता और सोचता रहा।

अब मुझे लज्जा से गड़ी जा रही दृष्टियों की भाषा समझ में आई। अब मैं समझ पाया कि अंतःपुर के आंतरिक कक्ष में भी पहरे का रहस्य क्या है। ज्यों-ज्यों सोचता गया, मेरा क्रोध बढ़ता गया। मेरा 'मैं' स्वयं मुझे धिक्कारने लगा कि पूरे मानव समाज में धर्म की स्थापना का संकल्प लेनेवाले का पुत्र ऐसा स्वैराचारी हो! दीपक तले ही अँधेरा। धिक्कार है तुम्हें!

मैं एकदम विचलित हो उठा। आक्रोश में काँपने लगा। मेरी यह स्थिति देखकर उन महिलाओं ने समझा कि उनसे कोई भूल हो गई।

“आप क्षमा करें, यदि हमसे कोई भूल हो गई हो!” उन्होंने कहा और अपने कहे पर पश्चात्ताप करने लगीं।

“पश्चात्ताप तो मुझे करना चाहिए।” मैं उसी आक्रोश में बोला, “सचमुच सांब मेरे ही पापों का फल है। शास्त्र कहते हैं कि पुत्र पिता की आत्मा होता है। मेरे भीतर का सारा कलुष उसमें ही एकत्रित हो गया है। तुम विश्वास करो, उसके इस अपराध का उसे दैवी दंड दिया जाएगा।”

इसके बाद मैं कुछ बोल नहीं पाया। जहाँ बैठा था वहीं ढुलक गया।

सबकी सब घबराकर दौड़ीं। सुगंधित जल मँगवाया गया। मेरी सेवा-शुश्रूषा आरंभ हुई; पर मैं अचेत नहीं था। मैं एकदम श्लथ हो गया था। मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे अपने परिवार के संबंध में कभी ऐसा भी सुनना पड़ेगा। भैया के संबंध में सुनता था; पर कभी वे मर्यादाविहीन नहीं हुए। एक बार यमुना के समक्ष ऐसी स्थिति आई थी। इसके बाद उन्होंने स्वयं ही अपने को सँभाला।

मुझे लगा कि इन महिलाओं को यह अनुभव हो रहा है कि इन्होंने सांब की शिकायत करके अच्छा नहीं किया। मैंने उनके इस अपराधबोध पर लेप लगाना आरंभ किया और कहा, “आप लोगों ने यह सूचना देकर बड़ा अच्छा किया। आप उन पतंगों की तरह नहीं रहीं, जो जलता तो जाता है, फिर भी नहीं बताता कि दीपक, तुम्हारे नीचे ही अँधेरा है। इससे उनके त्याग का तो पता चलता है, पर अपने प्रिय के प्रति उनके कर्तव्यबोध का पता नहीं चलता।”

इसी संदर्भ में मैंने अंतःपुर की सजगता के बारे में उन्हें बताया और कहा, “आज दिन भर उसीके संबंध में सोचता रहा। बहुतों से पूछा; पर किसीने कुछ नहीं बताया। यदि तुम लोग भी न बतातीं, तब तो यह रहस्य बना ही रह जाता। मेरे अंग का यह व्रण भीतर-ही-भीतर सड़ता जाता और मुझे पता तब चलता जब दुर्गंध ऊपर आती।”

इसके बाद मैं वहाँ से उठा और सीधे प्रमोद वन से बाहर आया। द्वार पर दारुक से छंदक कुछ बातें कर रहा था। मैंने उसे भी रथ पर बैठा लिया। किसीसे कुछ नहीं बोला। मेरा मस्तिष्क उस चक्र की तरह घूम रहा था, जो गति की चरम सीमा पर स्थिर दिखाई देता है।

मैं प्रासाद पहुँचकर सीधे अपने कक्ष में आया और बिना वस्त्र बदले शय्या पर ढुलक गया। प्रहरियों ने दौड़कर वातायनों के कपाट खोले।

एक दीप तो पहले से ही जल रहा था, उन्होंने और दीपदानों को जलाने की चेष्टा आरंभ की। मैंने मना करते हुए

कहा, “आज मुझे अधिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। मुझे अँधेरे में ही रहने दो और तुम लोग भी द्वार का पट गिराकर चले जाओ।”

वे भी समझ गए कि मेरी मनःस्थिति ठीक नहीं है। शीतल जल का स्वर्ण कलश और चषक मेरे पलंग के निकट एक मंचक पर रखकर वे चले गए।

मैं घुटन भरे उस अंधकार में घुटता रहा। केवल एक दीप की सिसकती लौ मेरे छटपटाते मन का साथ देती रही। मैं सोच में डूबता गया। फिर एक स्थिति ऐसी भी आई जब मैं बड़बड़ाने लगा—‘व्यक्ति किसी और से नहीं, अपने से ही हारता है। लोग मुझे देखकर क्या सोचेंगे? मैं अमात्यों से क्या कहूँगा? प्रजा भी यदि ऐसी स्वैरचारिणी हो गई तो क्या होगा? उसे कैसे दंड दूँगा? जब सिंहासन ही भ्रष्ट है तब प्रजा के भ्रष्ट होते कितनी देर लगेंगी? फिर आज जब यह स्थिति है तो जब मैं नहीं रहूँगा तब द्वारका की क्या स्थिति होगी?’

अचानक मुझे एक हँसी सुनाई पड़ी—अट्टहास की ओर बढ़ती हुई एक हँसी; एकदम अपने जैसी हँसी जैसे शून्यता ही हँस रही हो—‘जब तुम नहीं रहोगे तो क्या होगा? तुम भी भविष्य की चिंता करने लगे? जगत् को भविष्य की चिंता न करने का उपदेश देनेवाले, आज तुम भी उस चिंता से व्यग्र हो गए! क्या भविष्य तुम्हारे हाथ में है? तुम्हारे हाथ में तो केवल वर्तमान है। तुम उसीके भोक्ता हो। भविष्य पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। उसे नियति के हाथों में सौंपो। इस मूढ़ता को त्यागो कि जब मैं नहीं रहूँगा तो द्वारका का क्या होगा?’

वह हँसी और वह आवाज क्रमशः बढ़ती गई और अंत में उसने साधिकार कहा, ‘यह तुम कैसे सोचते हो कि तुम्हारे न रहने पर द्वारका रह जाएगी? मैं कहता हूँ कि जब तुम नहीं रहोगे तब द्वारका भी नहीं रहेगी।’

‘यह क्या कह रहे हो? कौन हो तुम यह कहनेवाले कि मेरे न रहने पर द्वारका भी न रहेगी? इतने प्रेम से मैंने इसका निर्माण किया है और इसे बसाया है और यही नहीं रहेगी तो कौन रहेगा?’

‘केवल ‘मैं’ रहूँगा।’ उसका अट्टहास और सघन हो गया। उसने व्यंग्य के स्वर में पूछा, ‘तुमने इसका निर्माण किया है! यह क्या कह रहे हो? और, तुम कह रहे हो!’ अब उसका हास अत्यधिक गंभीर था—‘यह मिथ्याभास तुम्हें कैसे हो गया कि तुम स्वयं को कर्ता समझने लगे? तुम कर्ता नहीं हो और न तुम कुछ करने की क्षमता रखते हो। कर्ता तो मैं हूँ। तुम तो मेरे ‘करण’ मात्र हो।’

‘मैं केवल ‘करण’ हूँ! मैं केवल ‘करण’ हूँ!’ मैं पागलों-सा चिल्लाया।

‘हाँ, तुम केवल ‘करण’ हो!’ वह अट्टहास और गहराया—‘कर्ता तो तुम तब होगे जब मैं तुममें समा जाऊँगा।’

इसके बाद अट्टहास मेरी ओर बढ़ता जान पड़ा। ज्यों-ज्यों वह मेरे पास आता गया त्यों-त्यों वह मंद पड़ता गया और अंत में एकदम लुप्त हो गया।

फिर कहीं कुछ नहीं। एक जलता दीप था, जिसे हवा के झोंके ने पता नहीं कब का बुझा दिया था। अब केवल अँधेरा—नितांत अंधकार। लगा जैसे इसके पूर्व के अँधेरे में बिखरे जो ज्योति कण थे, वे ही समवेत होकर मुझमें समा गए।

अब मेरी अशांति एक जिज्ञासा में उभरी। मैं सोचने लगा कि यह किसकी आवाज थी, जो मुझपर छाई रही, फिर मुझमें ही समा गई? कहीं यह मेरा ही ‘प्रत्यय’ तो नहीं, जो मुझे यथार्थबोध कराने आया हो? क्योंकि जो बातें उसने कही थीं, वे ही बातें मैंने बाद में युद्धस्थल में मोहग्रस्त अर्जुन से कही थीं।

अब मैं बाहर से एकदम शांत था; क्योंकि बात करनेवाला और उसका उत्तर देनेवाला—दोनों मेरे भीतर थे। भीतर ही मेरा मंथन चलता रहा।

शांत दिखनेवाला मैं भीतर से उबलता रहा। रह-रहकर उठती मेरी गहरी साँस में उसकी भाप निकलती रही। सिरहाने

चुपचाप खड़ी रुक्मिणी को मेरी मनःस्थिति का अनुमान हो गया था।

“आप इतने व्यग्र क्यों हैं?” उसने कहा।

मैंने मुड़कर देखा।

“तुम कहाँ थीं?”

“मैं तो कब से सिरहाने खड़ी थी! केवल मौका देख रही थी कि कब आप थोड़े शांत हों और मैं आपसे बातें करूँ।” इतना कहते हुए वह मेरा सिर सहलाने लगी और उसी पर्यंक पर बैठ गई।

“हम लोगों ने इसीसे कुछ कहा नहीं था; फिर भी सबकुछ आपको मालूम हो गया।” रुक्मिणी बोली।

“क्या यह बात छिपाने की थी?” मैंने कहा, “यदि यह बात तुम लोग मुझसे छिपातीं तो मेरे प्रति धोखा होता; जबकि इसे पूरी द्वाका जान गई होगी—और यदि न जानती होगी तो जान जाएगी। मुझे तो लगता है, सांब का अपराध मृत्युदंड का है। इस पाप का कोई और प्रायश्चित्त नहीं।”

“अरे रे रे, यह क्या कह रहे हैं आप? पिता पुत्र को प्राणदंड देगा!” रुक्मिणी एकदम घबरा गई।

मैं बोलता गया—“रुक्मिणी, यह मत भूलो कि सांब का पिता होने के साथ-साथ मैं द्वाका का शासक भी हूँ। शासन का आधार है न्याय—और न्याय अपना-पराया कुछ नहीं देखता।”

रुक्मिणी कुछ नहीं बोली, केवल मेरा सिर सहलाती रही। कुछ समय के लिए हम दोनों चुप रहे। फिर उसने मुझे समझाने के लिए एक दूसरे तर्क का सहारा लिया। उसने धीरे से कहा, “पिता के नियंत्रण के बिना पुत्र का मुक्त हो जाना स्वाभाविक है।”

“मुक्त होना दूसरी बात है और स्वेच्छाचारी एवं दुराचारी होना एकदम दूसरी बात। अब तुम्हीं समझो, मुझपर किस पिता का नियंत्रण था? परम मुक्त तो मैं भी था; पर मैंने कभी दुराचरण नहीं किया।”

“दुराचारी तो नहीं कहा जा सकता; पर वासनाजन्य चेष्टाएँ आपकी भी कम नहीं रही हैं।” रुक्मिणी ने हँसते हुए कहा, जो मेरा मन फेरने के लिए था।

पर मैं एकदम उबल पड़ा—“मेरी वासना मेरे नियंत्रण में थी; पर मैं वासना के नियंत्रण में कभी नहीं था। क्या मैंने भी अपनी माताओं के साथ ऐसा ही किया था जैसा सांब ने किया?” मेरी आवाज और तेज हुई—“तुम मुझको दोष देती हो कि मैंने पुत्रों पर नियंत्रण नहीं रखा! यदि यह बात सत्य है, तब तो मेरे सभी पुत्रों को सांब की तरह होना चाहिए। क्या तुम्हारा पुत्र प्रद्युम्न भी सांब की तरह है? क्या सांब से उसकी वासना किसी प्रकार दुर्बल है? मैंने तो जब भी उसके बारे में पता लगाया, वह मायावती के पीछे लगा रहता है।...प्रद्युम्न की वासना सरोवर के उस बँधे जल की तरह है, जो कमलों को सुरभित और सौंदर्ययुक्त करता है। सांब की वासना तो नाली में बहता सड़ा हुआ बदबूदार पानी है, जो स्वयं तो गंदा रहता ही है, समाज को भी गंदा करता है।”

“अच्छा, अब आप सो जाइए।” ऐसा कहते हुए उसने सिर छोड़ दिया और पैर सहलाने लगी।

मैं कब सो गया, पता नहीं। सवेरे आँखें खुलीं तो सूर्य-रश्मियाँ मेरी शय्या का स्पर्श कर चुकी थीं। रुक्मिणी कब की बगल में ढुलकी पड़ी थी। मैंने उसे जगाया नहीं; पर मेरे उठ बैठते ही वह भी जाग गई।

“आज खूब खरटि लेती रही।” मैंने कहा, “लगता है, तू मेरे सोने के बहुत देर बाद सोई।”

“क्या करती! आप सोए हुए भी बड़बड़ाते रहे। मुझे लग रहा था कि कहीं आप जाग न जाएँ। मैं बहुत देर तक पैर सहलाती और चुपचाप आपका मुख देखती रही।”

□

लगता है, रात्रि की घटना की जानकारी सांब को हो गई थी। वह प्रातः से ही प्रासाद से गायब था। मैंने तुरंत गुप्तचर विभाग से उसपर दृष्टि रखने को कहा।

कार्यालय जाने के पूर्व रुक्मिणी आज स्वयं जलपान लेकर मेरे कक्ष में आई। उसके साथ सत्यभामा भी थी; जबकि सदा ऐसा नहीं होता था। हम लोग उपाहार कक्ष में ही मिलते थे।

मैंने मुसकराते हुए पूछा, “आज यह विशेष कृपा क्यों?”

अब रुक्मिणी ने सत्यभामा की ओर देखा। सत्यभामा ने अपने अधरों पर एक कृत्रिम मुसकराहट उगाई और बोली, “क्योंकि आपका मन आज विशेष अशांत है।”

“अशांत है नहीं, अशांत था।” मैंने कहा, “क्योंकि अशांत होना मन की संक्रमणकालीन अस्थायी स्थिति है। उसकी मूल प्रकृति तो शांत रहने की है। अब मैं शांत हूँ, बिल्कुल शांत। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि मुझे क्या करना है।”

“बिना सांब और जांबवती को सुने आपने निश्चय कर लिया कि अब आपको क्या करना है।” रुक्मिणी बोली, “तब क्या पूर्ण न्याय हो सकेगा? जबकि जांबवती आपसे कुछ निवेदन करना चाहती है।”

“उसे किसने रोका है!”

मेरा इतना कहना था कि जांबवती अपने कक्ष से बुलवाई गई। वह तुरंत आई और हाथ जोड़े, दृष्टि नीची किए एक अपराधिनी की तरह खड़ी हो गई।

मैंने उससे बड़ी आत्मीयता से कहा, “अब तुम्हें भी मेरे पास आने के लिए सिफारिश करानी पड़ती है!”

“यह मेरा दुर्भाग्य है।” वह धीरे से बोली, “मेरे मुख पर ऐसी कालिख लगी है कि मैं यही सोचती रहती हूँ कि मैं अपना मुख आपको कैसे दिखाऊँ!”

“तुम्हें इतना अपराधबोध क्यों?”

“क्योंकि मैं उसकी माँ हूँ। उसके अपराध का बोध भी मुझे है। उसके दंड की पीड़ा भी मुझे होगी।” जांबवती इसके आगे कुछ बोल नहीं सकी। उसका गला रूँध गया।

“पर व्यक्ति को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, जांबवती, चाहे वह हँसकर भोगे या रोकर।” मैंने यह भी स्पष्ट किया—“एक शासक के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने पुत्र के अपराध की भी अनदेखी कर दे या उसे क्षमा कर दे।”

“आप चाहे जो भी करें, पर इसका ध्यान रखें कि जहाँ आप द्वारकाधीश हैं वहीं आप एक पिता भी हैं।”

“तुम सिंहासन की गरिमा को नहीं समझती, जांबवती!” मैंने कहा, “द्वारकाधीश के सिंहासन पर बैठकर मैं द्वारकाधीश पहले हूँ, सांब का पिता बाद में।”

“पर आप जरा ममता के सिंहासन पर बैठकर देखिए।” वह रुआँसे स्वर में बोली, “जरा माँ बनकर देखिए।”

“जो मैं बन ही नहीं सकता, उसके विषय में क्यों सोचूँ?” मैंने हँसते हुए कहा। सोचा था, मेरी हँसी से उसके जलते मन पर शीतल लेप हो जाएगी; पर वह प्रभावहीन ही रही। जांबवती की आँखें रिसने लगीं। मैंने उसको बगल में बैठाया अवश्य, पर कुछ बोला नहीं।

मुझे लगा कि मैं उसके आँसुओं की धारा में बह जाऊँगा। मोह-माया की कँटीली झाड़ियों के बीच से होकर न्याय के गंतव्य तक पहुँचा नहीं जा सकता। इसीलिए यथाशीघ्र जलपान से मुक्त हो मैं कक्ष से निकला और सीधे कार्यालय आया। तुरंत महामात्य को बुलाने का आदेश दिया।

मैंने सारी स्थिति महामात्य को बताई और कहा, “ऐसा नहीं कि सांब के कृत्य की जानकारी आपको न हो। और यदि नहीं है तो आपको महामात्य नहीं होना चाहिए।” मैं बड़े आक्रोश में था। मुझे तुरंत लगा कि जो कुछ मैंने कह दिया, वह मुझे नहीं कहना चाहिए।

पर महामात्य बेचारा कुछ नहीं बोला। वह बड़े शांतभाव से सुनता रहा।

“आपके विचार से सांब को क्या दंड देना चाहिए?” मैंने पूछा।

वह तो एकदम सकपका गया और मेरी मुद्रा ही देखता रहा।

“आप बोलते क्यों नहीं हैं?” मैं बोला, “आप निर्भीक होकर कहें।”

बहुत संकोच के साथ महामात्य ने धीरे से कहा, “मैं क्या कहूँ! आप स्वयं समझदार हैं, जैसा उचित समझें...”

“जब राजा का विवेक डगमगाता है तब उचित-अनुचित पर अपना स्पष्ट मत देना महामात्य का कर्तव्य है।” मैंने कहा, “पर यहाँ तो उलटा ही दिखाई दे रहा है कि मुझसे अधिक आपका ही विवेक कंपित है।”

“मैं तो सोचता हूँ, यह कुमार सांब के जीवन का पहला अपराध है।”

“यह उसके ही जीवन का नहीं वरन् हमारे सामाजिक अनुशासन और द्वारका के प्रशासन की पहली घटना है।” मैंने और जोर देकर कहा, “जानते हैं, महामात्य, यदि दंड देने में जरा भी ढिलाई बरती गई, तब ऐसे अपराधों को प्रोत्साहन मिलेगा। लोग ऐसे जघन्य कार्य करेंगे और कहेंगे कि महाराज, यह तो अपराधी का पहला अपराध है। क्यों नहीं ऐसे विषवृक्ष को पनपने के पहले ही जड़ से उखाड़कर समुद्र में फेंक दिया जाए!”

महामात्य अब भी कुछ बोल नहीं पा रहा था।

अब मैंने उसे आदेश दिया—“आज अपराह्न मेरे ही कार्यालय में अमात्य मंडल की बैठक आहूत कीजिए और उसी समय सांब को भी बुलाइए।”

फिर तो यह समाचार अरण्याग्नि की तरह पूरी द्वारका में फैल गया। एक थरथराहट-सी सारे प्रशासन में व्याप्त हो गई। लगा जैसे कुछ होने वाला है। लोग तरह-तरह की आशंकाएँ करने लगे।

□

आदेश के अनुसार अमात्य मंडल की बैठक आहूत हुई। उसीके समक्ष सांब को उपस्थित किया गया। कोई कुछ नहीं बोला। पूरी बैठक पर एक आशंकित सन्नाटा छाया था। हर कोई सोच रहा था कि देखें क्या होता है।

इसी समय मैंने सांब की भर्त्सना आरंभ की—“आप लोग यह तो जानते ही होंगे कि यह मेरा पुत्र है। इसका सुगठित तन देखिए। इसका सौंदर्य देखिए। इसकी अभिनय कला से तो आप परिचित ही होंगे। यह असामान्य व्यक्तित्व इसे यों ही नहीं मिला है। इसके जन्म के लिए मैंने भगवान् आशुतोष से प्रार्थना की थी। यह उसी भगवान् शंकर का आशीर्वाद है, जिसने काम को भस्म कर दिया था। पर इसके सिर पर वही काम सवार हो गया; वरन् काम नहीं, काम का राक्षस सवार हो गया और ऐसा कुत्सित अपराध कर डाला, जिसने पूरी द्वारका के मुख पर कालिख पोत दी।”

सांब सिर नीचा किए पूरे अपराधबोध के साथ मेरी बातें सुनता रहा।

मैंने अमात्यों को संबोधित करते हुए पूछा, “अब आप ही बताइए कि इसके लिए कठोर-से-कठोर कौन सा दंड होगा?”

पूरी अमात्य परिषद् मौन। सदस्य एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

थोड़ी देर बाद उन्हींमें से एक आवाज उभरी—“दंड का निश्चय करना महादंडनायक का कार्य है, जिसके सिरमौर आप हैं। अमात्य परिषद् को न तो उसके कार्य में हस्तक्षेप करना चाहिए और न अधिकार पर आघात।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने मुसकराते हुए कहा, “आप लोगों ने अपने दायित्व से मुक्त होने के लिए आखिर एक मार्ग निकाल ही लिया!”

इतना कहकर मैंने अमात्य परिषद् की बैठक को वहीं समाप्त कर दिया और नगर प्रशासक को आदेश दिया—“गोधूलि के समय सांब प्रमोद वन में उपस्थित किया जाए। इसे इसकी उन माताओं के सामने ही दंड दिया

जाएगा, जिनके प्रति इसके मस्तक पर पाप सवार हो गया था।”

स्थिति और गंभीर हो गई। सारी द्वारका में भय का सन्नाटा रेंगने लगा। मेरी मुद्रा से लोगों को स्पष्ट लगा कि आज कुछ होकर रहेगा। यहाँ तक कि छंदक भी घबरा गया; पर वह भी कुछ कह नहीं पाया। मैंने सोचा, इस कार्य में भैया थोड़ा सा आड़े आ सकते हैं। उनका लिहाज भी मुझे करना पड़ेगा। वे सांब की ओर से अवश्य कुछ कहेंगे; क्योंकि वे सदा उसका पक्ष लेते थे। पर अंत तक न तो भैया ने और न रेवती भाभी ने ही कुछ कहा। प्रमोद वन में प्रवेश करते समय भी मैं भैया की उपस्थिति की संभावना पर विचार करता रहा।

नगर प्रशासन ने आवश्यकता से कुछ अधिक ही सावधानी बरती। मेरे पहुँचने के पूर्व ही कड़े पहरे में सांब को उपस्थित कर दिया गया। द्वारका के किसी भी व्यक्ति को उस दिन प्रमोद वन में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। आवश्यक सैनिकों के अतिरिक्त तीन बधिकों को भी बुला लिया गया था और उन्हें किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए सन्नद्ध रखा गया था।

इन सारी तैयारियों का प्रकंपित कर देनेवाला प्रभाव मेरी उन भाव पत्नियों पर पड़ा था। सचमुच वे भीतर से काँप रही थीं और नितांत आशंकित थीं।

मैंने उनसे कहा, “अपराधी को मैं आपके बीच ले आया हूँ—केवल इसलिए कि आप जो भी उचित दंड देना चाहें, उसे दें।”

फिर मैंने नगर प्रशासक से पूछा, “सारी व्यवस्था ठीक है न?”

“जी, महाराज!”

मैंने पुनः अपनी उन भाव पत्नियों को संबोधित करते हुए कहा, “आप चाहें तो कशाघातों से अंग-भंग कर इसे निकम्मा बनाकर छोड़ दें। आप चाहें तो इसे मृत्युदंड देकर इसकी विधिवत् अंत्येष्टि करा दें, या इसका शव जंगली पशुओं के बीच नोचने और खाने के लिए छोड़ दें। दंड के ये तीन विकल्प आपके सामने हैं। उनमें से जो चाहें, आप तुरंत चुनें; क्योंकि इस कार्य में विलंब होना हमारी निर्णायक बुद्धि की कमजोरी समझी जाएगी।”

अब उन सारी महिलाओं को तो जैसे काठ मार गया। कोई कुछ कह नहीं पा रही थीं। कुछ को तो यह भी लगने लगा कि उस दिन हमने शिकायत करके उचित नहीं किया।

मैंने फिर कहा, “शीघ्रता कीजिए। मैं चाहता हूँ कि रात्रि के प्रथम प्रहर तक दंड की सारी प्रक्रिया समाप्त हो जाए।”

“पर दंड के ये तीनों विकल्प तो मानवीय दंड के हैं। आपने तो उस दिन कहा था कि उसे दैवी दंड दिया जाएगा।” यह दबी आवाज उन महिलाओं के बीच से उभरी।

कुछ क्षणों के लिए मैं सोच में पड़ गया। पर शीघ्र ही मैं सँभला। मेरा आक्रोश कुछ-न-कुछ तुरंत कर डालने के पक्ष में था। मैंने बात आगे नहीं बढ़ाई। मैंने कहा, “यदि ऐसा है तो आप सभी ध्यान से सुनें। जिस देवाधिदेव महादेव ने इसे इतना सुंदर रूप दिया है, उन्हींसे मेरा अभितप्त मन प्रार्थना करता है कि इस जघन्य अपराध के लिए इसे कोढ़ी कर दें। इसकी कंचनवर्णी काया रजतवर्णी हो जाए।”

सभी हाय-हाय करने लगीं।

“यह तो बड़ा कठोर दंड होगा। अपने एक दिन के अपराध के लिए यह जीवन भर अभिशप्त होकर समाज में सबका तिरस्कार सहेगा। किसी धार्मिक अनुष्ठान और युवराज पद से वंचित रहेगा।” उनकी पहली प्रतिक्रिया कुछ ऐसी ही थी।

पर मैंने किसीकी कुछ नहीं सुनी। मैंने कहा, “मैं चाहता हूँ कि फिर द्वारका में ऐसा घिनौना पाप न हो। लोग

देखें कि ऐसे जघन्य अपराध का परिणाम क्या होता है!''

गाढ़े और काँपते अंधकार में प्रमोद वन को छोड़कर मैं उस दिन तुरंत वहाँ से चला आया।

□

मेरे शाप का प्रभाव तो कुछ दिनों बाद से आरंभ हुआ, पर सांब का अपराध उसी दिन से द्वारका की दृष्टि में आ गया। उसी दिन से वह लोगों की उपेक्षा का पात्र होने लगा। इसका प्रभाव उसके मन पर बड़ा बुरा पड़ा। उसमें हीनता की भावना आई और वह बढ़ती गई। अब वह हम लोगों से दूर होता गया।

उसमें अभिनय की अद्भुत कला थी। उसने एक अभिनय मंच भी बनाया था। दिन-रात वह अपने मित्रों के साथ वहीं लगा रहता। उस नाटक मंडली में भी उसका पहले जैसा सम्मान नहीं रहा, या रहा भी हो, पर उसे नहीं लग रहा था। उसकी मानसिकता अब चारों ओर उपेक्षा-ही-उपेक्षा देख रही थी।

हीनता का बोध हीन होने से अधिक भयावह होता है। दूसरे आपको हीन समझें या न समझें, पर आप अपने को हीन समझने लगते हैं। व्यक्ति को अपनी सद्गुणों पर विश्वास ही नहीं रह जाता। हर अच्छाई से वह स्वयं दूर हटने लगता है, तब बुराईयों को खुला क्षेत्र मिल जाता है।

सांब के संदर्भ में भी ऐसा ही हुआ। अब वह मैरेय के चषकों में डूबा हुआ अपने ही कक्ष में पड़ा रहता। औरों से उसका मिलना-जुलना भी कम हो गया था। मिलता भी तो बात नहीं करता। यदि कोई बात करना भी चाहता तो उसे भी झिड़क देता। मैंने सुना है कि अब अपनी माँ के साथ भी उसका व्यवहार ठीक नहीं रहा। पर जांबवती इसके बारे में कुछ कहती नहीं थी। अब वह मेरे सामने भी नहीं आती थी। कभी मैं स्वयं बुलाता भी तो वह बुझी-बुझी-सी मेरे पास आने के पत्नीधर्म का बलात् निर्वाह करती हुई आती।

इसी मानसिकता में सांब ने एक लड़कपन और कर दिया। उसे भी क्या मालूम था कि खेल-खेल में किए गए इस परिहास का इतना भयंकर परिणाम होगा। पर जो नहीं होना चाहिए था, वह हो गया। नियति ने अपना खेल खेल दिया।

इस क्रम में सारण की चर्चा अनिवार्य हो गई है। सारण मेरी दूसरी माता रोहिणी का पुत्र था। मेरा भाई था; पर प्रकृत्या मुझसे दूर था। उसकी न तो मुझसे पटती थी और न बलराम भैया से ही। वह भी अपनी हीन भावना का शिकार था। हमारे और उसके बीच एक लंबी खाई थी—ईर्ष्या और द्वेष से भरी हुई, जो हमें कभी मिलने नहीं देती थी। उसके चार पुत्र थे—मार्ष्टि, मार्ष्टिमत, शिशु और सत्यधृति। ये सब अपने पिता के ही मार्ग पर थे—लंपट, निठल्ले और दुराचारी। ये सभी सांब के अभिनय मंच के सदस्य थे। सब अभिनय में सांब के भागीदार थे।

मेरा प्रथम पुत्र प्रद्युम्न भी अभिनय में भाग लेता था। इन लोगों ने सुपुर नगरी में 'रंभाभिसार' नामक नाटक किया था। उसमें सुपुर के राजा वज्रनाभ की कन्या प्रभावती ने भी भूमिका की थी। सुना है, सांब ने प्रभावती के साथ भी अभद्रता की थी; किंतु इस नाटक की इतनी यश-चर्चा हुई कि सांब के आचरण पर लोगों का ध्यान नहीं गया।

बात मेरे कानों में भी पड़ी थी; पर मैंने भी बहुत ध्यान नहीं दिया। सांब मेरे सामने बहुत कम पड़ता था। हाँ, मैंने प्रद्युम्न से इतना अवश्य कहा था कि तुम लोग द्वारका के राजकुमार हो। तुम्हें सदा ऐसे कार्यों से बचना चाहिए, जिससे लोग तुम्हारी ओर अँगुली उठा सकें।

फिर बाद में मुझे यह भी पता चला कि प्रद्युम्न सांब की नाटक मंडली से अलग हो गया। उसके अलग होते ही सांब अब बिल्कुल ही सारणपुत्रों से घिर गया और उन्हींके चक्कर में उसने वह कृत्य कर डाला, जो संपूर्ण यदुवंश के नाश का कारण बना।

एक दिन गुप्तचरों से समाचार मिला कि महर्षि दुर्वासा अपने शिष्यों के साथ द्वारका की ओर आ रहे हैं। मैंने तुरंत उनके स्वागत की तैयारी के आदेश दिए। रातोंरात द्वारका में कई तोरण द्वार बनवाए गए। पर इसे मैं द्वारका

का दुर्भाग्य या सौभाग्य कहूँ कि महर्षि द्वारका में नहीं पधारे।

गुप्तचरों ने बताया कि महर्षि ने द्वारका से एक योजन दूर से ही अपना मार्ग बदल दिया। मैंने राहत की साँस ली। यों भी महर्षि का स्वागत करना आग से खेलना था और मैंने काम्यक वन में उन्हें अप्रसन्न ही किया था। मुझे लगा, कहीं वे प्रतिशोध की भावना से तो नहीं आ रहे हैं। यद्यपि यह शंका निर्मूल थी।

पर मेरा मन इस स्थिति का भी सामना करने को तैयार था। जिस ग्राम में वे टिके थे, वहाँ के सरदार से भी मैंने निवेदन करवाया—“महर्षि जब इधर आए हैं तो क्या द्वारका जाने की भी कृपा करेंगे?”

“जाने की कोई योजना तो नहीं है।” महर्षि के अधरों पर कुछ झिझक और संकोच भरी मुसकराहट थी—“उस छलिया से मेरा सामना काम्यक वन में हो चुका है।”

इतना कहने के बाद वे पूरी घटना को एकदम पी गए।

मैंने समझ लिया कि महर्षि की मानसिक पराजय का घाव तो भर चुका है, पर वह अपना चित्त अवश्य छोड़ गया है। वह घातक हो सकता है—और आपको जानकर कष्ट ही होगा कि वह घातक हुआ भी। मेरे ही लिए नहीं, मेरे संपूर्ण वंश के लिए घातक हुआ। उसका माध्यम भी सांब बना।

इधर सारण के पुत्रों और सांब की चौकड़ी का बस एक ही काम था—किसी सम्माननीय या किसी सीधे-सादे व्यक्ति को मूर्ख बनाना और उसका परिहास करना। अब तक उन्होंने यह कार्य द्वारका और उसके आसपास ही किया था। इसीसे लोग उन्हें राजकुमार जानकर छोड़ देते थे। मुझ तक शिकायत नहीं आती थी। लोग कुढ़ते तो बहुत थे। यदि कोई उन्हें प्रताड़ित करने की चेष्टा भी करता था तो लोग उसे समझा देते थे—“अरे भाई, जाने दो! यह स्वयं शापित है। देखते नहीं हो, इसके शरीर का रंग बदलने लगा है। अपने कर्मों का फल तो यह स्वयं भोग रहा है।”

जब उस चांडाल चौकड़ी को दुर्वासा के आने का समाचार मिला तो वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि मूर्ख बनाने के लिए इससे अच्छा अब कौन पात्र मिलेगा। अंगारों से खेलनेवालों ने ज्वालामुखी से खेलने की योजना बनाई।

उन्होंने किसी तरह इसका भी पता लगा लिया कि महर्षि द्वारका न आकर किस ग्राम में ठहरे हैं। अब सारणपुत्रों ने सांब का वेश बदला। उसे सुंदर नारी बनाया। उसके लंबे केश और आकर्षक आकृति इसके अनुकूल थी।

उन सारणपुत्रों ने स्वयं अमात्यों का वेश धारण किया। फिर सब एक रथ पर वहाँ गए जहाँ महर्षि ठहरे थे। इतना हो गया, पर मुझे पता नहीं। गुप्तचरों ने भी इधर ध्यान नहीं दिया। वे यही सोचते रह गए कि यह चांडाल चौकड़ी कहीं अभिनय करने जा रही है। उन्हें क्या पता था कि द्वारका के उत्पाती तथा सपातियों की यह गोल महा तपस्वी, प्रतापी और तेजवान् सूर्य को चिढ़ाने जा रही है।

उन सबने योजना बनाई कि गोधूलि के समय संध्योपासना से ज्यों ही महर्षि उठें त्यों ही उनके समक्ष पहुँचा जाए, जिससे सूर्यास्त के बाद के धुँधलके में हमारी असलियत पहचानी न जा सके।

अपनी योजनानुसार समय से वे पहुँचे। रथ को उस स्थान से काफी दूर रखा गया, जहाँ महर्षि ठहरे थे। उनमें से एक उतरा और महर्षि के साथ आए ब्रह्मचारियों से कहा कि महाराज बभ्रु यादव की राजरानी महर्षि के दर्शनार्थ पधारी हैं।

ब्रह्मचारियों ने यथाशीघ्र महर्षि के पास सूचना पहुँचाई। बभ्रु यादव की पत्नी और यहाँ? वह भी इस समय? दुर्वासा को आश्चर्य हुआ।

उन्होंने कहा, “जाओ, कह दो कि गोधूलि के बाद ऋषियों का किसी पर स्त्री से मिलना शास्त्रविहित नहीं है।

अतएव आज रात्रि विश्राम करें। कल प्रातः अग्निहोत्र के बाद वे मिल सकती हैं।”

यह सुनकर चांडाल चौकड़ी निराश हुई। अब क्या होगा? रात्रि विश्राम की योजना भी नहीं, व्यवस्था भी नहीं। फिर रात भर में तो स्वयं यह कृत्रिम रूप भी अस्त-व्यस्त हो जाएगा। वास्तविकता उजागर हो जाएगी।

सारणपुत्रों ने पुनः ब्रह्मचारी से कहा कि हम लोगों की ओर से आप महर्षि से फिर प्रार्थना करें। महारानी को इसी समय लौटना है। वे महर्षि के दर्शन के लिए व्यग्र हैं। वे उनका आशीर्वाद लेंगी और चली जाएँगी।

किसी प्रकार महर्षि राजी हुए। अब धड़धड़ाती हुई चांडाल चौकड़ी महर्षि दुर्वासा को मूर्ख बनाने की लालसा लिये पहुँच गई। पहुँचते ही सांब महर्षि के चरणों में गिर गया।

महर्षि के मुख से बड़े सहजभाव से निकल पड़ा—“सौभाग्यवती भव!”

सारणपुत्रों ने सोचा कि हमें आंशिक सफलता मिल गई। दुर्वासा हमारे चक्कर में फँस गए। उन्होंने सांब को सचमुच महिला समझ लिया।

फिर उन्हींमें से एक बोला, “महर्षि, ये यादवराज बभ्रु की राजमहिषी हैं। इन्हें कोई पुत्र नहीं है। सारा परिवार रात-दिन संतान की चिंता में डूबा रहता है। सौभाग्य से महारानी इस समय गर्भवती भी हैं। आप जरा अपने ध्यानयोग से बताने की कृपा करें कि इन्हें पुत्र होगा या पुत्री?”

महर्षि क्षण भर के लिए ध्यानावस्थित हुए।

सारणपुत्रों की मूर्खता या सांब का दुर्भाग्य या यादवों का अनिष्ट अथवा नियति की विडंबना—आप जो भी चाहें, कह लें; पर उन युवकों की नादानी भरी शरारत ने साक्षात् काल को आमंत्रित किया।

ज्वालामुखी फूटा। महर्षि के अट्टहास में उस ज्वालामुखी का लावा था। महर्षि तड़पे—“अरे बुद्धिहीनो, तुम सब मुझे मूर्ख बनाने चले हो! मैं समझ गया कि यादवराज बभ्रु की यह पत्नी कौन है!” इसके बाद उन्होंने दौत पीसते हुए कहा, “तू कृष्ण का पुत्र सांब है न! तू मेरे तप की परीक्षा लेने आया है, या मेरा परिहास करने? अच्छा जा, मैं तेरी ही बात मान रहा हूँ कि तू किसीकी पत्नी है, गर्भवती है। तो सुन, तेरे गर्भ से क्या पैदा होगा! न पुत्र होगा, न पुत्री वरन् एक ऐसा लौह मुशल पैदा होगा, जो यादवों के विनाश का कारण बनेगा।”

इसके बाद क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम।

बात तो अभी भी न फूटती, यदि इस चांडाल चौकड़ी की मति भ्रष्ट न होती। इस घटना के दो-तीन दिन बाद आधी रात को जब सारी द्वारका सो रही थी तब इन दुर्बुद्धियों ने उस मुशल को सिंधु में फेंक देना चाहा। वे सब किसी प्रकार साहस जुटा और वेश बदलकर सिंधु के किनारे गए भी; पर वहाँ समुद्री प्रहरियों द्वारा पकड़े गए। तब इस रहस्य का उद्घाटन हुआ।

□

मुझे अचानक आधी रात को जगाया गया। मैं एकदम घबरा गया; जैसे द्वारका पर कोई आक्रमण हो गया हो। गुप्तचर अमात्य ने मुशल के साथ सांब के पकड़े जाने की सूचना दी। मेरी दृष्टि में इस सूचना का महत्त्व किसी आक्रमण से अधिक ही था; क्योंकि यह संपूर्ण यादव वंश के महानाश की सूचना थी।

मैंने बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किए महामात्य को तुरंत सूचना देने के लिए धन्यवाद दिया और कहा, “अच्छा, इस समय आप जाएँ, विश्राम करें। कल इसपर विचार किया जाएगा।”

मेरा मन तो अस्थिर हो ही गया था। मैं पुनः पर्यंक पर जाकर ढुलक गया। मुझे सांब पर इतना क्रोध था कि यदि वह सामने होता तो मैं उसको समाप्त कर देता; पर इससे क्या होता! यादवों की रक्षा तो हो नहीं जाती। ऐसी स्थितियों में मैं अपने से ही प्रश्नोत्तर करने लगता हूँ और चिंतन में डूब जाता हूँ। इस समय भी मुझे यही चिंता सता रही थी कि क्या मेरे रहते ही मेरा सारा निर्माण ध्वस्त हो जाएगा?

‘क्या कहा, ‘मेरा’ निर्माण! तू क्या निर्माण कर सकता है? इस भ्रम में मत रह। कर्ता तो मैं हूँ।’ एक जानी-पहचानी आवाज मेरे कानों से पुनः टकराई—‘तू निमित्त मात्र है। मैं ही बनाता हूँ, मैं ही बिगाड़ता हूँ। सृष्टि का नियामक भी मैं हूँ और विनाशक भी। मैं विधि भी हूँ, विधायक भी और महाकाल का पर्याय भी। न तेरे किए कुछ हुआ है और न तेरे चाहे कुछ होगा।’ इस ध्वनि के साथ ही एक विद्रूप-सी हँसी सुनाई देती रही।

ऐसा मेरे साथ कई बार हुआ है, इसलिए इस बार मैं घबराया नहीं। मैं केवल उसे सुनता रहा—‘चिंतामुक्त हो, तू अपने से अलग होकर निरपेक्षभाव से देख, जैसा साधना के समय तू अपने को देखता है। तू पाएगा कि जब तू नहीं था तब भी यह सृष्टि थी और तू नहीं रहेगा तब भी यह सृष्टि रहेगी। इसमें निर्माण एवं विनाश का क्रम सदा रहा है और चलता रहेगा। तेरे जैसे लोग कभी उसके निर्माण के और कभी उसके विनाश के बस निमित्त बन सकते हैं। करण बन सकते हैं, कारण बन सकते हैं; पर कर्ता नहीं। बस तेरा अस्तित्व यहीं तक है। जब तू कर्ता होने के अहंकार से मुक्त हो जाएगा, जीवन को साक्षीभाव से देखेगा, तब तू पाएगा कि जब तेरा यह जीवन नहीं था तब भी तू था और जब यह जीवन नहीं रहेगा तब भी तू रहेगा। तब विनाश और निर्माण के बीच की रेखा तुझे बड़ी क्षीण-सी लगेगी। तब तू मान लेगा, जिसका निर्माण हुआ है उसका अवश्य एक-न-एक दिन विनाश होता है और जिसका विनाश होता है उसीका निर्माण होता है।’

मैं मंत्रमुग्ध-सा उसे सुनता रहा—‘इसलिए यादवों के नाश का कारण तुझे सांब की करनी और दुर्वासा का शाप भले ही लगे, पर वास्तविकता यही है कि उन्हें नष्ट होना है और वे नष्ट होंगे।’

इसके बाद मुसकराती हुई मेरी जैसी आकृति ही मुझे दिखाई दी। फिर वह मुझमें ही लुप्त हो गई। मुझे लगता है कि मैं कई व्यक्तित्व एक साथ जी रहा हूँ; जिसमें प्रधान दो हैं, जो सदा मेरे साथ रहते हैं। एक तो मेरा क्रियाशील व्यक्तित्व—बाह्य व्यक्तित्व—सबको दिखाई पड़नेवाला साकार रूप, सारा दूषण और प्रदूषणयुक्त, संसारसापेक्ष और मरणधर्मा। दूसरा मेरा चिंतनशील व्यक्तित्व—आंतरिक व्यक्तित्व—अन्यों को दिखाई पड़ना तो दूर, मुझसे भी अदृश्य रहनेवाला व्यक्तित्व, किसी प्रकार के प्रदूषण और जन्म-मरण के बंधन से मुक्त। जब कभी मेरा बाह्य व्यक्तित्व किसी उलझन में पड़ता है तब मेरा आंतरिक व्यक्तित्व सामने आता है और मेरा मार्गदर्शन करता है। इस समय भी वही सामने आया था और जिस समय कुरुक्षेत्र में अर्जुन मोहग्रस्त हुआ था उस समय भी मेरा यही व्यक्तित्व सामने आया था।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि मैंने सांब से बोलना छोड़ दिया और मन-ही-मन संकल्प लिया कि अब उसका मुँह भी नहीं देखूँगा। इस घटना के बाद वह खुद भी मेरे सामने नहीं पड़ा।

दूसरे दिन कार्यालय आते ही मैंने प्रधान प्रशासक को बुलवाया और कहा, “एक अभिमंत्रित लौह मुशल सिंधु के प्रहरियों के पास है। उसे लेकर राजकीय शस्त्रागार में जमा कर दो।”

“प्रहरियों ने उसके विषय में मुझे बताया है; पर उन्होंने यह नहीं बताया कि वह उनके पास है।” प्रधान प्रशासक ने कहा।

“तब हो सकता है, सांब के पास हो।” मैंने कहा, “जहाँ हो, उसे प्राप्त करो। वह अभिमंत्रित और अभिशापित भी है। (वह धान कूटनेवाला मुशल नहीं था वरन् महाभारतकालीन एक अस्त्र था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में मुशल का भी प्रयोग हुआ था।) वह कभी भी कोई चमत्कार कर सकता है।”

प्रधान प्रशासक मुझसे आदेश लेकर निकला ही था कि एक दूसरी सूचना मेरे पास आई कि पांडवों का मुख्य सारथि इंद्रसेन खाली रथ लेकर आया है। उसके साथ कुछ सैनिक तथा अश्व भी हैं। एक नई समस्या और खड़ी हो गई है।

मेरे चिंतन पटल पर अब पांडव थे। क्या हो गया कि उन्होंने इंद्रसेन को मेरे यहाँ भेज दिया? वे इतनी सरलता से न तो पराजित हो सकते हैं और न मारे जा सकते हैं। यह हो सकता है कि किसी वनज विपदा ने या यक्षों की किसी माया ने उन्हें घेर लिया हो।

मैंने उसी समय इंद्रसेन को अपने कार्यालय में बुलवाया और उससे स्थिति की जानकारी चाही।

उसने बताया—“हमारे स्वामियों के वनवास के बारह वर्ष बीत गए। अब अज्ञातवास शुरू हो गया। इसीलिए उन्होंने कहा कि तुम रथ, अश्वों और अपने साथ के कुछ सैनिकों को लेकर चुपचाप द्वारका चले जाओ। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि महर्षि धौम्य दास-दासियों और सेवक-सेविकाओं तथा अग्निहोत्र की सामग्री को लेकर पांचाल चले गए हैं।”

“यह पांडवों ने बड़ी बुद्धिमत्ता का कार्य किया।” मैंने कहा, “इन दो स्थानों से अधिक निरापद उनके लिए कोई तीसरा स्थान नहीं हो सकता था।”

“पर यह योजना हमारे स्वामी की नहीं है।” इंद्रसेन ने कहा, “किसको कहाँ जाना है, किसे रहना है, क्या करना है—इन सबका निर्धारण भी महर्षि ने ही किया।”

“तो पांडवों के लिए उन्होंने अज्ञात रहने की क्या सलाह दी?”

“इसे तो उन लोगों ने अत्यंत गोपनीय रखा।”

“इसका तात्पर्य है कि यह तुम्हें भी नहीं मालूम!”

“यह मैं कैसे कहूँ, महाराज?” उसने मुसकराते हुए बड़े विनीतभाव से कहा, “मैं आपके सामने झूठ नहीं बोल सकता।”

“इसका मतलब है कि तुम जानते हुए भी बता नहीं सकते हो!”

“ऐसा ही उनका आदेश है।”

“तब तो यह अच्छी बात है।” मैंने कहा, “यदि इस आदेश का पूरी सच्चाई के साथ तथा दृढ़तापूर्वक पालन हुआ, तब तो पांडव निश्चय ही अपना अज्ञातवास सफलतापूर्वक बिता लेंगे। यदि अज्ञातवास के लिए उन्होंने कोई सबल और संपन्न राज्य चुना होगा तो और भी अच्छा होगा।”

“ऐसा ही है वह राज्य।” मुसकराते हुए वह बोला।

“साथ ही यह भी देखना होगा कि उस राज्य का हस्तिनापुर से संबंध कैसा है!”

“उस राज्य का हस्तिनापुर से संबंध अच्छा नहीं है।”

“यह भी एक खतरा है।” मैंने कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि कौरवों के गुप्तचर सबसे पहले अपने शत्रु प्रदेशों में ही उनका पता लगाने की चेष्टा करेंगे।”

अब इंद्रसेन ने अपनी बात थोड़ी और स्पष्ट की—“मेरे ‘अच्छा नहीं’ कहने का तात्पर्य यह नहीं था कि वह कौरवों का शत्रु प्रदेश है। वस्तुतः वह राज्य न कौरवों का शत्रु है, न मित्र। हाँ, इतना अवश्य है कि पांडवों से उसकी सहानुभूति है। पर पांडवों ने अपना परिचय तो उन्हें दिया नहीं है। सारी वास्तविकता छिपाकर वे उनके चाकर हुए हैं।”

इसी क्रम में इंद्रसेन ने बताया—“पांडवों ने अपने नाम भी बदल लिये हैं। अपनी योग्यतानुसार अपने कार्य करने की क्षमता बताई—और सुना है, एक ही राजा के यहाँ उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें काम भी मिल गया।”

“चलो, ठीक ही हुआ।” मैंने कहा।

मेरे कहने के ढंग से उसे लगा कि मैं उससे अधिक संतुष्ट नहीं हूँ। उसने पूछा, “क्या आपको लगता है कि उनकी इस व्यवस्था में कोई कमी है?”

“एक स्थान पर सबका रहना एक दृष्टि से ठीक भी है और ठीक नहीं भी। ठीक इसलिए नहीं है कि एक का रहस्य खुलते ही औरों का भी रहस्य खुल जाएगा। आपस में रोज का मिलना होगा, बातचीत होगी। उनके आपस में जो संबोधन होंगे, उससे उनकी गोपनीयता उघड़ सकती है।” मैंने कहा।

“इसपर भी उन्होंने विचार किया था।” इंद्रसेन ने बताया—“और उन्होंने इसकी भी तैयारी कर ली है।”

“क्या तैयारी की?” मैंने हँसते हुए पूछा।

“उन लोगों ने बातचीत के लिए दूसरे नाम निश्चित किए हैं।” इंद्रसेन ने मुसकराते हुए इतना रहस्योद्घाटन किया।

“तब तो एक-एक व्यक्ति के कई-कई नाम हो गए होंगे?”

“जी हाँ, तीन-तीन नाम होंगे।”* उसने हँसते हुए बताया। पर इससे अधिक उसने कुछ नहीं कहा और न मैंने उससे बताने के लिए दबाव दिया।

“जितना तुमने मुझे बताया है उतना भी औरों से मत बताना और अपने मित्रों से भी ऐसी सावधानी बरतने के लिए कहना।” मैंने उसे सावधान करते हुए कहा, “जब तुम्हारे स्वामियों ने इतने नाम बदले तो तुम्हें भी अपने छिपाव के लिए कुछ करना पड़ेगा।”

“जैसी आपकी आज्ञा।”

इसके बाद मैंने उसे तथा उसके साथ आए लोगों को द्वारका की सेवा में रख लिया और उसे सावधान किया कि किसीको अपनी वास्तविकता मत बताना और अपने मित्रों को भी सतर्क करना।

* युधिष्ठिर ने अपना नाम ‘कंक’ रखा था; पर सभी भाई और द्रौपदी उन्हें ‘जय’ नाम से संबोधित करते थे। भीम का नाम ‘बल्लव’ था। ‘बल्लव’ का शाब्दिक अर्थ होता है भोजन बनानेवाला। आपस में उसे लोग ‘जयंत’ कहते थे। अर्जुन ‘बृहन्नला’ था; पर आपसी बातों में लोग उसे ‘विजय’ कहते थे। नकुल का नाम था ‘ग्रंथिक’। ग्रंथिक को आपसी बातचीत में लोग ‘जयत्सेन’ कहते थे। सहदेव ने अपना नाम ‘तंतिपाल’ रखा था। इसका शाब्दिक अर्थ ‘गोपाल’ होता है; पर बातचीत में उसका नाम ‘जयद्वल’ था। द्रौपदी ‘सैरंध्री’ थी। ‘सैरंध्री’ अंतःपुर की दासी को भी कहते हैं। विशेषकर वह पट्टमहिषी की प्रमुख सेविका होती थी।

“लेकिन बहुधा लोग पूछेंगे ही, तो क्या कहूँगा?” इंद्रसेन ने पूछा।

अब मैं सोचने लगा कि सचमुच इसका कुछ न बताना भी संदेह का कारण हो जाएगा। लोग जब इससे परिचय पूछेंगे तो इसे कुछ-न-कुछ तो कहना ही चाहिए। यदि यह झूठ कहेगा तो पकड़ा भी जा सकता है; क्योंकि झूठ की चादर इतनी बड़ी नहीं होती कि वह सत्य को पूरा-का-पूरा ढक सके। एक अंग छिपाएगा तो दूसरा दिखाई देने लगेगा। लोग प्रश्न पर प्रश्न करते जाएँगे तो कभी-न-कभी इसके झूठ को नंगा होना पड़ेगा। हस्तिनापुर के गुप्तचर तो इसे पहचानते भी होंगे। यदि उन लोगों से इसने झूठ कहा तो संकट में पड़ सकता है।

“लगता है, आप कुछ सोचने लगे।” वह पुनः बोला।

“यही तो झूठ का सबसे बड़ा संकट है कि उसे बोलने के लिए बहुत सोचना पड़ता है।” मैंने कहा, “तो तुम सत्य ही क्यों नहीं कहते! तुम कहो कि हम लोग पांडवों की सेवा में थे। इंद्रप्रस्थ से ही वे हमें लाए थे। बारह साल वनवास में भी हम उनके साथ थे। जब उनके अज्ञातवास का समय आनेवाला था तब उसके पहले ही उन्होंने हम लोगों को अपनी सेवा से मुक्त करते हुए कहा कि आप लोग जहाँ मन हो वहाँ जाइए। अब हमें अपना तन ही छिपाना कठिन होगा, हम आप लोगों को साथ कैसे रख पाएँगे। तब हम लोगों ने द्वारका की शरण ली।”

इंद्रसेन मुसकराते हुए बोला, “पर यह भी पूर्ण सत्य नहीं है।”

“सत्य के निकट तो है न!” मैंने हँसते हुए कहा, “इससे जरा भी आगे बढ़ोगे तो संकट की रेखा पर पैर पड़ जाएगा।”

इंद्रसेन ने प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार किया और चला गया। उसी दिन से प्रचारित हो गया कि पांडवों के कुछ सेवक द्वारका में शरण ले रहे हैं।

□

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद।

एक सुहावनी संध्या को मुझे सूचना दी गई कि हस्तिनापुर से कुछ लोग आए हैं। वे मुझसे मिलना चाहते हैं। एक रहस्य फिर मेरे सामने खड़ा हो गया। मेरे मन में तुरंत आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं पांडव सैनिकों से कोई बात फूट तो नहीं गई।

“कौन हैं वे लोग?” मेरा तात्पर्य उनके पदों को जानने का था—“और वे क्या चाहते हैं?”

“वे आपसे मिलकर महाराज धृतराष्ट्र का निमंत्रण देना चाहते हैं।”

मैं बड़े असमंजस में पड़ा। हस्तिनापुर से आनेवाले लोग विभागीय प्रधान की हैसियत के थे। द्वारकाधीश को आमंत्रित करने के लिए हस्तिनापुर के महाराज ऐसे साधारण कर्मचारियों को भेजें, यह बात कुछ समझ में नहीं आई। अरे, अपने सौ बेटों में से किसीको भी इन लोगों के साथ भेज देते। नहीं तो किसी अमात्य को तो आना ही चाहिए था। उन्होंने राजकीय शिष्टाचार का पालन नहीं किया।

पहले तो मैंने अपने प्रहरी से कहा भी कि उनसे कहो, निमंत्रण कार्यालय में दे दें। महाराज को मिल जाएगा। फिर सोचा कि यह तो निमंत्रण भेजनेवाले का अपमान होगा। महाराज धृतराष्ट्र क्या सोचेंगे? फिर मुझे यह भी नहीं मालूम था कि निमंत्रण किस बात का है। मेरा मस्तिष्क पांडवों के सेवकों की ओर गया। हो सकता है, उन्हींको लेकर कोई बात न पैदा हो गई हो!

मैंने अपना निर्णय बदला और उन्हें ससम्मान बुलाया।

उनसे पूछा, “क्या है, भाई?”

“युवराज दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा का स्वयंवर है। महाराज ने आपको आमंत्रित किया है।” उसने निमंत्रण की ‘ग्रंथि मंजूषा’ समर्पित की।

मैंने उस ग्रंथि मंजूषा को सिर लगाया। उसका पूरा सम्मान करते हुए मैंने यह तो कह ही दिया—“राजकीय निमंत्रण का यह शिष्टाचार भी पारिवारिक निमंत्रण की तरह ही है।” फिर मैंने एक कृत्रिम हँसी हँसते हुए प्रहरी से कहा कि इन्हें भैया के पास ले जाओ और उस निमंत्रण मंजूषा को लौटाते हुए उन आगंतुकों से बोला, “यह तो पारिवारिक निमंत्रण है। अच्छा हो, इसे आप अपने हाथ से ही बड़े भैया को दे दें।”

निमंत्रण लेकर वे लोग प्रहरी के साथ चले गए।

मैंने सोचा कि जरा भैया भी अपने शिष्य और मित्र की धृष्टता देख लें।

निश्चय ही भैया को दुर्योधन का निमंत्रण भेजने का यह तरीका अच्छा नहीं लगा होगा। इसीलिए इस संदर्भ में न तो उन्होंने मुझसे कुछ कहा और न मैंने उनसे कुछ पूछा। बात हम दोनों की चुप्पी के भीतर ही रह गई।

बाद में पता चला कि भैया ने सांब को उस स्वयंवर में भाग लेने के लिए भेज दिया। उस समय मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं हुई। उसे शापित करने के बाद मेरा और उसका सामना नहीं होता था और न मैं उसके बारे में कुछ जानना ही चाहता था। जांबवती मिलती तो थी, पर पहले जैसी हहाकर नहीं। पति और पत्नी के बीच औपचारिकता तो थी, पर आत्मीयता में काफी कमी आ गई थी।

हम दोनों के बीच रुक्मिणी और सत्यभामा की भूमिका ‘सेतु’ की थी। दोनों इस पक्ष की थीं कि सांब के संदर्भ में जो कुछ हुआ, उसे दोनों ओर से भुला देना चाहिए; पर न जांबवती भुला पाती थी और न मैं।

बहुधा सत्यभामा इस विषय में चर्चा छेड़ती थी और बातों की डोर बड़ी होशियारी से रुक्मिणी को थमा देती थी।

उस दिन सत्यभामा ने सांब के बारे में बातें शुरू कीं और कहलवाया रुक्मिणी से—“बेचारे का शरीर एकदम श्वेत हो चला है। अब वह सूर्य के ताप से भी बहुत घबराता है। उसने अपने किए का फल तो पा ही लिया।”

“अब जो हो गया, सो हो गया।” सत्यभामा बोली, “अब सारी घटना को भूलने में ही हम सबका कल्याण है।”

“सारी घटनाएँ ही क्यों, मैं तो सांब को ही भूल जाने की चेष्टा कर रहा हूँ।” मैंने हँसते हुए कहा।

“पर क्या आप ऐसा कर पाएँगे?” सत्यभामा ने मेरी ही बात पकड़ी—“ऐसा आप इसलिए कह रहे हैं कि इस समय सांब के संदर्भ में आपका मस्तिष्क घृणा से भरा है। पर आपने ही अनेक बार कहा है कि घृणित से नहीं, घृणा से घृणा करो। घृणित को तो व्यापक उदारता और करुणा की आवश्यकता है। फिर ममता का आग्रह आप जैसा भावुक व्यक्ति ठुकरा सकता है!”

“तुम्हारे कहने का तात्पर्य क्या है?”

“यही कि आप घटनाएँ तो भूल सकते हैं, पर सांब को नहीं भुला सकते।”

“और यदि मैं सांब को भुला दूँ तो?”

“मैं समझूँगी कि आप पिता नहीं हैं।” उसने छूटते ही कहा।

मैं हँस पड़ा।

एक ओर इस तरह का आग्रह चल रहा था, दूसरी ओर सांब ने ऐसा करतब दिखाया कि उसके प्रति मेरी ही नहीं, औरों की भी घृणा और भी गाढ़ी हो गई।

दूसरे दिन जब मैं सोकर उठा तो मैंने देखा कि रुक्मिणी और सत्यभामा दोनों मुँह लटकाए चुपचाप बैठी हैं। उनकी आकृति पर एक अप्रत्याशित आघात की अभिव्यक्ति मैंने देखी।

मैंने तुरंत पूछा, “क्या बात है?”

“कोई विशेष बात नहीं।” रुक्मिणी ने कहा। फिर वह जल पात्र से पानी देती हुई बोली, “पहले आप हाथ-मुँह धोइए।”

“वह तो सवेरे उठकर मैं रोज ही धोता हूँ; पर उस समय तू तो नहीं धुलाती! यह कार्य अन्य सेवक करते हैं।”

“पत्नी भी सेविका ही होती है। यदि आज यह कार्य हम लोग कर रहे हैं तो आपको इतनी घबराहट क्यों?”

“घबराहट मुझमें नहीं है। घबराहट तो मैं तुम्हारी आकृतियों पर देख रहा हूँ। हो सकता है, उसकी छाया मुझपर पड़ रही हो।” मैंने कहा।

वे चुप हो गईं।

इसके बाद मैंने हाथ-मुँह धोया। नित्यकर्म से निवृत्त हुआ। संध्या के पूजन पर बैठा। फिर भी वे चुपचाप बैठी रहीं। जलपान में उन्होंने साथ दिया; पर नाम मात्र का—चिड़ियों की तरह चुगती हुई।

जब जलपान समाप्त हुआ तब मैंने पूछा, “अच्छा, अब बताइए, क्या बात है?”

“हमारी प्रार्थना है कि आप जरा जांबवती के कक्ष में चलें।”

“क्यों, क्या बात है?” मैंने पूछा तो सही, पर समझ लिया कि अवश्य ही सांब ने कोई करामात कर दिखाई होगी।

अब रुक्मिणी ने बताया—“जांबवती ने परसों से खाना-पीना छोड़ दिया है और निरंतर रो रही है।”

“आखिर क्यों?” मैंने पूछा।

वे दोनों एक-दूसरे का मुँह देखती रह गईं।

“कहती क्यों नहीं कि सांब ने फिर कोई ‘कुकर्म’ किया है!”

मेरी आशंका को स्वीकारते हुए उनका मौन अब भी बना रहा। फिर भी सत्यभामा ने अपना आग्रह धीरे से पुनः

दुहराया—“यदि आप चलते तो उसे बड़ी शांति मिलती। वह बार-बार यही कहती है कि अब वह कौन सा मुख आपको दिखाएगी।”

मेरी जिज्ञासा के सामने जितना परदा खड़ा किया गया, वह उतनी ही तिलमिलाई—“इसका तात्पर्य है कि कुछ ऐसा हो गया, जिससे उसकी यह स्थिति है।...तुम लोग अब भी मुझसे मुख्य बात छिपाए जा रही हो।” मेरी आवाज कुछ तेज हुई।

जब सत्यभामा ने देखा कि कहीं यह गोपनीयता मेरे लिए बरदाश्त के बाहर न हो जाए तब उसने बताया—“सांब को बंदी बनाकर दुर्योधन ने कारागार में डाल दिया है।”

इतना सुनना था कि मैं एकदम उबल पड़ा—“उसका यह साहस! पर यह सब कब हुआ? कैसे हुआ? अभी तक इस महत्वपूर्ण घटना से मैं अनजान रखा गया। मेरे गुप्तचर विभाग ने मुझसे कुछ नहीं कहा? अवश्य ही मुझसे यह जान-बूझकर छिपाया गया।” इस सूचना से मैं इतना विचलित हुआ जैसे मेरे मस्तिष्क की धमनियाँ फट जाएँगी।

मुझे मेरी पत्नियों ने काफी शांत करने की चेष्टा की।

“हो सकता है, यह सूचना गुप्तचर विभाग को भी न मिली हो।”

“ऐसा कैसे हो सकता है!” मैं फिर आवेश में आ गया—“यदि ऐसा है तो मैं अभी चलकर गुप्तचर अमात्य को निलंबित करता हूँ। द्वारका का राजकुमार बंदीगृह में डाल दिया जाए और द्वारका को पता न हो!”

“द्वारका को तो पता है, पर आपसे अब तक इसलिए छिपाया गया कि इस सूचना को देने का भार हमीं लोगों को सौंपा गया।”

“किसने सौंपा?”

“इस तूल में यदि आप इस समय न पड़ें तो बड़ी कृपा हो और आप जांबवती के कक्ष में चलें।”

जब मैं जांबवती के कक्ष में पहुँचा तब वह मुझे देखते ही एकदम फूट पड़ी। वह मुझसे लिपटकर ऐसा सिसक-सिसककर रोती रही कि क्या बताऊँ! उसे ऐसा फूट-फूटकर रोते हुए मैंने कभी देखा नहीं था।

दुर्योधन के प्रति उभरा मेरा सारा आक्रोश अब जांबवती के आँसुओं की बाढ़ को रोकने में लग गया। मैंने उसे समझाना आरंभ किया कि अब मन छोटा करने से क्या लाभ! जो परिस्थिति आई है, उसका सामना एक वीरांगना की तरह करो।

मुझे लगता है, सांब के बंदी बनाए जाने की सूचना कल प्रातःकाल ही आ गई थी। तभी तो कल प्रातःकाल से राजभवन में एक प्रकार का भयभीत आतंक साँय-साँय करने लगा था। संध्या तक यह सन्नाटा नगर में भी रेंग गया। मैं सोचता रहा कि क्या बात है; पर किसीने मुझे कानोंकान खबर नहीं की।

“अच्छा, घबराओ नहीं, जांबवती, मैं अभी दुर्योधन का दिमाग ठीक करता हूँ।” मैंने जांबवती को सांतवना दी—“अच्छा है या बुरा है, सांब हमारा पुत्र है। उसको बंदी बनाकर हमारी प्रतिष्ठा को कारागृह में डालकर उसने द्वारका के सम्मान को चुनौती दी है। यह समय रोने का नहीं है वरन् हस्तिनापुर के विरुद्ध फुत्कार उठने का है। तुम शांत हो, जांबवती, मैं अभी इसका उपाय सोचता हूँ।”

इतना कहकर मैं उसके कक्ष से निकला। मैंने तुरंत छंदक को बुलवाया।

“तुमने कुछ सुना?” उसके आते ही मैं बोल पड़ा।

वह सबकुछ समझ गया। उसने कहा, “परसों संध्या को ही सूचना मिली थी।”

“पर तुमने मुझे बताया नहीं!”

“क्या बताता! आपका मन बिगाड़ने से मुझे कोई लाभ दिखाई नहीं दिया।”

“पर गुप्तचर विभाग को तो सूचित करना चाहिए था।”

“मैंने ही गुप्तचर अमात्य को रोक दिया था।” उसने बताया—“अचानक वह मार्ग में मिल गया था। उसने मुझे सूचना दी और कहा, ‘अब मैं द्वारकाधीश को सूचित करने जा रहा हूँ।’

“मैंने कहा, ‘क्या करोगे उन्हें सूचित करके? जब अपना ही सिक्का खोटा है तब परखनेवाले का क्या दोष!’ फिर वह आपको सूचित करने नहीं आया।”

“पर ऐसी घटनाओं की सूचना तो सिंहासन को होनी ही चाहिए।” मैंने कहा।

“आप ठीक कहते हैं।” छंदक ने कहा, “इसमें गुप्तचर अमात्य का कोई दोष नहीं है। दोष मेरा है। मैं इस झमेले में आपको पड़ने देना नहीं चाहता था। मेरा विचार था कि जिसने सांब को हस्तिनापुर भेजा था, परिणाम भी पहले उसीको बताया जाना चाहिए था।”

“तो क्या भैया को यह समाचार मिल चुका है?” मैंने पूछा।

“जी हाँ, उन्हें समाचार भी मिल चुका है और सेना की एक टुकड़ी लेकर वे हस्तिनापुर जा भी चुके हैं—अपने शिष्य और मित्र का अभिनंदन करने!” उसने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा।

मैंने मन में सोचा कि छंदक ने अच्छा ही काम किया। फिर भी मैंने उससे कहा, “भैया मुझसे कुछ कहे बिना चले गए?”

“उन्होंने कुछ कहा भी नहीं और अमात्य को कहने से भी रोक दिया तथा बोले, ‘कृष्ण को अभी इसकी सूचना बिल्कुल मत देना। मैं तो जा ही रहा हूँ, व्यर्थ उसे विचलित मत करना।’ ”

छंदक बोलता रहा—“मुझे लगता है, आपको बिना बताए सांब को भेजने की भूल का अनुभव भैया ने गंभीरता से किया और उनके इसी अपराधबोध ने चाहा कि इस स्थिति के सुधार के बाद ही आपको सारी घटना से अवगत कराया जाए।”

मैं भैया की प्रकृति जानता था। इसीलिए छंदक के निष्कर्ष पर मुझे संदेह नहीं हुआ। उसने यह भी बताया कि भैया अत्यधिक आक्रोश में गए हैं।

“आक्रोश तो आना ही चाहिए था। यह द्वारका के सम्मान का प्रश्न है।” मैंने कहा।

छंदक थोड़ा गंभीर हुआ। फिर बोला, “मैं कह नहीं सकता कि उनका आक्रोश सांब पर था या दुर्योधन पर; किंतु वे कहीं-न-कहीं भीतर से गंभीर रूप से घायल हुए थे।”

छंदक के इस कथन से लगा कि उसे इस संदर्भ की सारी जानकारी है, पर वह उसे छिपा रहा है।

मैंने कहा, “शायद भैया ने तुझे भी मुझसे सारी बातें बताने से रोका है।”

वह चुप ही रहा।

“अच्छा, सारी बातें जाने दो, मुझे केवल यह बताओ कि यह स्थिति आई कैसे?” मैंने पूछा।

“तब सारी बातें बताए बिना इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता।” उसने मुसकराते हुए कहना जारी रखा—“बात यह हुई कि जब सांब हस्तिनापुर पहुँचा तब उसने स्वयंवर के लिए भाग लेने के निमित्त अपने आगमन की सूचना राजभवन में भेजी। बड़ी आवभगत के साथ उसे अतिथिगृह में ठहराया गया। सुना है कि युवराज दुर्योधन स्वयं सांब से मिलने भी आए और उसे देखकर पहले तो स्तब्ध रह गए। फिर बोले, ‘यह तुम्हारा सारा शरीर तो श्वेत हो गया है। तुम तो कोढ़ी हो। किसी शुभ कार्य में तुम्हारी उपस्थिति शास्त्रों द्वारा वर्जित है। अतएव कृपा कर तुम यहीं रहो। स्वयंवर में उपस्थित होने की चेष्टा मत करना।’ ”

“बात तो ठीक थी दुर्योधन की।” मैंने कहा।

“पर इस बात को सांब को भेजने के पहले भैया को तो समझना चाहिए था।” छंदक बोला।

इसपर मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। केवल जानना चाहा कि आगे क्या हुआ।

उसने बताया—“सुना है, इस वर्जना के बाद सांब राजभवन में चुपके से जाकर लक्ष्मणा से मिला। उसने कहा, ‘स्वयंवर में मैं प्रवेश से वर्जित कर दिया गया हूँ। इसलिए तुम्हारे पास आया हूँ। अब तुम बताओ, तुम मेरा वरण करोगी कि नहीं?’ ”

छंदक कहता जा रहा था—“बतानेवाले ने बताया है कि इसपर लक्ष्मणा ने भी उसे तिरस्कृत किया। अब सांब को भी क्रोध आ गया। उसने क्रोध में ही कहा, ‘तुम चाहे मेरा वरण करो या न करो, पर मैंने तो तुम्हारा हृदय से वरण कर लिया है। अब तुम्हें छोड़ूँगा नहीं।’ इतना कहकर उसने लक्ष्मणा को अपने कंधे पर लादा और उसके कक्ष से निकलकर राजभवन से ले भागा। वह ‘बचाओ-बचाओ’ चिल्लाती रही।”

‘बड़ा दुस्साहस किया सांब ने।’ मैंने मन-ही-मन सोचा।

छंदक सुनाता रहा—“राजमहल के बाहर रथ में जब वह लक्ष्मणा को डाल रहा था तब हस्तिनापुर के सैनिकों ने उसे घेर लिया। वह बंदी बना लिया गया और दुर्योधन की आज्ञा से उसे कारागार में डाल दिया गया।

“दुर्योधन का सोचना था कि यह तो स्वयंवर के पहले ही मेरे सम्मान को धूल में मिला देता। मेरी नाक काट लेता। मैं किसीको मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रह जाता।”

“दुर्योधन का यह भी सोचना ठीक ही था। उसमें सारी गलती तो सांब की है।” मेरे मुँह से निकल पड़ा—“पर उसे कारागार में नहीं डालना चाहिए था। राजभवन में ही कड़े पहरों में रखकर सीधे मुझे सूचना देनी चाहिए थी। उसे सोचना चाहिए था कि उसने सांब को नहीं वरन् द्वारका की प्रतिष्ठा को बंदी बनाया है।”

“यह तो मैंने सुनी-सुनाई बात आपको बताई है। इसमें सत्य कितना है, इसे तो भगवान् ही जाने।” छंदक बोला, “सारी बातों का एक ही निष्कर्ष निकलता है कि इसमें सारी गलती या भूल उस व्यक्ति की है, जिसने सांब को स्वयंवर में भेजा है।”

“इसीलिए तो भैया चुपचाप चले गए हैं। न मुझसे कहा और न लोगों को मुझसे कहने दिया।” मैंने कहा, “देखना, वे सांब को अपने साथ ही लेकर आएँगे।”

सबकुछ सुन लेने के बाद वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। मेरा क्रोध भी ठंडा पड़ा। मेरी जिज्ञासा अब प्रतीक्षारत हुई।

“तो क्या द्वारका इस सारी कथा को जानती है?”

“अवश्य जानती होगी। जब मैं जानता हूँ, दूसरे भी जानते ही होंगे। और यदि न जानते होंगे तो आज-कल में जान ही जाएँगे।” उसने ऐसे ढंग से कहा कि मुझे हँसी आ गई।

भय और आतंक तो हमपर उतना नहीं था, पर ‘कुछ हो सकता है’ की भावना से द्वारका सावधान होने लगी। हमारे जीवन का शांत सिंधु ऊपर से शांत था, पर भीतर से काफी आंदोलित था। हम एक अनिश्चय की स्थिति में जी रहे थे। हर क्षण यही सोच रहे थे कि हस्तिनापुर से कोई समाचार आ रहा होगा। हमारी आँखें उत्तर-पश्चिम की ओर थीं और कान युद्ध की शंखध्वनि की प्रतीक्षा में।

इस मनःस्थिति में सात्यकि आ पहुँचा। हमें जब सूचना मिली तो हमने सोचा कि हस्तिनापुर से ही कोई समाचार लाया होगा। उसने नगर में आते ही मुझसे मिलने की आतुरता व्यक्त की। मैं उससे मिलने के लिए व्यग्र तो था ही। उसके मिलते ही मैंने पूछा, “हस्तिनापुर से कोई समाचार लाए हो क्या?”

“नहीं तो! मैं तो इधर बहुत दिनों से हस्तिनापुर गया ही नहीं।” मेरे इस प्रश्न पर वह बड़े आश्चर्य में पड़ा। बोला,

“अभी तो पांडवों का अज्ञातवास चल रहा होगा। क्यों, कोई नई बात हो गई क्या?”

“नहीं, यों ही मैंने पूछा।” मेरे बोलने में इतनी सहजता थी कि उसे मेरे संदर्भ और मेरी व्यग्रता का पता नहीं चला। मैं समझ गया कि इसे कुछ नहीं मालूम है। फिर मैं क्यों झूठ-मूठ अपने विरुद्ध प्रचार करूँ। इसलिए मैंने उससे ही पूछा, “अच्छा बताओ, अचानक आना कैसे हुआ?”

“एक बड़ी विचित्र स्थिति पैदा हो गई है।” उसने कहा और फिर एकदम चुप हो गया।

मैंने समझ लिया कि कोई अशुभ सूचना ही है, जिसे बताने में यह घबरा रहा है या संकोच कर रहा है।

“जिस समाचार को तुम इतनी दूर से यहाँ देने चले आए, वह अब तुम्हारे गले में क्यों अटक रहा है?” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“मेरे पास एक दिन क्षेममूर्ति आया था।” सात्यकि बोला।

“कौन क्षेममूर्ति? वह—शाल्व का सेनापति क्या?”

सात्यकि ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

“हाँ, तो क्या कह रहा था?”

“उसका कहना था कि आपने कोई अभिमंत्रित मुशल प्राप्त किया है। उससे आप यादवों का नाश करना चाहते हैं।”

“मैं और यादवों* का नाश चाहूँगा!” मुझे बड़ा विस्मय हुआ—“अरे भाई, मैं भी यादव ही हूँ। यदि यादवों के नाश के लिए अग्रसर होऊँगा तो स्वयं नष्ट हो जाऊँगा।”

“आप जैसा सोचते हैं, वे वैसा नहीं सोचते।”

“तब वे क्या सोचते हैं?”

“वे सोचते हैं कि जिसके पास वह मुशल रहेगा, उसका तो कुछ नहीं होगा; पर दूसरे यादवों का वह नाश कर देगा।” सात्यकि बोला, “उन सबका तो कहना है कि सबका नाश करके पूरे आर्यावर्त पर एकच्छत्र राज्य करने के लिए ही कृष्ण ने उसे प्राप्त किया है।”

इतना सुनते ही मुझे लगा कि दुर्वासा के शाप ने अपना काम शुरू कर दिया। यह समाचार लोगों के यहाँ कैसे पहुँचा? मुशल के प्रति यह धारणा कैसे बनी? इसका मुझे पता नहीं। सात्यकि भी इसका उत्तर नहीं दे पाया।

मैंने कहा, “तुम्हीं नहीं, मेरे इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे पाएगा; क्योंकि कोई इसे जानता ही नहीं होगा। अंधविश्वास की जड़ नहीं होती, वह आकाशबेलि की तरह केवल हवा में लहलहाती है।”

अब सात्यकि भी सोच में पड़ गया। उसने कहा, “पर जो हो, इसे यादव बड़ी गंभीरता से ले रहे हैं। कई स्थानों पर वृष्णियों और अंधकों में संघर्ष भी हो गए हैं।”

“देखा, एक शंका ने जन्म ले लिया। अब हमारे भाई भी हमारे शत्रु बन जाएँगे। यह शंका ही यादवों का नाश कर देगी। मुशल तो अपनी जगह धरा-का-धरा रह जाएगा।” मेरा चिंतन और आगे बढ़ा। मैंने कहा, “क्यों नहीं मैं वह मुशल अंधकों को ही दे दूँ? मेरे प्रति उठी उनकी शंका तो समाप्त हो जाएगी।”

“नहीं-नहीं, ऐसा कभी मत कीजिएगा।” सात्यकि एकदम भड़क उठा—“वह आपके पास है तो कम-से-कम हम लोग तो सुरक्षित हैं।”

मैंने अनुभव किया कि जिस मानसिक रोग से अंधक ग्रस्त हैं, उसीसे वृष्णि भी। शंका और आशंका के सागर से उठी अफवाहों की यह भाप कहीं विनाश का बादल न बन जाए! यादव आपस में कट मरें और मुशल अपनी जगह पड़ा-का-पड़ा न रह जाए! यह है महर्षि के शाप का प्रभाव। इसके बाद मैंने दुर्वासा के शाप वाली पूरी घटना

सात्यकि को सुनाई।

पूरी बात समझ लेने के बाद सात्यकि ने भी माथा ठोंका—“क्या सूझा था सांब को!”

“सांब तो दोषी है ही।” मैंने कहा, “पर नियति की जैसी मंशा होती है, हमारी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। इसके लिए कोई-न-कोई तो नियति का कारण बनेगा ही।”

“इसका तात्पर्य है कि आप विश्वास करने लगे हैं कि अब यादवों का विनाश निकट है।” सात्यकि अत्यंत चिंतित हो बोला।

“विश्वास करना हमारी बाध्यता है। नियति की मंशा जब स्पष्ट हो जाती है तब हम और क्या कर सकते हैं!” मैंने कहा, “फिर यादवों का उत्कर्ष इस समय अपने चरम बिंदु पर पहुँच चुका है। जो भभकेगा, उसका बुझना स्वाभाविक है। यही इस सृष्टि का इतिहास भी है और यही इसका नियम।”

सात्यकि चुप हो गया। संयोग कुछ ऐसा कि इसी समय गुप्तचर विभाग के अमात्य ने मिलने की अनुमति माँगी। जरूर कोई सूचना हस्तिनापुर से आई होगी, मैंने सोचा और अमात्य को उसी समय बुलवा लिया।

सात्यकि उठकर जाने लगा। उसने सोचा कि इस गोपनीय चर्चा में उसका रहना उचित नहीं। किंतु मैंने यह कहते हुए उसे रोक लिया कि मेरी कोई बात तुमसे छिपी तो नहीं है।

गुप्तचर अमात्य पहले तो सात्यकि को देखकर हिचका, फिर मेरे संकेत पर कौरवों से मिली सूचना बताई—“अभी-अभी पता चला है कि राजकुमार सांब और लक्ष्मणा का विवाह निश्चित हो गया है।”

“स्वयंवर का क्या हुआ?”

“इस संबंध में तो कोई सूचना नहीं है।”

“लगता है, भैया के आक्रोश के समक्ष दुर्योधन नतमस्तक हो गया।” मैंने अमात्य से कहा, “देखो, हस्तिनापुर से आधिकारिक सूचना आ भी रही होगी और नहीं भी आ सकती है। जैसे भैया ने इस संदर्भ को मुझसे इतना छिपाया है, शायद यह भी छिपा ले जाएँ।”

गुप्तचर अमात्य चला गया।

सात्यकि की जिज्ञासा ने जोर मारा—“सांब का विवाह! द्वारकाधीश के युवराज का विवाह, वह भी हस्तिनापुर के युवराज दुर्योधन की आत्मजा से—और ऐसा चुपचाप कि कोई जाने और कोई जाने भी न!”

तब मैंने सात्यकि को सारी बातें बताईं।

उसने माथा ठोंका—“यह सांब भी आपके परिवार में कहाँ से पैदा हो गया! रसाल के वृक्ष में विषफल जैसा!”

“क्या कहा जाए! यह सारी स्थिति भैया की ही उत्पन्न की हुई है और उन्होंने इसे सुलझाया भी।” मैंने कहा, “पर इससे एक दूसरी स्थिति और पैदा हो जाएगी, जिसे मैं नहीं चाहता।”

“वह क्या?”

“इससे दुर्योधन मेरा समधी हो जाएगा। संबंधों की शृंखला में एक नया संबंध और जुड़ जाएगा। जबकि मैं कौरवों से अपनी दूरी बनाए रखना चाहता हूँ; क्योंकि पांडवों से उनका युद्ध अवश्य संभावी है। उसे कोई टाल नहीं सकता। वे बेचारे पूर्णतया मुझपर ही निर्भर हैं। यह संबंध उनके प्रति मेरे झुकाव पर आघात करेगा।”

“ऐसी असमंजसता तो भैया के सामने भी आई होगी?” सात्यकि बोला।

“नहीं, भैया के सामने ऐसी कोई असमंजसता नहीं है।” मैंने कहा, “दुर्योधन उनका शिष्य भी है और मित्र भी। उनका संबंध इससे और प्रगाढ़ हो जाएगा—और यह भी हो सकता है कि इस विवाह को स्वीकारने के पीछे हस्तिनापुर की कूटनीति भी हो। वहाँ सोचा गया होगा कि इससे पांडवों का द्वारकावाला सहारा भी समाप्त हो

जाएगा।”

“वे सोचें चाहे न सोचें, पर आप तो सोच ही रहे हैं।” सात्यकि हँसते हुए बोला।

“मैं इसलिए सोचता हूँ कि शकुनि नाम का एक दुष्ट कौरवों के साथ है। वह कुछ भी सोच सकता है और करा सकता है।” मैंने कहा।

सात्यकि इस विषय में अधिक रुचि न ले सका। उसके चिंतन ने सांब संदर्भ को मार्ग में पड़ाव की तरह छोड़ दिया और फिर मुशल की आशंका से चिपक गया।

मैंने कहा कि यदि सभी यादव सरदार मिलकर कहें तो मैं उस मुशल को समुद्र में भी फेंकने को तैयार हूँ।

“पर इससे क्या होगा?” सात्यकि बोला, “इससे आपके हाथ से वह अभिमंत्रित अस्त्र भी चला जाएगा और जो पाएगा, वह सुरक्षित हो जाएगा।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “तुम सोचते हो कि वृष्णि सुरक्षित रहें और अंधक आदि वंशों का नाश हो जाए। यह संभव नहीं है। जब यादवों के घर आग लगेगी तब हमारा भी घर जलेगा।”

सात्यकि सोच में पड़ गया। उसने चिंता भरे स्वर में पूछा, “फिर आप दुर्वासा से नहीं मिले?”

“एक बार मिला था। उनके इस शाप की चर्चा की थी। मैंने यह भी कहा कि ‘अपराध किया था मेरे पुत्र ने और शापित सारा यदुवंश हो गया। जरा इसपर सोचें, महाराज।’ तब उन्होंने कहा, ‘तुम कहते तो ठीक हो; पर धनुष से छोड़ा गया बाण और मुख से निकली वाणी फिर वापस नहीं आती। हाँ, यादवों को कुछ और जीवन दिया जा सकता है।’ ”

“तो फिर अंतिम निर्णय क्या हुआ?” सात्यकि बोला।

“यही कि हम यादवों को पैंतीस से चालीस वर्षों के बीच आर्यावर्त से समाप्त हो जाना है।”



सात

काल का रथ आगे बढ़ता गया।

आर्यावर्त के राजनीतिक क्षितिज में काले मेघों का उठना आरंभ हो गया था। संशयग्रस्त यादवों ने अपने विनाश की भूमिका बना ली थी। दूसरी ओर हस्तिनापुर भी भीतर-ही-भीतर उबल रहा था। तीसरी ओर अज्ञातवास भोग रहे पांडवों के संबंध में नित्य नई अफवाहें उड़ती थीं। एक बार तो बड़ी जोर की हवा चली कि पांडव पहचान लिये गए। अब जुए की शर्त के अनुसार उन्हें पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भोगना पड़ेगा। तब तो उनका जीवन ही जंगलों की पगडंडियाँ छानते बीत जाएगा। यह सोच-सोचकर लोग घबरा जाते थे। पर अफवाहों का जीवन तो समुद्र की लहरों जैसा होता है। जरा सी हवा से उठी, फिर गिरी। फिर सिंधु कुछ समय के लिए शांत हो गया।

एक दिन तो घबराया हुआ इंद्रसेन मेरे पास आया। उसने इसी प्रकार की सूचना दी और बोला, “कल एक व्यक्ति मुझे खोजता हुआ आया और उसने बताया कि पांडव पहचान लिये गए हैं। वे फिर काम्यक वन में आ गए हैं। उन्होंने तुम्हें अपने साथियों के साथ बुलाया है।”

“तुमने उसका परिचय नहीं पूछा?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “आखिर क्या बात थी, जो उसने तुमपर इतनी कृपा की?”

“पूछा था। उसने बताया कि मैं सामान्य राही हूँ। हस्तिनापुर से शुक्तिमती (चेदि राज्य की राजधानी) जा रहा था। मार्ग में काम्यक वन में पांडव मिले थे। उन्होंने तुम तक सूचना पहुँचाने के लिए विनीत आग्रह किया था।”

“और वह पांडवों पर कृपा करने यहाँ तक चला आया!” मैंने हँसते हुए कहा, “फिर तुमने क्या कहा?”

“मैंने कहा कि अब हमें पांडवों से क्या लेना-देना! पहले वहाँ चाकरी करते थे, अब यहाँ चाकरी कर रहे हैं।”

“बहुत अच्छा! तुम्हारे इस उत्तर से मैं प्रसन्न हुआ।” मैंने कहा, “जब तुमने ऐसा कहा तो तुम्हें बिल्कुल नहीं घबराना चाहिए और जैसा कहा वैसा ही आचरण भी करना चाहिए। याद रखना, किसीके कहे पर कभी मत चले जाना। इस समय तो हस्तिनापुर के गुप्तचर विभाग में पूरी सक्रियता होगी। वे किसी भी तरह पांडवों का अज्ञातवास भंग कर देना चाहते हैं। ये अफवाहें भी उन्हीं की ओर से उड़ाई जा रही हैं। वे यह भी जानते हैं कि तुम पांडवों के रहस्य की एक कुंजी हो।”

अफवाहों की इन गरम हवाओं के बीच मुझे गुप्तचर विभाग ने एक सूचना और दी कि मत्स्यराज विराट का सेनापति कीचक मारा गया। पर किसने मारा, कब मारा, कैसे मारा, कुछ पता नहीं। फिर कीचक कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। उसने त्रिगर्त (वर्तमान पंजाब) को रौंद डाला था। तब से पूरे आर्यावर्त में उसकी शक्ति का दबदबा था और उसने कई युद्धों में विराट को विजय भी दिलाई थी। फिर वह उच्च कोटि का मल्ल था। मल्लयुद्ध में उससे बड़े-बड़े योद्धा हार मान चुके थे।

वह विराट का सेनापति भी था और उसका सगा साला भी। इससे मत्स्य देश के लोग उसे ही शासक समझते थे। ऐसा व्यक्ति मारा गया! वह भी किसी युद्ध में नहीं, रात्रि के गहन अंधकार में। मुझे यही बताया गया कि मारनेवाले ने उसे ऐसा मारा कि मांस का एक बड़ा पिंड बनाकर छोड़ दिया।

“बड़ी रहस्यमय है उसकी मृत्यु।” मैंने कहा, “पर कभी भी मृत्यु अकारण नहीं होती। हमें उसके कारणों का पता लगाना चाहिए।”

“मैंने इसके पहले ही गुप्तचरों का एक समूह मत्स्य देश भेज दिया है।” गुप्तचर अमात्य बोला।

मेरे मुख से निकला—“ऐसे विराट् मल्ल को आखिर मारनेवाला कौन हो सकता है?”

“यही तो सभी सोच रहे हैं।” उसने कहा, “पर जो सूचना आधी-अधूरी मिली है, वह भी बड़ी विचित्र और चमत्कारी है।”

“वह क्या है?”

अब उसने वह बात बताई, जिससे मेरा भ्रम और पुष्ट हुआ। उसने कहा, “महाराज विराट की पट्टमहिषी सुदेष्णा की एक सैरंध्री है, जो बहुत ही सुंदर है। उसी पर कीचक आसक्त था। उससे बार-बार उसने प्रणय निवेदन किया, अपनी राजरानी बनाने तक का प्रस्ताव रखा; पर वह राजी नहीं हुई और उसने बार-बार कहा कि मैं विवाहित हूँ। मेरे पाँच गंधर्व पति हैं। वे सदा मेरी रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं। फिर भी कीचक ने उसकी बात नहीं मानी। वह चेष्टा करता रहा। जब सफल नहीं हुआ तब उसने षड्यंत्र रचा।”

“क्या था वह षड्यंत्र?” मैंने पूछा।

“यह तो ज्ञात नहीं हो सका।” अमात्य ने कहा, “पर इतना अवश्य ज्ञात हुआ है कि इस षड्यंत्र में पट्टमहिषी भी शामिल थीं।”

“फिर तो सैरंध्री इस संघर्ष में पराजित हो गई होगी?”

“अरे नहीं, अत्रभवान्! यदि वह पराजित हो गई होती तब तो इस घटना पर किसीको आश्चर्य ही न होता।” अमात्य ने बड़े विस्मय भरे स्वर में कहा, “वह स्त्री भी अद्भुत है। इतना होते हुए भी वह षड्यंत्रकारियों के चंगुल से निकल भागी और सीधे राजदरबार में आई। कीचक भी उसे अपने भवन से दौड़ाता हुआ विराट की राजसभा तक आया। देखनेवाले स्तब्ध रह गए कि यह क्या हो रहा है।

“सभा में कीचक ने सैरंध्री के बाल खींचकर उसे जमीन पर गिरा दिया और लगा लातों-घूँसों से मारने। वह तो कहिए, लोगों ने बीच-बचाव किया, नहीं तो वह उसे मार ही डालता।”

“मार डालता!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मुझे तो नहीं लगता।”

“क्यों, महाराज?”

मुझे लगा, शायद इसका उत्तर देने में मैं खुल न जाऊँ। मैंने तुरंत बात बदली—“क्योंकि सैरंध्री को उस दिन मरना नहीं था। मृत्यु तब तक नहीं आती जब तक उसका समय नहीं आता। यह समय जीवन नहीं जानता, केवल मृत्यु ही जानती है। इसीलिए ‘काल’ मृत्यु का भी पर्याय है और समय का भी।” मेरी मुद्रा तुरंत बदली—“तुम्हारा तो कहना यह था कि तुम्हें कुछ विशेष नहीं मालूम; पर तुम तो कीचक की मृत्यु के बारे में बहुत कुछ जानते हो।”

“कहाँ जानता हूँ!” फिर उसने जिज्ञासा की—“वे गंधर्व क्या सचमुच गंधर्व हैं, या इसके पीछे कोई और रहस्य है? यदि उसके पति सचमुच गंधर्व हैं तो उस महिला को राजभवन में चाकरी क्यों करनी पड़ रही है? इन सारी घटनाओं को संयोजित करता हुआ कोई चित्र नहीं उभर रहा है।”

“हो सकता है, वे इसके लिए शापित हों।” मैंने कहा, “जीवन स्वयं में एक रहस्य है, अमात्य!” फिर मैंने नाटकीय अट्टहास किया और बोला, “अच्छा, अब तुम जा सकते हो। यदि इस संदर्भ में कुछ और पता चले तो बताना।”

वह चला तो गया, पर मेरे अट्टहास का रहस्य उसके मस्तिष्क से लिपटा रहा।

इसके बाद मैंने पांडवों के सारथि इंद्रसेन को बुलवाया। वह बड़े सहजभाव से उपस्थित हुआ। मेरे आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। उसकी मुद्रा से ऐसा नहीं लगा जैसे उसे कुछ मालूम हो। नितांत प्रभावहीन, प्रतिक्रियाविहीन।

“तुम्हें यह ज्ञात है या नहीं कि मत्स्यराज का सेनापति कीचक मारा गया?”

“हाँ, लोगों के मुख से सुना है।” बोला तो इंद्रसेन सहजभाव से ही था, पर उसकी सहजता कुछ कृत्रिम मालूम हो रही थी।

“तुम्हें यहाँ आए लगभग एक वर्ष तो पूरा हो रहा होगा?”

मेरा यह प्रश्न उसे बड़ा अप्रत्याशित लगा। वह थोड़ा घबराया। बोला, “तो क्या मेरी यह नियुक्ति केवल एक वर्ष के लिए हुई है?”

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “नहीं जी, मैं जानना चाहता था कि अभी पांडवों का अज्ञातवास पूरा होने में कितना समय है?”

“मेरे यहाँ आने को यदि आधार मानकर जोड़ें तो अभी एक मास से कुछ ऊपर ही है।” इंद्रसेन ने कहा।

मैं फिर चिंता में पड़ा। सोचने लगा कि निश्चित रूप से यहाँ आने के पूर्व यह समाचार हस्तिनापुर पहुँचा होगा और उसके गुप्तचरों ने विराटनगर को घेर लिया होगा। फिर मैंने अपनी आशंका इंद्रसेन के सामने रखी।

उसने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। केवल इतना कहा, “इधर इस तरह की घटनाएँ विराटनगर में कई हो गई। इसी तरह से महामल्ल ‘जीमूत’ भी मारा गया। पर उसने तो मल्लयुद्ध के लिए अक्षवाट (अखाड़े) में खुली चुनौती दी थी। सुना है, जब उससे लड़ने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ तो महाराज के रसोइए ने उसे उठाकर ऐसा पटका कि उसके प्राण-पखेरू ही उड़ गए।”

“इसकी सूचना मुझे नहीं है। यह कब की घटना है?” मैंने कहा।

“मेरे यहाँ आने के लगभग चार महीने बाद की।” उसने बताया—“यह कोई रहस्यमय अनहोनी या चमत्कारी घटना तो है नहीं, जिसकी सूचना गुप्तचर विभाग आपको देता।” अब उसने थोड़ा विस्तार किया—“मत्स्यराज हर वर्ष ब्रह्म महोत्सव कराते हैं। उसीमें मल्लयुद्ध की स्पर्धा होती है। यह उसी समय की घटना है।”

“तुम उस रसोइए का नाम जानते हो?”

“पहलवानों का कहना है कि उसका नाम बल्लव था।”

“अरे भाई, बल्लव तो हर रसोई बनानेवाले को कहते हैं। आखिर उसका कोई नाम तो होगा?”

“वह तो नहीं मालूम।”

“या तुम्हें मालूम है और तुम बताना नहीं चाहते?”

वह कुछ नहीं बोला। मुसकराहट की एक रेखा उसकी आकृति पर अवश्य दौड़ गई। मैंने कहा, “तुम्हारी मुसकराहट कह रही है कि एक महीने के बाद जब अज्ञातवास समाप्त हो जाएगा तब तुम स्वयं बता दोगे।”

“जब सब आप जानते ही हैं तब मुझे बताने की आवश्यकता ही क्या!”

“पर यह सब हम लोगों के लिए हँसने की नहीं, बड़े संकट की घड़ी है।” मैंने सावधान किया—“यदि यही सूचना हस्तिनापुर पहुँच जाएगी तो वे लोग भी शीघ्र ही उस निष्कर्ष पर पहुँच जाएँगे, जिस निष्कर्ष पर मैं पहुँचा हूँ।”

उसके मौन की गंभीरता ने मेरी बात की पुष्टि की।

मैं बोलता रहा—“क्योंकि सैरंध्री की अप्रतिम सुंदरता, उसपर कीचक का आसक्त होना, पाँच महाशक्तिशाली गंधर्वों को सैरंध्री का पति कहा जाना, रहस्यमय ढंग से कीचक का मारा जाना—और जैसा तुम बताते हो कि जीमूत का मल्लयुद्ध में विराट के रसोइए द्वारा मारा जाना—यह सबकुछ ऐसा है, जो हमें सहज ही द्रौपदी और पांडवों की याद दिलाते हैं। हमारा मन बड़े सहजभाव से उधर चला जाता है। हस्तिनापुर का भी ऐसा सोच लेना

असंभव नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वे विराट पर टूट पड़ेंगे, तब तो पांडव पहचान ही लिये जाएँगे।”

“यह सब तो पांडवों को भी सोचना चाहिए था।” वह बोला, “इतनी जल्दी क्या थी! अरे, कीचक को एक महीने बाद भी मारा जा सकता था।”

मैं फिर सोचने लगा और बोला, “पराजित काम का क्रोध बड़ा भयानक होता है, इंद्रसेन! भरी सभा में जब द्रौपदी आई होगी और उसका पीछा करते हुए कीचक ने घायल सर्प की तरह फनफनाते हुए उसपर आक्रमण किया होगा, तब उसने क्या किया होगा? उसने द्रौपदी को कैसे और कितना मारा होगा, इसकी कल्पना द्वारका से नहीं की जा सकती। द्रौपदी पर जो बीती होगी, वह बात तो अलग है; पर उसके पति इसे कैसे सह गए, यह आश्चर्य की बात है। उन्हें तो द्रौपदी का चीर-हरण याद आया होगा। फिर भी वे खून का घूँट पीकर रह गए। केवल इसलिए कि इस समय उनका अज्ञातवास चल रहा था।”

उसका मौन मेरा मुँह देखता रह गया। मैंने भगवान् से प्रार्थना की कि किसी प्रकार पांडवों का अज्ञातवास सकुशल कट जाए।

इसके बाद एक-एक दिन कटना कठिन हो गया। भीतर-ही-भीतर मैं उबलता रहा।

□

मैं तो पांडवों के अज्ञातवास को लेकर चिंतित था और द्वारका के सामान्य जन हस्तिनापुर में सांब को बंदी बना लेने को लेकर। उन्हें सांब और लक्ष्मणा के विवाह का कुछ भी पता नहीं था। सारा समाचार राजभवन के भीतर ही घुटकर रह गया था।

अचानक हस्तिनापुर से एक अमात्य मंडल के आने की सूचना मिली थी। अब क्या मामला है? सबकुछ तो हो गया है।

पता चला कि वह सांब के विवाह का निमंत्रण लेकर आया है।

मैंने अमात्य मंडल के प्रधान से कहा, “विवाह तो हो चुका है। अब इस निमंत्रण और फिर आयोजन की क्या आवश्यकता?”

उसने बड़े विनीतभाव से हँसते हुए कहा, “आपको मिली सूचना में कुछ चूक रह गई है। आप ही समझिए, बिना आपकी उपस्थिति के सांब का विवाह संभव है क्या!” फिर उसने विस्तार से बताया—“अभी तो युवराज दुर्योधन ने महाराज बलराम के पास विधिवत् लक्ष्मणा और सांब के विवाह का प्रस्ताव रखा है, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया है। अब वैवाहिक आयोजन में लोग लगे हैं। निमंत्रण पत्र विभिन्न राज्यों में भेजे जा रहे हैं। इसी संदर्भ में हम लोग भी आपकी सेवा में आए हैं और आपसे विवाह में उपस्थित होने का विनम्र आग्रह करते हैं।”

मैंने पूरे सम्मान के साथ निमंत्रण पत्र स्वीकार किया और दुर्योधन को लिखा कि ‘संप्रति स्थिति ऐसी नहीं है कि द्वारका के सिंहासन को खाली छोड़ा जा सके। मैं अपने ज्येष्ठ आत्मज प्रद्युम्न को भेज रहा हूँ। फिर मेरे पूज्य भैया तो वहाँ हैं ही। उन्हींको आप सांब का सबकुछ समझिए। गुरु, पिता, अभिभावक आदि सबकुछ।’

मेरा पत्र ऐसा था, जिसे पढ़कर भैया प्रसन्न न हुए होंगे; पर यह अवश्य समझ गए होंगे कि मैं इस सबसे बहुत प्रसन्न नहीं हूँ। शायद इसीलिए जब वे लक्ष्मणा और सांब के साथ लौटे तब सारी औपचारिकता के निर्वाह की व्यवस्था स्वयं करने के बाद मेरे पास आए—वह भी अकेले नहीं, रेवती भाभी को लेकर।

उन्होंने सारी कथा सुनाई। मैं चुपचाप सुनता रहा। फिर उन्होंने कहा, “अब हमें अपने यहाँ की भी औपचारिकताएँ पूरी करनी चाहिए।”

“जैसे अब तक की औपचारिकताएँ पूरी हुई हैं, आगे भी हो जाएँगी।” मेरा यह उत्तर दबी जबान था, पर था बड़ा तीखा।

वे कुछ अवश्य बोलते; पर रेवती भाभी ने अपने संकेतों से उन्हें सँभाल लिया और बड़ी आत्मीयता से बोलीं, “देवरजी, अब जो हो गया, उसे भूलने में ही कल्याण है।”

“इसके सिवा और चारा ही क्या है?” मैं मुसकराते हुए बोला, “पर गहराई से छू गई बात को भुलाने में भी कुछ समय तो लगेगा ही।”

इतना सुनते ही भैया चुपचाप चले गए और उनके साथ भाभी भी।

उस समय रुक्मिणी मेरे ही कक्ष में थी। वह मेरे इस व्यवहार से बड़ी दुःखी थी। उसने पूछा, “तो क्या अपने यहाँ होनेवाले पुत्र के विवाह की औपचारिकताओं में आप सम्मिलित नहीं होंगे?”

“क्या अब तक की औपचारिकताओं में मैं सम्मिलित था?” मैंने कहा, “तब अब इसका प्रश्न ही कहाँ है?”

“फिर हम लोगों के लिए क्या आज्ञा है?”

“ऐसी स्थिति तो तुम लोगों के सामने नहीं है।” मैंने कहा, “तुम लोग प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित हो और जांबवती को तो अवश्य लेती जाना।”

□

सारे कार्य विधिवत् संपन्न हुए; पर मैं किसीमें नहीं था—यहाँ तक कि देवाधिदेव महादेव के मंदिर में वर-वधू द्वारा किए जाने वाले पूजन के अवसर पर भी नहीं। पर मैंने कभी नाराजगी व्यक्त नहीं की। तटस्थभाव बनाए रखा। इसको लेकर किसीसे भी मैंने अपने संबंधों में खटास आने नहीं दी।

एक दिन भाभी और भैया मेरे कक्ष में पुनः पधारे। मैंने उनके चरण छुए। यथोचित स्वागत और अभिवादन किया। वे लोग भी बड़े प्रसन्न हुए।

भाभी तो एकदम मेरी बगल में आकर बैठ गई और मेरे कान में धीरे से बोलीं, “बड़े नाराज लगते हो!”

“आप पर तो हूँ ही।”

“मुझपर क्यों नाराज हो, भैया? मैंने क्या गलती की है?”

“आप भैया के साथ चुपचाप हस्तिनापुर चली गई और मुझे पूछा तक नहीं!” मैंने कृत्रिम नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा।

“मैं कहाँ गई थी!” उन्होंने भैया की ओर संकेत करते हुए कहा, “गए चुप-चुप ये थे। ये जानें और तुम जानो, इसमें मेरा क्या दोष! मैं तो इनके जाने के बाद तुमसे मिली भी थी। तुम भूल गए क्या?”

“यह तुमको नहीं, मुझे कह रहा है।” भैया ने कहा, “चुप-चुप तो मैं चला गया था।” अब वे सफाई देने लगे—“बात यह थी कि सांब को कारागार में डाल देने का समाचार सुनते ही मैं विचलित हो उठा। दुर्योधन का इतना साहस कि वह मेरे भ्रातृज को कारा का दंड दे! हजार उसने भूलें की हों, उसकी सूचना मुझे देनी चाहिए थी। मैं उसे दंड देता। ज्यों-ज्यों सोचता गया, आगबबूला होता गया। इसी धधकती मनःस्थिति में मैंने चुपचाप सेना की एक टुकड़ी ली और हस्तिनापुर की ओर चल पड़ा। रास्ते भर तो मेरा क्रोध भीतर-ही-भीतर उबलता रहा; पर जब हस्तिनापुर पहुँचा, वह एकदम फूट पड़ा।” भैया सुनाते-सुनाते ही इस समय पूरे आवेश में आ गए थे। वे बोलते जा रहे थे—“पहुँचते ही मैंने नगर प्रहरियों को ललकारा—‘कहाँ है तुम्हारा दुर्योधन? बुलाओ उसे। देखूँ, उसकी भुजाओं में कितना बल है! उसकी गदा में कितनी शक्ति है!’”

“मैं पागलों की तरह चिल्लाते हुए राजभवन की ओर बढ़ा। किसीकी हिम्मत नहीं, जो मुझे रोके। पूरे नगर में हंगामा हो गया। राजभवन भी थराने लगा। मैं जब प्रासाद के प्रांगण में पहुँचा तो महामात्य विदुरजी वहाँ मेरी अगवानी में खड़े थे। वे मेरे रथ तक आए। मेरे गले में मालाएँ डाली गईं। विदुरजी ने बड़े विनीतभाव से कहा, ‘आप शांत हों, युवराज ने अपनी भूल स्वीकार कर ली है। वे सांब को लेकर आपके चरण स्पर्श करने थोड़ी देर में

आ रहे हैं। तब तक आप अतिथिगृह में विश्राम करें।’ ”

भैया जब बोलने लगते थे तब मेरी हिम्मत उन्हें टोकने की नहीं होती थी। इस समय भी मैं चुपचाप उन्हें सुनता रहा।

वे बोलते गए—“तब मेरा क्रोध ठंडा पड़ा जब मैंने सांब के साथ दुर्योधन और शकुनि को अतिथिगृह की ओर आते देखा। मेरे मन ने कहा कि अब इसका मस्तिष्क रास्ते पर आ गया है। उसने आते ही मेरे पाँव छुए और बोला, ‘क्षमा कीजिएगा, मुझसे भूल हो गई है। सांब जैसे आपका पुत्र है वैसे मेरा भी। मैंने तो इसकी एक गलती के लिए केवल धमकाने के निमित्त कारागार में डाला था। आज-कल में तो यह स्वयं ही छूट जाता।’ शकुनि ने भी उसकी हाँ में हाँ मिलाई।

“ ‘फिर भी तुम्हें क्या अधिकार था इसे कारा में डालने का?’

“ ‘क्यों, मेरा कोई अधिकार नहीं!’ दुर्योधन झेंपते हुए बोला, ‘जैसे सांब पर आपका अधिकार है वैसे ही मेरा भी; क्योंकि मैं इसे अपने परिवार का ही बालक समझता हूँ। और जब इसके पिता इसकी भूल के कारण इसे सदा के लिए शापित कर सकते हैं तो क्या मैं इसकी भूल पर इसे दो दिनों के लिए कारा में भी नहीं डाल सकता?’

“ ‘मैं तो चुप ही था; पर मेरी ओर से शकुनि बोला, ‘भानजे, तुमने भूल की है तो भूल स्वीकार करो। उसे न्यायोचित ठहराने की चेष्टा करना और बड़ी भूल होगी।’

“ ‘आप सार्वजनिक रूप से भूल करें, पूरे आर्यावर्त के सामने द्वारका के मुख पर कालिख पोत दें और एक कक्ष में व्यक्तिगत रूप से उसके लिए क्षमा भी माँग लें, तो क्या द्वारका के मुख पर लगी कालिख मिट जाएगी?’ मैंने आवेश में ही कहा।

“ ‘उस कालिख को मिटाने के लिए सार्वजनिक रूप से भी तुम्हें कुछ करना पड़ेगा, भानजे! बलरामजी ठीक कहते हैं।’ अब शकुनि को उसे समझाना पड़ा।’ ”

भैया का कहना था—“इस अवसर पर शकुनि की भूमिका बहुत अच्छी थी। उसीने प्रस्ताव रखा कि इस भूल का सुधार तभी हो सकता है, भानजे, जब तुम सांब से लक्ष्मणा के विवाह का प्रस्ताव करो।’ ”

भैया के कथनानुसार—“दुर्योधन इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं था। तब शकुनि ने उसे एकांत में ले जाकर पता नहीं क्या-क्या समझाया। तब वह किसी तरह मान गया और निकटतम मुहूर्त में दोनों का विवाह कर देने का निश्चय किया गया। जल्दी-जल्दी में लोगों के यहाँ निमंत्रण भेजे गए। तुम्हारे यहाँ भी निमंत्रण आया होगा। जो लोग मौके पर पहुँच गए, उन्हींकी उपस्थिति में विवाह संपन्न हो गया। अंततः तुम भी वहाँ उपस्थित नहीं हो सके।’ ”

“जब आप वहाँ उपस्थित थे ही तब मैंने अपनी उपस्थिति की कोई आवश्यकता नहीं समझी।’ ” मैंने कहा और उन्होंने भी बात आगे नहीं बढ़ाई।

थोड़ी देर बाद भैया ने मुझे फिर छोड़ा। उन्होंने कहा, “मैं इस वैवाहिक संबंध को अच्छा ही समझता हूँ; क्योंकि इसके माध्यम से पूरे आर्यावर्त के समक्ष दुर्योधन ने अपना अपराध स्वीकार किया। दूसरे, हमारा और हस्तिनापुर का संबंध और गाढ़ा हुआ। हम दोनों एक नए रिश्ते में पुनः बँध गए।’ ”

“और यही मैं नहीं चाहता था।’ ” मैंने स्पष्ट कहा, “आखिर शकुनि यहाँ भी दाँव खेल गया।’ ”

रेवती भाभी की जिज्ञासा मुझे देखने लगी।

भैया भी पूछ ही बैठे—“इसमें दाँव क्या है?’ ”

“नए रिश्ते से जोड़कर राजनीतिक दृष्टि से द्वारका को अपनी मुट्ठी में कर लेने का दाँव।’ ” मैंने कहा, “जिससे

हम कोई भी निर्णय हस्तिनापुर के विरुद्ध न ले सकें।”

“तो इसमें बुराई क्या है?” भैया बोले, “यदि तुम इसे राजनीतिक संदर्भ में ही देख रहे हो, तो भी मुझे इसमें कोई कमी दिखाई नहीं देती। उस शक्ति की कल्पना करो, जो द्वारका और हस्तिनापुर के इस प्रगाढ़ गठबंधन से पैदा होगी।”

“फिर उनका क्या होगा, जिन्हें कौरवों के विरुद्ध खड़ा होना पड़ेगा?” मैंने पूछा।

“उनका कोई हमने ठेका लिया है!”

“पर मैंने तो लिया है।” मैं तुरंत बोला, “उन बेचारों का क्या होगा, जिनका एक सहारा द्वारका ही है!”

अब भैया सोच में पड़ गए।

मैं बोलता गया—“अब पांडवों का अज्ञातवास पूरा होने ही वाला है। आप क्या समझते हैं कि अज्ञातवास सकुशल पूरा होने पर भी कौरव खुशी-खुशी उनका राज्य लौटा देंगे? यदि किसी स्थिति में लौटाना भी चाहेंगे तो यही शकुनि उन्हें लौटाने नहीं देगा। ऐसी दशा में युद्ध होगा। और ऐसी स्थिति आई तो आप किसकी ओर होंगे—कौरवों की ओर या पांडवों की ओर?” मैंने भैया से सीधा प्रश्न किया।

“मैं किसीकी ओर नहीं होऊँगा; क्योंकि मुझे युद्ध से घृणा हो गई है।”

“तो क्या मुझे युद्ध से बड़ा प्रेम है!” मैंने हँसते हुए कहा, “कोई भी सामान्य व्यक्ति मूलतः युद्धक नहीं होता। उसकी मूल प्रवृत्ति शांतिप्रिय होती है। फिर भी, जब से मनुष्य पैदा हुआ है, युद्ध उसके पीछे लगा है। न चाहते हुए भी युद्ध मनुष्य पर थोपा जाता है। विचित्र बात है, थोपनेवाला भी मनुष्य है और जिसपर थोपा जाता है, वह भी मनुष्य है; क्योंकि लोभ और वासना हमारी जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं—और युद्ध इन्हीं जन्मजात प्रवृत्तियों का विकृत शिशु।” भैया चुप थे और मैं बोलता रहा—“हम भले ही युद्ध न चाहें, पर युद्ध तो होगा ही।”

“मैं युद्ध में भाग लेकर युद्धापराधी नहीं बनना चाहता।” भैया बोले।

“आपकी यह धारणा भी कुछ भ्रामक है। युद्धापराधी वह है, जो दूसरों का अधिकार छीनने के लिए तरह-तरह का षड्यंत्र बुनता है, युद्ध को आमंत्रित करता है; पर वह युद्धापराधी कभी नहीं है, जो उस षड्यंत्र को छिन्न-भिन्न करने के लिए अपनी तलवार उठाता है।”

“तुम चाहे जो कहो, कौरव और पांडवों का युद्ध हुआ तो मैं उसमें भाग नहीं लूँगा।” इतना कहकर भैया एक झटके से उठकर चले गए और रेवती भाभी मुसकराती हुई बैठी रह गई।

□

स्थितियाँ बड़ी तेजी से बदल रही थीं। हर दिन आर्यावर्त का परिदृश्य परिवर्तित होता जा रहा था। उस दिन मैंने संतोष की साँस ली जिस दिन इंद्रसेन ने मुझे बताया कि आज वह शुभ दिन है, जब पांडवों का अज्ञातवास समाप्त हो जाएगा।

मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। मैंने इंद्रसेन को जी भर पकवान खिलाया। मेरी प्रसन्नता का अतिरेक ऐसा था जैसे मुझे विश्वास ही न हो कि सचमुच वह घड़ी आ गई। अज्ञातवास समाप्त हो गया।

मैंने उससे पुनः पूछा, “तुमने कैसे गणना की?”

“मेरी गणना तो सीधे-सीधे है। जब उन्होंने छोड़ा था, उसी तिथि से मैंने जोड़ लिया।”

“तब तो अभी संदेह की गुंजाइश है।”

“कैसे?” इंद्रसेन ने पूछा।

तब मैंने गर्गाचार्य द्वारा बताई गई काल-गणना की तीन पद्धतियाँ बताईं।

“हे भगवान्! काल-गणना में भी मीन-मेघ!” इंद्रसेन बोला।

“कहीं-न-कहीं कौरव मीन-मेष निकालेंगे ही।” मैंने कहा, “तुम्हारे स्वामियों को अपनी सत्ता पाना इतना सहज नहीं है।”

मेरी बात सुनकर इंद्रसेन बड़ा चिंतित हुआ।

मैंने उसे समझाया—“घबराओ नहीं, जैसे इतने दिन निकल गए वैसे पाँच-सात दिन और निकल जाएँगे; क्योंकि तीनों प्रकार की गणना में अधिक-से-अधिक सात-आठ दिन का ही इधर-उधर होता है।”

फिर हम लोगों ने एक-एक दिन गिनने का सिलसिला आरंभ किया।

एक संध्या मैं प्रमोद वन में था। ग्रीष्म ऋतु का आरंभ ही था; पर गरमी अत्यधिक हो चली थी। इसलिए इधर हर संध्या मैं इसी वन में चला आता था। मुझे लगता था, यही संसार मेरा वास्तविक संसार है—आनंदमय संसार। दिन भर तो मैं कर्म संसार में रहता ही हूँ। सोचता हूँ, यदि मनुष्य का कर्म संसार ही आनंदमय हो जाए तो कितना अच्छा हो!

मैं ऐसी ही ऊटपटाँग बातें सोच रहा था कि मुझे सूचना मिली कि विराटनगर पर आक्रमण हो गया है। अब तो मेरे कान खड़े हुए। किसने आक्रमण किया, कहाँ से आक्रमण हुआ—यह सबकुछ पता नहीं। फिर ऐसा भी तो हो सकता है कि बिना पंख के अफवाह हवा में उड़ती चली आई हो!

अब मेरा वहाँ स्थिर रहना संभव नहीं था। मैं चुपचाप वहाँ से चल पड़ा।

मैंने मार्ग में छंदक से पूछा।

छंदक ने बताया—“मुझे भी बस इतनी ही सूचना है।” फिर उसने कहा, “हो सकता है, कौरवों ने ही आक्रमण कर दिया हो।”

“हो सकता है और नहीं भी हो सकता। जब तक हम पूरी बात नहीं जानते तब तक कुछ भी हो सकता है; पर कौरवों के आक्रमण की अधिक आशंका है।”

“फिर आप इतने घबराए हुए क्यों हैं?” छंदक बोला, “यदि कौरवों ने ही आक्रमण कर दिया हो तो क्या हुआ? अब तो हस्तिनापुर से आपका नया-नया रिश्ता हुआ है। उनका राज्य-विस्तार आपका राज्य-विस्तार होगा।”

“यह समय परिहास करने का नहीं है, छंदक!” मैंने उसे डाँटा—“यह घटना आर्यावर्त के जीवन-मरण से जुड़ी है और तुम इसे इतने हलके से ले रहे हो!”

फिर वह कुछ बोला नहीं, चुपचाप खिसक गया।

मैं रात भर इसी उधेड़बुन में रहा कि कौन है विराट पर आक्रमण करनेवाला? फिर मन में विचार आया कि यदि कौरवों का आक्रमण होता तो हमारा गुप्तचर विभाग अवश्य मुझे सूचित करता। उसे विराट पर विशेष दृष्टि रखने का आदेश भी मैंने दिया है।

फिर भी आधी रात तक मैं सो नहीं पाया। यही सोचता रहा कि कैसे सवेरा हो और कैसे गुप्तचर अमात्य को बुलाऊँ। इसी चिंतन में झपकी लग गई।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे सोकर उठने के पहले से ही गुप्तचर अमात्य मेरे जागने की प्रतीक्षा में अलिंद में टहल रहा था।

ज्यों ही मैं अपने कक्ष से बाहर आया त्यों ही उसकी प्रसन्नता भरी आवाज सुनाई पड़ी—“महाराज की जय हो! महाराज की जय हो! आपको बधाई है।”

“किस बात की बधाई?”

“...कि पांडवों ने मत्स्यराज के यहाँ ही अपना अज्ञातवास सकुशल बिता लिया।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“क्योंकि त्रिगर्तराज सुशर्मा के आक्रमण के समय पांडवों को खुलकर आना पड़ा।”

“तो कल से ही द्वारका में विराट पर हुए जिस आक्रमण की चर्चा थी, वह सुशर्मा के ही आक्रमण के संबंध में थी?”

“हाँ, महाराज!” गुप्तचर अमात्य ने कहा।

तब तक छंदक भी आ गया। उसने भी इसी प्रकार का समाचार दिया। अब मेरा तनाव ढीला पड़ा।

मैंने दोनों से लगभग एक ही प्रश्न किया—“इसका क्या विश्वास है कि पांडव अज्ञातवास के बाद ही पहचाने गए हैं?”

“मुख्य बात तो यह है कि वे किसीके द्वारा पहचाने नहीं गए वरन् इस बात की घोषणा महाराज विराट ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक राजसभा में की।”

मेरे मन ने कहा कि इंद्रसेन ने भी तो गणना करके बताया था कि अज्ञातवास की अवधि पूरी हो गई है और अब इस समाचार ने भी उसका समर्थन कर दिया। तब संदेह का अवसर कहाँ? फिर भी मेरे मन में एक नई शंका ने जन्म लिया। मैंने कहा, “ऐसा तो नहीं कि सुशर्मा को विराट के यहाँ आक्रमण करने के लिए कौरवों ने ही भेजा हो? इधर कुछ दिनों से वहाँ पांडवों के होने का संदेह हर किसीको हो गया था। क्यों न कौरवों ने सोचा हो कि इस आक्रमण से वास्तविकता खुल ही जाएगी!”

“नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है।” गुप्तचर अमात्य ने बड़े विश्वास से कहा, “मुझे जहाँ तक सूचना है, अभी हस्तिनापुर को महाराज विराट की घोषणा का भी पता नहीं है। इधर एक-दो दिनों में उन्हें सूचना मिली हो तो कह नहीं सकता।”

“तब त्रिगर्तराज सुशर्मा ने आक्रमण क्यों किया?”

“बात यह हुई कि कीचक के मारे जाने के बाद सुशर्मा ने सोचा कि विराट अब शक्ति की दृष्टि से अनाथ हो गया है। जब किले का सिंहद्वार ही ध्वस्त हो गया, उसकी देखरेख करनेवाला कोई नहीं रहा, तब भीतर घुसकर संपदा आसानी से लूटी जा सकती है। बस उसने विराट की गायों को हँका ले जाने की योजना बनाई और दक्षिण-पूर्व से आक्रमण कर दिया गया।”

“फिर विराट को उस आक्रमण का सामना करना पड़ा होगा?”

“वस्तुतः उनका उद्देश्य आक्रमण करने का नहीं था।” गुप्तचर अमात्य ने बताया—“इसीलिए आरंभ में उन सैनिकों ने कोई उपद्रव नहीं किया। वे केवल गायें हँकाकर ले चले।”

“कितनी रही होंगी वे गायें?”

“प्रधान गोप के अनुसार लगभग एक लाख थीं। विराट की गो-संपदा का संभवतः आधे से अधिक।” गुप्तचर अमात्य बताता गया—“तभी तो राज्य का प्रधान गोप भागा हुआ महाराज विराट के पास आया और उसने सारी स्थिति बताई। महाराज व्यग्र हो गए। पर सुशर्मा की विशाल सैन्य शक्ति का वर्णन सुनकर घबराए भी और सोचने लगे।

“‘महाराज, यह समय सोचने का नहीं है। यदि आपने सुशर्मा को शीघ्र ही नहीं रोका तो इतनी विशाल गो-संपदा आपके हाथ से निकल जाएगी।’ प्रधान गोप बोला। तब महाराज विराट ने अपने छोटे भाई शतानीक से कहा, ‘तुम सेना तैयार करो। मैं तो चलूँगा ही, पर मेरे चलने से काम नहीं चलेगा।’”

गुप्तचर अमात्य सुनाता रहा कि मैं बीच में ही बोल पड़ा—“इसका तात्पर्य है कि बड़ा कमजोर है विराट!”

“बात यह है कि जीवन भर तो कीचक के भरोसे रहा। अब अचानक उसपर विपत्ति आ पड़ी तो वह घबरा गया। अब उसने सोचा कि पांडवों का अज्ञातवास समाप्त हो गया है तो क्यों न हम उनको अपनी सुरक्षा के लिए ले लें। तब पांडवों ने ही सुशर्मा की वह गति बना दी।”

“तो क्या उसे मार डाला?”

“प्राण ही उसके नहीं लिये, बाकी सब करम हो गए।” गुप्तचर अमात्य बोला, “भीम की चलती तो वह उसे मार ही डालता। यह तो कहिए, युधिष्ठिर ने उसकी प्राणरक्षा की। उसे बंदी बनाकर दरबार में लाया गया और अनाक्रमण संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने पर ही उसे छोड़ा गया।”

मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह घटना तो ठीक हुई, पर अब इसपर क्या प्रतिक्रिया होती है? मैंने गुप्तचर अमात्य से कहा, “अभी भी विराट पर ध्यान रखने की आवश्यकता है—और विराट पर ही नहीं वरन् हस्तिनापुर पर भी। अब वहाँ की भी गतिविधियाँ तेज हो जाएँगी। आप जाने दें, यह कार्य मैं छंदक को सौंपूँगा।”

“छंदक बेचारा क्या कर लेगा?” पीछे चुपचाप खड़ा छंदक बोल पड़ा—“क्या अकेला चना भाड़ फोड़ सकेगा?”

“क्यों नहीं फोड़ सकेगा!” मैंने हँसते हुए कहा, “छंदक, तुममें नारद की तरह हर जगह उपस्थित होने की कला है। तुमने यह कला कहाँ से सीखी?”

“सारी कला तो आपमें समाहित है। मैं तो उसकी छाया मात्र हूँ।” छंदक भी हँसने लगा और मैं भी।

फिर मैंने गंभीरतापूर्वक उससे हस्तिनापुर के संदर्भ में बात करने की इच्छा व्यक्त की। उसने कहा कि यदि बात ही करनी है तो वह फिर कभी भी हो सकती है। स्पष्ट था कि वह गुप्तचर अमात्य की उपस्थिति में बात करना नहीं चाहता था। अमात्य ने भी इसे समझा और चला गया।

उस समय बात भी टल गई। छंदक के हस्तिनापुर जाने के मुहूर्त की खोज में ही दो-चार दिन और बीत गए। इस बीच भैया से भी मैंने हस्तिनापुर के बारे में बातें कीं। मत्स्यराज पर त्रिगर्त नरेश के आक्रमण की चर्चा की और संभावना व्यक्त करते हुए मैंने कहा, “मुझे तो ऐसा लगता है कि हो न हो, पांडव महाराज विराट की ही सेवा में हैं।” यह बात मैंने ऐसे भोलेपन से कही जैसे अभी-अभी ही मैं इस निष्कर्ष पर आया हूँ।

भैया छूटते ही बोले, “कीचक वध के बाद ही यह बात मेरे मन में आई थी।” फिर वे कुछ सोचते हुए बोले, “चलो, अच्छा हुआ, पांडवों का अज्ञातवास सकुशल बीत गया।”

“इसे कौन कह सकता है कि पांडवों के अज्ञातवास की अवधि पूरी हुई या नहीं!” मैंने कहा।

“पांडव न इतने मूर्ख हैं और न इतने भोले—जैसा तुम समझते हो। यदि अज्ञातवास की अवधि पूरी न होती तो वे कभी सामने न आते।”

“फिर भी वे भूल तो करते ही हैं और कर भी सकते हैं।”

“बिल्कुल नहीं कर सकते।” भैया की वाणी में अत्यधिक दृढ़ता थी—“सहदेव की ज्योतिष और ग्रह-नक्षत्रों की गणना का लोहा पूरा आर्यावर्त मानता है। वह वर्ष-काल के निर्णय में कभी भूल कर सकता है!”

सचमुच इधर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था। यह तो सत्य है कि सहदेव के रहते काल-निर्णय में पांडवों से भूल नहीं हो सकती; पर मन में अब भी शंका थी।

वह शंका मैंने भैया के सामने रखी—“फिर वे खुले तौर पर सामने क्यों नहीं आते और अपने राज्य का दावा पेश क्यों नहीं करते?”

“इसे तो पांडव जानें। होगी इसमें कोई नीति।” भैया बड़े निरपेक्षभाव से बोले।

“आपके विचार से इस स्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए?” मैंने भैया को जरा और खोलने की नीयत से कहा।

“हम व्यर्थ क्यों माथा-पच्ची करने जाएँ! हमें इसके बीच में पड़ने से क्या लाभ!” भैया ने इस विषय में अपनी तटस्थता पुनः दुहराई—“और विशेष रूप से मैं इस विषय से दूर ही रहना चाहूँगा।”

भैया को छोड़कर मेरा पूरा परिवार पांडवों के पक्ष में था। भैया भी उनके विपक्ष में नहीं थे, केवल निरपेक्ष थे; पर पांडवों की आत्मीयता मुझे किसी भी क्षण छोड़ नहीं पाती थी। वे मेरे अभिन्न थे। मुझे उनकी बराबर चिंता लगी रहती थी।

इसी बीच छंदक फिर मिला। मैंने उसे देखते ही पूछा, “तुम हस्तिनापुर नहीं गए?”

“मैं तो नहीं गया, पर हस्तिनापुर स्वयं मेरे पास चला आया था।” छंदक बोला।

मैं उसकी बात समझने की चेष्टा करूँ, इसके पहले ही उसने बताया—“मेरे साथियों के हस्तिनापुर पहुँचने के पूर्व ही कौरवों की सेना विराटनगर की ओर चल पड़ी थी—और वह भी अपनी पूरी शक्ति के साथ ही। यदि उस सेना के कौरव महारथियों के नाम आप सुनेंगे तो दाँतों तले अँगुली दबाएँगे।”

फिर वह हस्तिनापुर के उन वीरों के नाम स्वयं गिनाने लगा—“पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल।...”

वह बताता जा रहा था कि मैं बोल पड़ा—“अरे, बस-बस! अब बहुत हो गया।”

छंदक हँसने लगा।

मैंने परिहास की दृष्टि से कहा, “अरे, एक नाम तो तुम बताना ही भूल गए।”

“वह क्या है?” उसने पूछा।

“महारथी दुर्योधन।” इतना कहकर मैं भी हँसा और वह भी।

मेरी हँसी चिंता की अग्नि में हिमखंड जैसी शीघ्र ही गल गई और मैं फिर सोच में पड़ गया कि इतने महारथियों का सामूहिक आक्रमण पांडव कैसे सँभाल पाए होंगे?

“पर वे लोग विराट पर आक्रमण करने की नीयत से नहीं गए हैं।” मुझे चिंतित देखकर छंदक ने कहा।

“तब क्या वे विराट की पूजा करने गए हैं?”

“न पूजा करने गए हैं और न आक्रमण करने।” अब छंदक ने वह सब बताया, जो उसे ज्ञात था। उसने मेरी आशंका ही दुहराई—“कीचक वध के बाद ही हस्तिनापुर के कान खड़े हो गए थे; पर बराबर पितामह ने यह कहकर टाला कि अभी हम लोगों के चलने का अवसर नहीं आया। पहले हमें गुप्तचरों से सही जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। पर गुप्तचर यह पता लगाने में असफल रहे कि वस्तुतः सैरंघ्री के गंधर्व पति कौन हैं!” इतना बताते हुए छंदक हँसा—“अब दुर्योधन गंधर्वों से अधिक सावधान है।” फिर उसने आगे कहना जारी रखा—“इसी उधेड़बुन में समय अपनी गति से आगे बढ़ता गया कि अचानक सुशर्मा के गो-हरण की उन्हें सूचना मिली और साथ ही उसकी दुर्दशा की भी। अब उन्हें विश्वास हो गया कि पांडवों के अतिरिक्त विराट का सहायक कोई दूसरा नहीं है। तब उन्होंने इस सैनिक प्रयाण की योजना बनाई।”

“पर किसलिए?” मैंने पूछा।

“योजना तो आक्रमण के लिए ही बनाई गई थी।” छंदक ने बताया—“पर पितामह ने उन्हें सलाह दी थी कि ‘आक्रमण करने से कोई लाभ नहीं। जो मधु पिलाने से मरता हो, उसे विष देने की आवश्यकता क्या! तुम लोग भी केवल गौओं के हरण की योजना बनाओ। पांडव होंगे तो स्वयं सामने आ जाएँगे।’

“और कहीं पांडव हुए और सामने आ गए तो? तब तो हमें लेने के देने पड़ जाएँगे। इसलिए हमें चाहिए कि हम

पूरी शक्ति के साथ जाएँ।' यह प्रस्ताव शकुनि का था।''

“इसका तात्पर्य है कि शकुनि के चिंतन में पांडव एकदम छापे हैं।” मैंने कहा, “इसका परिणाम यह है कि कौरव और पांडवों का युद्ध अवश्य संभावी है।”

छंदक को इससे अधिक और कुछ नहीं मालूम था; पर बातें लगभग स्पष्ट हो चली थीं। अब मेरी जिज्ञासा और बढ़ गई। मैंने छंदक से कहा, “अब हमें विराट की ओर और सजग दृष्टि रखनी चाहिए।”

“वह क्षेत्र मेरा नहीं है।” छंदक बोला, “उधर तो आपका विभाग क्रियाशील है ही।”

फिर मैं कुछ नहीं बोला। छंदक भी चला गया। उसके साथ ही दिन का प्रकाश भी डूबने लगा। संध्या ने अपनी शय्या बिछा ली।

□

एक दिन सत्यभामा ने मुझे सूचना दी कि आपकी नई बहू लक्ष्मणा यहाँ आकर बहुत प्रसन्न नहीं हैं। हो सकता है, उससे जांबवती ने कहा हो या सत्यभामा ने स्वयं अनुभव किया हो।

मैंने कहा, “वह क्यों प्रसन्न नहीं रहती? उसकी अप्रसन्नता का कारण जानने की चेष्टा करो और उसको दूर करने के लिए हर संभव उपाय करो।”

“बहुत से कारण तो ऐसे होते हैं, जिन्हें दूर ही नहीं किया जा सकता।” सत्यभामा बोली।

“क्यों?”

“क्योंकि वे नैसर्गिक हैं।” सत्यभामा ने कहा, “कारण तो वे ही दूर किए जा सकते हैं, जो दूर करने योग्य हों।”

“मैं तुम्हारे कथन का तात्पर्य नहीं समझा।” मैंने कहा।

अब उसने कुछ संकोच के साथ धीरे-धीरे स्वयं को उद्घाटित किया—“मुझे कुछ ऐसा लगता है कि वह यह सोचती रहती है कि मुझे अभीप्सित पति नहीं मिला। विवश होकर उसे शापित पति से विवाह करना पड़ा और इस विवाह के पीछे उसके पिताजी का जो उद्देश्य था, वह भी पूरा हुआ नहीं दीखता।”

“क्यों, क्या इस विवाह के पीछे उसके पिता का कोई उद्देश्य भी था?” मैंने पूछा।

“या तो इसे वह बता सकती है या ज्येष्ठजी बता सकते हैं।” सत्यभामा ने कहा।

“पर भैया से अब कुछ पूछना मैं उचित नहीं समझता।” मैंने कहा, “अच्छा हो, तुम्हीं लक्ष्मणा से बात करो।”

“आप क्या समझते हैं, हम लोगों ने बात नहीं की होगी! पर वह कुछ खुलती ही नहीं। हर प्रश्न के उत्तर में मौन रह जाती है। अच्छा हो, जरा आप ही उससे बात करके देखें।”

“पर मैंने कभी उससे बात ही नहीं की है। जब भी सामने पड़ी, औपचारिकता के निर्वाह से अधिक और कुछ नहीं हुआ।”

“इसीलिए तो मेरा आग्रह है कि आप ही उससे बातें करें।” सत्यभामा बोली, “मेरा पूरा विश्वास है कि जहाँ आपकी आत्मीयता का उसे स्पर्श मिला तहाँ उसकी वाणी के बंद द्वार खुल जाएँगे।”

मुझे बड़ा अटपटा लगा; पर यह एक ऐसा आग्रह था, जिसे मैं टाल नहीं सका।

“किंतु मेरा क्या बहू के कक्ष में जाना उचित होगा?” मैंने सत्यभामा से कहा, “तुम्हीं उसे मेरे यहाँ ले आओ।”

“मैं उसे लाने को तो ला सकती हूँ, पर इससे काम बनेगा नहीं। वह सजग हो जाएगी। यों तो वह शंकित रहती है, आपके समक्ष लाए जाने पर वह तरह-तरह की बातें सोचने लगेगी। फिर वह खुलने के स्थान पर और बंद होने की चेष्टा करेगी।”

“तब मैं और क्या कर सकता हूँ?” मैंने कुछ झुंझलाते हुए कहा।

“आप एक काम कर सकते हैं।” सत्यभामा बोली, “भोजन के बाद संध्या तक वह बहुधा जांबवती के ही कक्ष में

रहती है—और कभी-कभी तो उन्हींकी बगल में ढुलक जाती है।”

“इसका तात्पर्य यह है कि सांब से भी उसके संबंध ठीक नहीं हैं।”

“जैसा होना चाहिए वैसा तो नहीं ही लगता।”

“तब तो यह भी उसकी अप्रसन्नता का कारण हो सकता है।”

“हो सकता है।”

दूसरे दिन भोजन के बाद सत्यभामा स्वयं मुझे जांबवती के कक्ष तक छोड़ आई। ज्यों ही मैंने कक्ष में प्रवेश किया, सास-बहू अचकचाकर खड़ी हो गईं। मेरी अप्रत्याशित उपस्थिति देखकर दोनों को विस्मय हुआ।

जांबवती बोली भी—“आज सूर्य ने अपनी दिशा क्यों बदल दी?”

“सूर्य कभी अपनी दिशा नहीं बदलता।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “कभी-कभी बादलों के घेरे में आ जाता है, कभी-कभी ग्रहण लग जाता है तब लोग समझते हैं कि असमय अँधेरा हो गया है—और फिर जब वह उदित होता है तब लोगों को भ्रम होता है कि संध्या को सूर्य उदित हो रहा है।”

यह कोई तर्क नहीं था वरन् तर्काभास था। केवल बात करने के लिए बात शुरू की गई थी और बात उसी पर चल पड़ी।

जांबवती बोली, “उन बादलों को भी बनाता है सूर्य ही।”

“यही तो सूर्य का दुर्भाग्य है कि जिन बादलों का वह निर्माण करता है, अंत में वे ही उसे घेरते हैं।” मैंने कहा और उन लोगों को हँसाने के लिए हँसा भी।

जांबवती के चेहरे पर मुसकराहट भी आई; पर लक्ष्मणा एकदम गंभीर थी जैसे वह मेरी बातों से निरपेक्ष हो।

मैंने कहा भी—“आज बहू बड़ी उदास लग रही है!”

“आज ही नहीं वरन् रोज ही यह ऐसी रहती है।” जांबवती बोली।

“क्या बात है, बहू? तू इतनी उदास क्यों है?” मैंने पूछा।

“क्या कहूँ?” एक मुसकराहट बलात् उसने ओठों पर उगाई—“आपको तो लोग अंतर्दामी कहते हैं, तो आप ही समझ लीजिए।”

“तुम मेरे प्रति लोगों की धारणा को चुनौती दे रही हो?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह लोगों की धारणा को नहीं वरन् एक नवल वधू द्वारा अपने श्वसुर की मनःशक्ति को चुनौती है; पर कोई बात नहीं।”

मैंने ध्यानमग्न होने का नाटक किया। जांबवती मेरी मुद्रा देखकर मुसकरा रही थी; पर लक्ष्मणा अब भी गंभीर थी।

“तुम जिस घर में आना नहीं चाहती थीं उसी घर में तुम्हें आना पड़ा। वत्स, शायद तुम्हारी उदासी का यही कारण है।” मेरी ध्यानावस्थित मुद्रा योगियों जैसी थी और ध्वनि अत्यंत गंभीर—“पर न इसमें हमारा दोष है, न तुम्हारा और न तुम्हारे पितृगृह का। यह तो नियति द्वारा तुमपर लादी गई विवशता है।”

“नियति के इस क्रूर निर्णय को मेरे कपाल में लिखी भाग्यलिपि का आप इसे परिणाम मानते हैं? आप कहते हैं, कहें, आप मानते हैं, मानें; पर इन दोनों को न मैंने देखा है और न इसमें विश्वास करती हूँ। मुझे तो स्पष्ट लगता है कि मेरे पूज्य पिता ने अपनी विवशता मुझपर लाद दी है।”

“यह तुम्हारा भ्रम है, बेटी।”

मैंने अनुभव किया कि लक्ष्मणा को जैसा मैं समझता था, वह वैसी नहीं है। उसका वैदुष्य अद्भुत है। कहाँ सांब की प्रकृति, उसकी दुष्टता व नीचता और कहाँ लक्ष्मणा के चिंतन की यह ऊँचाई! कोई साम्य नहीं।

“मुझे तो लगता है कि मेरा विवाह आपकी आत्मीयता खरीदने के लिए आपके पुत्र के माध्यम से हुआ एक सौदा

है।” लक्ष्मणा के भीतर धधकती आग की लपट एकदम बाहर आई—“नारी के भाग्य में केवल परवशता ही तो लिखी है। जन्म से पिता की वशता और जन्म के बाद पति की वशता। कहीं भी तो वह मुक्त नहीं।”

“अच्छा किया तुमने, जो श्वसुर की वशता की बात नहीं कही। नहीं तो तुम्हारी सूची में मैं भी आ जाता।” मैंने हँसते हुए उसे हँसाने की चेष्टा से कहा।

फिर भी लक्ष्मणा हँसी नहीं। मैं फिर गंभीर होकर बोला, “तुम्हारे पिताजी हम सबके आत्मीय हैं। भैया तो उनके गुरु भी हैं। फिर हमारी आत्मीयता खरीदने का कोई प्रश्न ही नहीं। जो स्वयं प्राप्त हो, उसे खरीदना क्या!”

“मैं यह नहीं कहती कि मेरे पिता से आपकी आत्मीयता नहीं है।” लक्ष्मणा बोलती गई—“पर यह भी सत्य है कि जितनी आत्मीयता आपकी पांडवों के साथ है उतनी मेरे पितृकुल के साथ नहीं।”

मैं बड़े नाटकीय ढंग से हँसा। फिर भी जब मैंने उसकी मुद्रा में विशेष अंतर नहीं देखा तो बोला, “तुम ठीक ही कहती हो, बेटी। बात यह है कि पांडवों ने अपनी सारी निर्भरता मुझपर ही छोड़ दी है; जैसे मेरे सिवा इस संसार में उनका कोई न हो। उनके इस विश्वास के कारण ही मेरी आत्मीयता उनकी ओर ढुलकी हुई है। और तुम तो जानती हो, बेटी, जो मुझमें जितना ही विश्वास करता है, मैं उसे उतना ही आश्रय देता हूँ। ताली एक हाथ से नहीं बजती।”

वह कुछ बोली तो नहीं, पर लगा, उसका तनाव कुछ ढीला अवश्य पड़ा।

इसी बीच एक महिला प्रहरी अचानक कक्ष में घुस आई। उसने आते ही कहा, “प्रतीक्षाकक्ष में गुप्तचर अमात्य बैठे हैं।”

अंतःपुर से कोई मुझे बुलाता नहीं है, जब तक कि कोई बड़ी घटना न घट जाए। अवश्य ही कोई गंभीर बात होगी। मैं तुरंत ही उठा। मैंने लक्ष्मणा की पीठ थपथपाई और कहा, “हमें तुमपर गर्व है, लक्ष्मणा, और कम-से-कम तुम्हारी समझदारी पर। मेरी कल्पना से कहीं अधिक तुम समझदार और विदुषी हो। मुझपर भरोसा रखो। मैं जो करूँगा, अपनी समझ से ठीक ही करूँगा।”

मैं अविलंब राजभवन के कार्यालय में आया। गुप्तचर अमात्य ने मुझे देखते ही कहा, “कौरवों ने विराट पर आक्रमण कर दिया। उनकी भी रणनीति वही है, जो सुशर्मा की थी।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही कि वे लोग भी आए थे गो-हरण के बहाने ही, पर थी उनकी पूरी शक्ति। मुझे तो लगता है कि वे पांडवों से युद्ध करने ही आए थे। उन्हें अच्छी तरह विश्वास हो गया था कि पांडव विराटनगर में ही हैं।”

“जब हम लोगों को विश्वास था तब उन्हें क्यों न विश्वास हो!” मैंने कहा, “पर उनके विचार अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने के विषय में क्या हैं?”

“इस विषय को लेकर भी उनमें दो मत हैं।” गुप्तचर अमात्य ने बताया—“आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि का मत था कि यदि अवधि समाप्त न हो गई होती तो अर्जुन कभी सामने न आता; पर कर्ण, दुर्योधन और उसके भाइयों का कहना था कि अभी अज्ञातवास की अवधि समाप्त नहीं हुई है। तब पितामह को यह विषय सौंप दिया गया और कहा गया कि वे ही गणना कर बताएँ कि अभी अज्ञातवास की अवधि समाप्त हुई है या नहीं।”

“तो क्या पितामह भी इस युद्ध में आए हैं?” मैंने पूछा।

“अरे, कुछ मत पूछिए। शायद ही हस्तिनापुर का ऐसा कोई योद्धा रह गया हो, जो इस आक्रमण में सम्मिलित न हुआ हो।”

“तब हस्तिनापुर की सुरक्षा में कौन रह गया होगा?”

“इसे तो भगवान् ही जानें।”

“इसे छोड़ो। यह बताओ कि गणना कर क्या बताया पितामह ने?”

“पितामह ने यह बताया कि अज्ञातवास समाप्त हुए पाँच माह और बारह दिन अधिक हो गए हैं।”

“पितामह ने ऐसा कहा!” मेरी साँस में साँस आई। बड़े संतोष के साथ मैं बोला, “तब तो यह आधिकारिक निर्णय है। चलो, एक संदेह दूर हुआ।”

“पर संदेह दूर होने वाला कहाँ है?” इसी संदेह में गुप्तचर अमात्य ने बताया—“जब पितामह ने अपना निर्णय सुना दिया तब दुर्योधन बड़ा चिंतित हुआ। इतना उदास कि उसने चुपचाप विराट के क्षेत्र में प्रवेश करने के पहले ही लौटने की इच्छा व्यक्त की। तब मामा शकुनि उसे एकांत में ले गया और समझाया कि तुम इतने उदास क्यों हो? कोई कुछ कहा करे, उसका मानना न मानना तो तुमपर निर्भर करता है। लोग चिल्लाते रहें कि अवधि समाप्त हो गई है, पर तुम यही कहो कि अज्ञातवास पूर्ण होने के पहले ही पांडव पहचान लिये गए हैं।”

गुप्तचर अमात्य के कथनानुसार—“इसके बाद दुर्योधन में नया उत्साह जागा और वह युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। योजना ऐसी बनाने लगा जैसे वह अभी ही अर्जुन का विनाश कर देगा। तब द्रोण ने उसे हतोत्साहित करते हुए कहा, ‘तुम्हें याद है, दुर्योधन, चित्रसेन गंधर्व से युद्ध करते हुए तुम्हारी क्या स्थिति हुई थी और उसे परास्त कर इस अर्जुन ने तुम्हें कैसे छुड़ाया था? यह मत समझो कि वनवास और अज्ञातवास से उनकी शक्ति कम हुई है। इसी स्थिति में अर्जुन ने किरात के रूप में भगवान् शिव के दाँत खट्टे कर दिए थे। नियात कवच और कालकेय का लोहा देवता भी मानते हैं। अर्जुन ने उन्हें भी परास्त किया। उसके धनुष की टंकार सुन रहे हो? ऐसा लगता है कि इतने दिन शांत रहने के बाद उसमें दूनी शक्ति आ गई है। इस समय उससे युद्ध करना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं होगा।’ ”

गुप्तचर अमात्य कहता गया—“पर वह तो बुरी तरह अपने मामा से भरा गया था। उसकी मनःस्थिति के तप्त तवे पर आचार्य की वाणी छनछनाकर रह गई। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को ही उलटा-सीधा कहना आरंभ किया; जबकि दोनों आचार्य और अश्वत्थामा एक मत के थे। पर कर्ण और दुर्योधन ने किसीकी नहीं सुनी। वे इसी समय पांडवों को परास्त कर सदा के लिए काँटा निकाल देना चाहते थे। मैंने सुना है कि पितामह उन दोनों की जिद पर बहुत बिगड़े; पर अंत में दुर्योधन की ओर झुक गए। फिर भी उन्होंने इतना तो किया ही कि पूरी सेना का चौथाई भाग लेकर दुर्योधन एवं कर्ण को हस्तिनापुर भेज दिया और कहा, ‘यदि यहाँ रहोगे और मारे जाओगे तो हस्तिनापुर का क्या होगा?’ ”

मैंने कहा, “बूढ़े का झुकाव अंततः कौरवों की ओर ही हुआ और वह बड़ी होशियारी से दुर्योधन को बचा ले गया।”

“पर वह बचा कहाँ!” गुप्तचर अमात्य बोला, “महाराज विराट का पुत्र उत्तर रथ का संचालन कर रहा था।” एक क्षण रुकने के बाद उसने विस्तार से कहना शुरू कर दिया—“बात यह हुई कि पहले अर्जुन ही सारथि था और उसी रथ पर बैठकर उत्तर अपनी सेना का नेतृत्व कर रहा था। जब उसने कौरवों की विशाल सेना देखी तब वह रथ से उतरकर भाग चला। उसे अर्जुन ने पकड़कर बहुत समझाया। पर उसकी हिम्मत बिल्कुल छूट चुकी थी। वह किसी भी प्रकार तैयार नहीं हो रहा था। तब अर्जुन उसे श्मशान के निकट एक शमी वृक्ष के पास ले गया। वहीं उसने अपने गांडीव आदि अस्त्र छिपाए थे।

“वहाँ से उसने अपने अस्त्र उतारे और तुरंत रथ पर आया। रथ का संचालन उसने उत्तर को दे दिया और कहा कि जैसे मैं कहूँ वैसे तुम रथ का संचालन करो। तब उत्तर किसी तरह तैयार हुआ।

“अर्जुन ने बड़ी तेजी से रथ को युद्धस्थल की ओर ले चलने को कहा। रथ की घड़घड़ाहट और धनुष की टंकार

से लोगों ने समझ लिया कि यह अर्जुन है।”

मुझे इस वर्णन से कोई मतलब नहीं था। मेरी जिज्ञासा उछाल मार रही थी—“यह बताओ कि इसके बाद क्या हुआ?”

पर गुप्तचर अमात्य अपने ही ढंग से कहता चला जा रहा था—“जब अर्जुन युद्धक्षेत्र में आया तब उसे कहीं दुर्योधन दिखाई नहीं दिया। उसने बड़ी खोज की। लोगों से पूछा-जाँचा, तब पता चला कि वह चौथाई सेना लेकर हस्तिनापुर की ओर गया है।”

“वही गायों को लेकर गया होगा?” मैंने उसे बीच में टोका।

“नहीं, गायों को लेकर तो एक-चौथाई सेना दूसरी दिशा में गई थी। बड़ी होशियारी की थी पितामह ने। इस प्रकार आधी सेना को छोड़, बाकी वे हस्तिनापुर की ओर भेज चुके थे। पर अर्जुन भी अद्भुत है, उसने दुर्योधन को खोज निकाला और बाणों के प्रहार से उसे घायल कर दिया। उसकी रक्षा में कर्ण भी आया और उसे भी मुँह की खानी पड़ी। इसी संघर्ष में उसका भाई संग्रामजित् मारा गया।”

गुप्तचर अमात्य बताता गया—“तब सभी योद्धाओं ने अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया।”

“तब तो अर्जुन को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा?” मैंने कहा।

“कठिनाई की स्थिति तो थी ही, तभी तो उसे सम्मोहन बाण मारना पड़ा। सारी कौरव सेना मूर्च्छित हो गई। तब अर्जुन ने अपना शंख बजाया और उत्तर से कहा, ‘अब तुम इन योद्धाओं के वस्त्र उतार लो।’ उसने देखते-देखते दोनों आचार्यों के श्वेत, कर्ण के पीले और अश्वत्थामा एवं दुर्योधन के नीले वस्त्र उतार लिये।”

“अच्छा किया कि पितामह को छोड़ दिया!” मैंने हँसते हुए कहा।

यद्यपि यह कहानी गुप्तचरों द्वारा आधी-अधूरी लाई गई थी और उसे भी छानकर अमात्य ने सुनाई थी, तथापि इससे कई परिणाम ऐसे निकल रहे थे, जिनपर मेरा चिंतित होना स्वाभाविक था। मैं सोचने लगा कि जैसे आत्मा का वस्त्र यह शरीर है वैसे ही शरीर का वस्त्र वह आवरण है, जिससे हम उसे ढकते हैं; जो बहुत कुछ हमारी पहचान और प्रतिष्ठा से जुड़ा है। जब वस्त्र ही उतार लिया गया तब तो प्रतिष्ठा ही चली गई। इसलिए कौरवों को यह हार बड़ी गहराई तक चुभी होगी। कैसे सहा होगा इसे दुर्योधन और कर्ण ने? उनका प्रतिशोध तो इस समय धधक रहा होगा।

मुझे अत्यंत गंभीर देखकर गुप्तचर अमात्य भी गंभीर हो गया।

उसने कहा, “मैंने तो सोचा था कि आप इस समाचार से प्रसन्न होंगे; पर लगता है, आप पांडवों की इस विजय से खुश नहीं हैं।”

“विजय से प्रसन्नता तो होती है। मैं भी प्रसन्न ही हूँ।” मैंने कहा, “पर मैं कुछ और देख रहा हूँ। एक की विजय और दूसरे की पराजय—यही तो परिणाम होता है युद्ध का। आज तक ऐसा कोई युद्ध नहीं हुआ, जिसमें दोनों की विजय हुई हो। और जानते हो, मित्र, यही परिणाम आगामी युद्ध की भूमिका भी बनता है।” मेरी आवाज पूर्णतः चिंता से बोझिल थी—“मुझे लगता है, हमारे पैरों के नीचे ज्वालामुखी है, जो किसी भी समय फट सकता है।”

□

आठ

पर्वत से गिरते शिलाखंड की तरह घटनाओं का वेग निरंतर बढ़ता ही रहा।

विराटनगर में कौरवों की पराजय से मेरा परिवार बड़ा प्रसन्न था। यहाँ तक कि मेरे नानाजी—जो घर में रहकर भी एक संन्यासी का जीवन बिता रहे थे, संसार की किसी गतिविधि से अप्रभावित और जीवन से निरपेक्ष थे—वे भी प्रसन्न ही दिखे। उनके मुख से केवल इतना ही निकला कि स्वर्ण अग्नि में तपकर और भी सुंदर हो गया है।

भैया तो सारी कथा सुनकर हँसने लगे। बोले, “वस्त्रविहीन होकर ये महान् योद्धा कैसे गए होंगे हस्तिनापुर? ऐसी नग्नता क्या कहेगी प्रजा से?” फिर कुछ सोचते हुए बोले, “चलो, एक दृष्टि से तो बड़ा अच्छा हुआ। अब पांडवों से लड़ने का ये सब नाम नहीं लेंगे।”

“शकुनि मामा के रहते क्या संभव है?” मैंने कहा।

भैया एकदम मौन हो गए। वे शकुनि के विरुद्ध कुछ सुनना नहीं चाहते थे या मेरी बात को उन्होंने बड़ी गंभीरता से लिया, यह तो भगवान् ही जाने।

सबसे अधिक प्रसन्न सुभद्रा और उसका बेटा अभिमन्यु थे। अज्ञातवास शुरू होने के पहले ही वे मेरे यहाँ आ गए थे। जब से उन्होंने सारी घटना सुनी थी तब से वे अर्जुन से मिलने के लिए छटपटा रहे थे; पर माँ उन्हें जाने देने के लिए तैयार न थी। माँ का कहना था कि अभी जल्दी क्या है? उनकी (पांडवों की) उचित व्यवस्था हो जाने पर जाना। पिताजी भी इसी मत के थे।

गरमी आ गई थी। वसंत की मादकता को ज्येष्ठ के कृष्णपक्ष की धूप झुलसाने की पूरी कोशिश कर रही थी; पर सागर समीरण उसे ऐसा करने नहीं दे रहा था। द्वारका के तीन ओर की मरुभूमि की तप्त वायु से उसका युद्ध आरंभ हो गया था। दिन में समुद्र की ओर से और रात में मरुभूमि की ओर से बड़ी तेज हवाएँ चलती थीं। प्रमोद वन झकझोर उठता था। वहाँ निवास कर रहीं मेरी भाव पत्नियों का कहना था कि संध्या तक यह झंझावात कभी-कभी उन्हें अर्द्धनग्न करने की अभद्रता तक उतर आता है। मैंने स्वयं एक दिन इसका अनुभव किया था। हवा का झोंका इतना तेज आया कि टकराकर हम एक-दूसरे के आलिंगन में आ गए। हमारे वस्त्र भी अस्त-व्यस्त हो गए। यह प्रकृति क्रीड़ा हममें मादकता भर देती। उधर सागर लहराता रहता और इधर हम रस के सागर में डूबते रहते।

ऐसी ही एक मादक संध्या बिताकर मैं लौट रहा था कि मार्ग में छंदक के साथ इंद्रसेन मिला। मैंने रथ रोककर उसे भी बैठा लिया। यद्यपि मेरे साथ बैठने में इंद्रसेन सकुचा रहा था, फिर भी मैंने उसका हाथ खींच लिया।

उसीसे ज्ञात हुआ कि सुभद्रा और अभिमन्यु को बुलाने के लिए पांडवों ने एक दूत भेजा है।

“पहले उन्हें अपने निवास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।” मैंने कहा, “माँ उन्हें कभी जाने की आज्ञा नहीं देंगी।”

“पर मैंने सुना है कि उनके निवास की समुचित व्यवस्था हो गई है।” छंदक बोला।

“क्या हुई है?”

“इसे तो आप आए हुए दूत से ही पूछिएगा।”

“आखिर तुम्हें भी तो कुछ बताया होगा?” मैंने कहा, “तुम हर बात को पहेली क्यों बनाते हो?”

“आप ही ने तो कभी कहा था कि जीवन एक अबूझ पहेली है। यदि यह पहेली न होता तो इतना जिज्ञासापूर्ण और आनंददायक न होता।”

इस बकवास से मैं झुँझला उठा और उसकी ओर से बड़ी नाराजगी से मुँह फेर लिया। फिर मैं उससे कुछ बोला भी नहीं।

रथ से उतरते ही मैंने इंद्रसेन से कहा, “यद्यपि रात तो हो चुकी है; पर क्या तुम इस समय पांडवों के दूत से मिला सकते हो?”

“क्यों नहीं!” कहता हुआ वह अतिथिगृह की ओर लपका। राजभवन में मशालें जल चुकी थीं। रात्रि का प्रथम प्रहर आरंभ हो चुका था।

इंद्रसेन के साथ कई लोग आए। सभी प्रसन्न दिखे। मैंने भी उन्हें बधाई देते हुए कहा, “आपके स्वामियों के संकट के मेघ कट गए। उन्हें मेरी ओर से बधाई दे दीजिएगा। आप जिस प्रयोजन से आए हैं, उसकी सूचना मुझे मिल चुकी है; पर क्या इस समय सुभद्रा और अभिमन्यु को भेजना उचित होगा?”

सब मेरा मुँह देखते रह गए। कुछ बोले तो नहीं, पर उनकी प्रसन्न मुद्रा मानो मुझसे पूछ रही हो—‘आपको शंका क्यों है?’

तब मैंने उसका कारण बताते हुए कहा, “हमारा सोचना है कि जैसे अज्ञातवास के समय तुम्हारे स्वामियों ने अपनी वधू और बच्चों को यहाँ छोड़ दिया था वैसे कुछ दिन और उन्हें छोड़े रहते तो अच्छा होता। इस बीच अपने निवास आदि की उचित व्यवस्था कर लेते।”

“व्यवस्था हो गई है, तभी तो उन्होंने आग्रह भेजा है।” उनका प्रधान बोला।

“क्या हो गई है?”

फिर उसने वह सारी कथा सुनाई, जिसका अधिकांश मैं जानता था—“यह जानकर कि पांडव हमारी सेवा में हैं, महाराज विराट को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा माँगी और उनसे आदरपूर्वक कहा कि जब तक कोई व्यवस्था नहीं होती तब तक आप मेरे उपप्लव्य* नगर में ससम्मान रहिए।”

“मैंने तो उपप्लव्य देखा है। उसे मत्स्यराज की दूसरी राजधानी भी कह सकते हैं।” मैंने कहा और मन में सोचा कि इससे अच्छा स्थान पांडवों के लिए दूसरा नहीं हो सकता। यहाँ रहकर पांडव अपनी सैन्य शक्ति भी जुटा सकते हैं और फिर हस्तिनापुर से दूर भी है। यहाँ रहकर कौरवों से शक्ति के स्तर पर बात भी की जा सकती है।

मुझे मौन देखकर दूत प्रधान ने कहा, “अभी एक शुभ समाचार आपको और मिलने वाला है।”

“मिलने वाला है!” मैं हँसते हुए बोला, “आप नहीं देंगे क्या?”

“मुझे देना तो नहीं चाहिए।” उसने भी हँसते हुए ही उत्तर दिया—“पर हमारे स्वामियों की ओर से कोई मनाही भी नहीं है।” अब उसने बताया—“महाराज विराट की राजकुमारी उत्तरा से अभिमन्यु का विवाह प्रस्तावित है। दोनों ओर की स्वीकृति है; पर अंतिम स्वीकृति महाराज अर्जुन आपसे राय लेकर ही देंगे।”

मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैंने कहा, “तब तो सुभद्रा और अभिमन्यु का वहाँ जाना अत्यंत आवश्यक है। पर यह सब हुआ कैसे?”

* इस नगर के विषय में महाभारत के प्रमुख टीकाकार नीलकंठजी ने लिखा है—विराट समीपस्थ नागरान्तरम्। किंतु पार्जितर ने मत्स्य की राजधानी उपप्लव्य को माना है। मुझे नीलकंठजी उचित मालूम होते हैं और इसीसे कथा का तारतम्य भी बैठता है। उपप्लव्य आज के जयपुर के निकट ही रहा होगा। —लेखक

“यह तो आप जानते ही हैं कि उत्तरा को हमारे स्वामी (अर्जुन) बृहन्नला के रूप में नृत्य की शिक्षा देते थे। अज्ञातवास की समाप्ति पर जब वास्तविकता सामने आई तब महाराज विराट ने सहर्ष यह प्रस्ताव अर्जुन के सामने रखा कि ‘आपने पूरे वर्ष मेरी कन्या को नृत्य सिखलाया है। नृत्य की कला तो आपकी अद्भुत है। अपने को छिपाने की कला में भी आपकी कोई तुलना नहीं। हममें से कोई यह जान नहीं पाया कि आप पुरुष हैं।’

“इसी बीच महाराज अर्जुन ने उन्हें टोकते हुए कहा, ‘और उत्तरा भी नहीं जान पाई।’

“ ‘तभी तो मैं आपकी कला के साथ ही आपके चरित्र का भी प्रशंसक हूँ। मैंने ऐसा मनुष्य नहीं देखा, जो स्त्री के संपर्क में साल भर रहे और वह स्त्री भी न जान पाए कि यह पुरुष है।’

“ ‘यह मेरे ही चरित्र की परीक्षा नहीं थी, यह उत्तरा के भी चरित्र की परीक्षा थी। नृत्य की मुद्राएँ बताने के लिए मैं उसके अंगों को यदा-कदा छूता भी था; पर कभी मैंने उसकी आकृति पर वासना के भाव नहीं देखे। ताली एक हाथ से नहीं बजती। यदि आप मुझे प्रशंसा के योग्य समझते हैं तो उत्तरा भी मुझसे कम प्रशंसा के योग्य नहीं है।’

“मत्स्यराज ने प्रसन्न होकर कहा, ‘तब तो मेरा आपसे एक आग्रह है। विश्वास है कि आप मेरा आग्रह नहीं ठुकराएँगे।’ वे कहते गए—‘मेरी पुत्री अभी तक कुमारी है। वह सर्वथा विवाह के योग्य है। मैं उसके योग्य वर खोज ही रहा था। वह वर्ष भर आपके संपर्क में रही है। उसके संबंध में आपकी धारणा भी बड़ी ऊँची है। अब मेरा विनीत आग्रह है कि आप उससे विवाह कर लीजिए।’

“अर्जुन महाराज यह सुनते ही गंभीर हो गए।” दूत ने बताया—“पर भीमसेन की मुद्रा से ऐसा लगा कि वे बहुत प्रसन्न नहीं हैं। उन्होंने धर्मराज के कान में धीरे से कहा, ‘यह अर्जुन भी विचित्र है। जहाँ हम लोगों से अलग हुआ वहीं एक विवाह का विधान कर लेता है। इसको नियंत्रित करना चाहिए।’ ”

मुझे हँसी आ गई। मैंने पूछा, “तब धर्मराज ने क्या कहा?”

“वे भी हँस पड़े। कुछ बोले नहीं। फिर महाराज अर्जुन ने भी अपने चरित्र की एक और ऊँचाई का परिचय दिया। उन्होंने कहा, ‘उत्तरा सुंदर है। वर्ष भर नृत्य के निरंतर अभ्यास से उसका शरीर और भी सुगठित हो गया है। गायन का भी उसका अभ्यास अच्छा है। सर्वगुणसंपन्न है वह। पर मैंने उस दृष्टि से कभी उसे देखा ही नहीं, जिस दृष्टि से देखने के लिए आपने प्रस्ताव करने की कृपा की है। वह मेरी शिष्या है, प्रिय शिष्या है और मैं उसका गुरु हूँ। मैंने उसे शिष्या की दृष्टि से ही देखा है और मेरे प्रति भी उसका पूज्यभाव ही रहा है। और शिष्या से विवाह करना वर्जित है। ऐसी स्थिति में आपके आग्रह के प्रति मैं स्वयं को असमर्थ पाता हूँ।’

“इतना सुनते ही महाराज विराट एकदम उदास हो गए। उन्हें ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। तब हमारे स्वामी ने पुनः कहा, ‘यदि आप अन्यथा न लें तो मेरे बेटे अभिमन्यु से उत्तरा का विवाह किया जा सकता है; पर मेरा यह प्रस्ताव अभी अधूरा समझिए।’

“महाराज विराट बड़े प्रसन्न हुए। बोले, ‘फिर यह प्रस्ताव अधूरा क्यों?’

“ ‘क्योंकि हमें इस संदर्भ में द्वारकाधीश से अनुमति लेनी होगी। वे हमारे मित्र भी हैं, भाई भी हैं और हमारे बेटे के मामा भी।’

“ ‘तब इस प्रस्ताव को शीघ्र पूरा कीजिए।’ महाराज बोले, ‘शुभ कार्य के लिए विलंब क्यों?’ ”

इस सारी सूचना के बाद मैंने मुसकराते हुए पूछा, “अर्जुन द्वारा विवाह स्वयं के लिए अस्वीकार करने के बाद भीम की क्या प्रतिक्रिया रही?”

“वे संकोच से ऐसा दबे कि फिर उनकी दृष्टि ऊपर नहीं उठी।”

□

इस समाचार से द्वारका प्रसन्नता से झूम उठी। प्रत्येक भवन दीपमालिकाओं से जगमगा उठा। ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की यह रजनी हर जगह ज्योतिहार पहने दिखाई दी। दूसरे ही दिन सुभद्रा और अभिमन्यु को बिदाई दी गई। पूरा नगर उमड़ पड़ा। नानाजी ने तो शय्या पर लेटे-लेटे ही आशीर्वाद दिया। माताजी एवं पिताजी प्रासाद के बाहर बहुत दूर तक उन्हें छोड़ने आए। भैया की प्रसन्नता भाभी से अधिक थी। उनकी प्रसन्नता के मूल में थी वह निरपेक्षता, जो पांडव और कौरवों के संभावित युद्ध के अवसर पर वे बनाए रखना चाहते थे। उनके सोच के अनुसार, पांडवों

ने विधिवत् शर्त पूरी की है। अब सारा झगड़ा शांति और सौहार्द में परिणत हो जाना चाहिए।

हम लोग नगर के बाहर तक उन्हें छोड़ने आए। भीड़ के ज्वार-भाटे का दृश्य और उत्साह ऐसा था जैसे कोई युद्ध जीत लिया गया हो। लौटते समय सुभद्रा मेरे परिवार एवं परिजनों में से एक-एक से मिली और सबका व्यक्तिगत तौर से अभिवादन किया। जब वह मेरे पास आई तब लगी मेरे पैर पकड़कर रोने। लोगों को यह अतिशय भावुकता का परिणाम लगा। पर उसने रोते हुए मुझसे कहा, “मैं बहुत घबरा रही हूँ, भैया! मेरा ध्यान रखना।”

“अब घबराने की क्या बात है?” मैंने उसे समझाया—“अब तो बादल छँट गए हैं। तुम्हारा भाग्य-सूर्य उदित होने वाला है—और रह गई तुम्हारे ध्यान रखने की बात! जिसके ध्यान में मैं रहता हूँ, वह मेरे ध्यान में रहता ही है।”

फिर भी वह रोती ही रही। समझा-बुझाकर मैंने उसे रथ में बैठाया।

फिर मैंने पांडवों के भेजे दूत प्रधान को बुलाया और उसे एक किनारे ले जाकर कहा, “अपने स्वामियों से कहना कि इस विवाह के प्रति मेरी पूरी सहमति है और मेरा सुझाव है कि विवाह का निमंत्रण हस्तिनापुर अवश्य भेजा जाए। पांडवों में से किसीको व्यक्तिगत रूप से धृतराष्ट्र को आमंत्रित करने अवश्य जाना चाहिए। विवाह की तैयारी पूरी धूमधाम और राजकीय सम्मान के अनुरूप होनी चाहिए। इस उत्सव को पांडवों को अपनी शक्ति-प्रदर्शन का माध्यम बनाना चाहिए, जिससे कौरवों को अनुभव हो जाए कि तेरह साल वनों की धूल फाँकने के बाद भी उनमें किसी तरह की दुर्बलता नहीं आई है।”

मैंने इतना और कहा, “इससे दुर्योधन और उसकी मंडली को इसका ज्ञान हो जाएगा कि पांडवों ने वह कार्य बड़े ऊँचे स्तर पर किया, जिसे दुर्योधन ने बड़े नीचे गिरकर किया था।”

“आपका तात्पर्य?”

फिर मैंने उसे लक्ष्मणा और सांब के विवाह का सारा संदर्भ बताकर कहा, “कदाचित् इसकी जानकारी पांडवों को न हो। वे सुनेंगे तो आश्चर्य करेंगे कि दुर्योधन ने द्वारका से एक नया संबंध जोड़ने के लिए अपनी दुहिता एक शापित के साथ बाँध दी; जबकि अर्जुन ने इस विवाह के माध्यम से मत्स्यराज को सदा के लिए अपने पीछे खड़े होने के लिए बाध्य कर दिया है। इस विवाह का राजनीतिक परिणाम दूरगामी होगा; क्योंकि आर्यावर्त में विराट का भी अपना महत्त्व है। इसके लिए पांडवों को मेरी हार्दिक बधाई भी देना।”

मैंने उसे यह भी बताया—“इस समय मेरी थोड़ी सी सेना आप लोगों के साथ जा रही है; पर जब मैं विवाह में आऊँगा तो विशाल वाहिनी के साथ आऊँगा।”

जब मैं पांडवों के उस दूत से बातें कर रहा था तब मेरे पीछे कुछ दूरी पर भैया भी खड़े थे। मैंने उन्हें देखा नहीं और उन्होंने भी अपनी प्रकृति के अनुसार बीच में टोका नहीं। बातें तो सुनी ही होंगी; क्योंकि मैं धीरे-धीरे नहीं बोल रहा था।

बाद में भी उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वे रथ तक मेरे साथ ही आए। उन्होंने मुसकराते हुए इतना ही कहा, “तुम कभी राजनीति छोड़ नहीं सकते!”

“जैसे वंशी नहीं छूट सकती।” मैंने हँसते हुए कहा, “पर दोनों में एक मौलिक अंतर है। वंशी को मैंने पकड़ा है और राजनीति ने मुझे पकड़ा है। जिसे मैंने पकड़ा ही नहीं, उसे छोड़ने का प्रश्न कहाँ? यह सत्य है कि मैं आर्यावर्त की राजनीति की कीचड़ में धँसा हूँ और वंशी बजाता हूँ। एक को मैं नहीं छोड़ता और दूसरी मुझे नहीं छोड़ती। यही मेरा जीवन है—और शायद यही नियति की इच्छा भी।”

भैया चुपचाप अपने रथ पर चले गए।

मैंने सोचा, ‘यह सब न कहकर मुझे बस एक बात कहनी चाहिए थी कि जिसने हृदय से मुझे पकड़ा है, मैं उसे

कैसे छोड़ूँ?’

शायद इस घटना के तीसरे दिन ही उपप्लव्य से निमंत्रण मंजूषा आई। उसके साथ ही महाराज युधिष्ठिर का एक पत्र भी था—‘आपके आदेश का पूरा पालन हो रहा है। केवल हस्तिनापुर ही नहीं, अन्य निकट संबंधियों के यहाँ भी मैंने पांडवों को भेजा है। इससे आपके यहाँ कोई जाने वाला नहीं है। आप इसे अन्यथा नहीं लेंगे और पूरे परिवार के साथ पधारने की कृपा करेंगे।’

मैं उसी समय निमंत्रण लानेवाले अमात्य के साथ भैया के यहाँ पहुँचा। भैया-भाभी दोनों बड़े प्रसन्न हुए।

भैया ने पूछा, “विवाह का मुहूर्त क्या है?”

“मुहूर्त तो ज्येष्ठ कृष्णपक्ष एकादशी है।”

“अरे, यह तो पाँच दिन बाद ही पड़ेगी। इतनी शीघ्रता में वे व्यवस्था कितनी कर पाएँगे!”

मन में तो आया कि कह दूँ, जितनी आप सांब के विवाह में कर पाए थे; पर मैंने कहना उचित नहीं समझा। मैं केवल इतना ही बोला, “लगता है, शुभं शीघ्रम् की नीति अपनाई गई है।”

भैया सहज ही चलने को तैयार हो गए। अल्पकाल में जितनी तैयारी हो सकती थी, हम लोगों ने की। यों तो वह मेरा भानजा ही था। इधर एक साल के निवास के बीच उसने अपने नाना-नानी और परनाना का मन भी मोह लिया था। इसलिए उसके विवाह के लिए लोगों ने दिल खोलकर उपहार दिए। उसके परनानाजी (उग्रसेन) ने तो अपना संचित कोष ही खोल दिया था।

मैंने सात्यकि को कहलवाया कि तुम इस विवाह में सैन्य दल-बल के साथ पधारो। हो सके तो अंधक, वृष्णि और भोज राजाओं को भी लेते आओ।

मेरी सूचना पहुँचने के पहले ही उसे युधिष्ठिर का निमंत्रण मिल चुका था।

इधर मैंने भी द्वारका की सारी व्यवस्था प्रद्युम्न को सौंप दी और भैया के साथ चला। भैया ने सांब को भी अपने साथ ले लिया। पिताजी इसके पहले ही चले गए थे।

जब हम लोग एक विराट् चतुरंगिणी सेना के साथ चले तब मार्ग के लोगों को ऐसा लगा जैसे हम किसी युद्ध में जा रहे हैं। पर वास्तविकता के मालूम होते ही सब अभिमन्यु के विवाह की खुशी में नाचने लगते।

मार्ग में ही सात्यकि के दल से भेंट हो गई। जैसा मैंने चाहा था उसने वैसा ही किया था। उसने अंधक, वृष्णि और भोजवंशी सबल राजकुमारों को भी साथ ले लिया था। वे लोग भी अपनी सैन्य शक्ति के साथ थे; पर उनमें कोई सत्ताधिकारी नहीं था। सभी सत्ता के उत्तराधिकारी थे।

एक बात और थी। वृष्णियों को छोड़कर और किसीने मुझे नमस्कार तक नहीं किया। मैंने जब उनसे मिलने की चेष्टा की तब भी वे खुलकर नहीं बोले। कुछ तो मुझे देखते ही मुँह फेर लेते; जैसे उनसे मेरा कभी का परिचय नहीं।

इस विषय में भैया ने मुझसे पूछा भी—“ऐसी अन्यमनस्कता क्यों?”

तब मैंने सारा रहस्य खोला और दुर्वासा के शाप की बात कही।

“उस ‘मुशल’ ने यादवों को संशयग्रस्त कर दिया है। वृष्णियों के विरोध में आज सभी यादव एक हो गए हैं।”

“विचित्र बात है! जब संकट आता है तो सबको एकजुट हो जाना चाहिए। यादवों के नाश के दुर्वासा के उस शाप में क्या वृष्णि नहीं आते?”

“क्यों नहीं आते!” मैंने कहा, “मुशल से तो यादवों का नाश शायद न हो सके, पर यह संशय उनका विनाश अवश्य कर देगा; जिसका माध्यम अंततः मुशल बनेगा।” इस क्रम में मैंने बताया—“यादवों में एक विचित्र

विश्वास घर कर गया है। उनका सोचना है कि जिसके पास वह मुशल रहेगा, वह तो सुरक्षित है, औरों का विनाश अवश्य संभावी है।”

“तो इस संशय को दूर नहीं किया जा सकता?” भैया बोले।

“नहीं। मैंने इसपर बहुत सोचा है, बहुतों से राय ली है और अंत में इसी निष्कर्ष पर आया हूँ कि इसे दूर करने की हर चेष्टा अग्नि को घृत से बुझाने की चेष्टा ही सिद्ध होगी। इस विषय में मैं महर्षि से भी मिला था। अपने पुत्र के पाप के लिए क्षमा माँगी। मैंने उनसे अनुरोध भी किया। तब वे बोले, ‘शाप तो क्रोध की प्रत्यंचा से छूटा हुआ वह बाण है, जो वापस नहीं होता। हाँ, उससे आहत व्यक्ति की कुछ चिकित्सा की जा सकती है।’

“‘तो वही कीजिए, प्रभु!’ मैंने कहा।

“तब उन्होंने बड़ी कृपा कर यादवों का जीवन कुछ बढ़ा दिया।”

भैया बड़ी गंभीरता से सुनते रहे। मैंने सोचा, वे सांब पर कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे; पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। उलटे उन्होंने सांब के रथ को बुलाकर अपने और मेरे रथ के बीच में कर दिया। ऐसा उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से किया था। अभी तक वह सबसे पीछे अलग-थलग चल रहा था।

हम लोग मुहूर्त के एक-दो दिन पहले ही पहुँच गए। लगभग आधी सेना दूसरे दिन पहुँची। एक तो उनका मार्ग दूसरा था और दूसरे हमारी गति तेज थी।

पहुँचते ही राजकीय सम्मान के साथ हमारा स्वागत किया गया। पाँचों पांडव उपस्थित थे। बड़ी भव्य व्यवस्था थी। दो प्रकार के शिविर लगाए गए थे—स्वर्णिम और रजतवर्णी। स्वर्णिम शासनाधीशों के लिए थे और रजतवर्णी महामात्यों एवं अमात्यों के लिए। सेना के लिए नगर के बाहर की ओर व्यवस्था थी।

मैंने भैया से कहा, “आप चलें, मैं आ रहा हूँ।”

मैंने देखा, सांब भी उन्हींके साथ चला गया।

मैंने अपने शिविर में छंदक को ठहराया। अपने सारथि दारुक को और दो-एक सेवक छोड़कर मैं सीधे उपप्लव्य के राजप्रासाद में आया। मेरा मुख्य उद्देश्य था इसकी जानकारी प्राप्त करना कि कौन-कौन आए हैं; क्योंकि मुझे आज की नहीं, पांडवों के आनेवाले कल की चिंता थी।

सात्यकि तो मेरे साथ ही आया था। उसके अतिरिक्त कृतवर्मा, अक्रूर चाचा तथा दशार्ण के अनेक लोग पधारे थे। पांडवों के निकट संबंधी तो लगभग सभी आए थे—और वह भी अपनी सैन्य शक्ति के साथ।

पांचाल से धृष्टद्युम्न और शिखंडी बहुत सारे उपहार लेकर बहुत बड़ी सेना के साथ थे। इनके अतिरिक्त अनेक नरेश थे। कई को तो मैं पहचानता भी नहीं था। उपप्लव्य के देखने से ऐसा लगता था जैसे किसी बहुत बड़े युद्ध की तैयारी हो। इतने अल्प समय की सूचना पर यह उपस्थिति सचमुच गौरव की बात थी।

समारोह की भव्यता और उपस्थिति ने पांडवों के यश को महिमामंडित कर दिया था। वे फूले नहीं समा रहे थे।

“जिन्हें आना चाहिए था, उनमें से कोई आया ही नहीं।” मैं बोला।

“आप किनके संबंध में कह रहे हैं?” भीम बोल पड़ा।

“मेरा तात्पर्य हस्तिनापुर से है।” मैंने कहा।

“न आएँ, न सही। उनके न आने से हमारा काम तो नहीं रुकेगा!” भीम की प्रसन्नता उद्धतता में बदल गई।

“काम तो कभी किसीके अभाव में नहीं रुकता; पर जानते हो, उन्हें विशेष रूप से अत्यधिक सम्मान के साथ बुलाने के लिए मैंने क्यों कहा था?” मेरे स्वर में तीखापन आया—“केवल इसलिए कि हमारे इस शक्ति-प्रदर्शन को देखकर उनका यह भ्रम दूर हो जाए कि इस बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के बाद भी

पांडव अकेले नहीं हैं।”

फिर भीम कुछ बोला नहीं। अन्य पांडव भी चुप ही रहे।

इसके बाद मैं एक परिचारिका को लेकर अंतःपुर की ओर चला। यहाँ द्रौपदी बड़ी सज-धजकर बैठी थी। यद्यपि सुभद्रा ने भी शृंगार किया था, पर द्रौपदी की कुछ बात ही और थी। मैंने भी द्रौपदी को बहुत दिनों बाद देखा था। प्रकृति के सान्निध्य में उसका सौंदर्य और भी निखर आया था। अब मुझे लगता है कि सचमुच यह वही द्रौपदी है, जिसे देखकर जयद्रथ पागल हो गया था। राजसी वेशभूषा में तो वह रति को भी लज्जित कर रही थी।

उसे देखते ही मेरे मुख से निकल पड़ा—“आज सचमुच तुम राजरानी लग रही हो।”

“क्या पहले राजरानी नहीं थी?” उसने हँसते हुए कहा, “मैं पहले भी राजरानी थी और आज भी हूँ—और बाद में भी रहूँगी।”

“पहले तो सुना है कि तुम नौकरानी (सैरंघ्री) थीं।” मैंने कहा।

इतना सुनकर वहाँ उपस्थित अन्य स्त्रियाँ मुँह छिपाकर हँसने लगीं।

“नौकरानी होकर भी मैं राजरानी थी और कीचक के मारे जाने के बाद सुदेष्णा ऐसी भयभीत हो गई थीं कि उनपर मेरा ही शासन चलता था।”

“पर तुम्हें आज तो ऐसा नहीं कहना चाहिए था। वह तुम्हारी समधिनि हो रही हैं।” मैंने कहा और वह मुसकराती हुई महिला मंडली में गजगामिनी-सी चली गई।

मैंने देखा, उपप्लव्य प्रासाद का अंतःपुर भी आज मधुर संगीत से आह्लादित है। अपराह्न में ही वैवाहिक कार्यक्रम आरंभ हो गया। सुदेष्णा भी अपने अंतःपुर की सखियों और परिचारिकाओं के साथ खूब सजी-सँवरी उत्तरा को लेकर द्रौपदी के पास आई। उत्तरा को भी मैंने उस समय पहली बार देखा था। बड़ी-बड़ी आँखों वाली वह गौरवर्णी मुझे बड़ी आकर्षक लगी। निरंतर नृत्य के अभ्यास ने उसके शरीर को अत्यंत सुगठित कर दिया था।

द्रौपदी की बगल में ही वह बैठाई गई। सुभद्रा भी वहीं खड़ी थी। दोनों ने उसे अभिमन्यु के लिए स्वीकार किया।

इसके बाद महाराज विराट के आगमन की सूचना थी। महाराज युधिष्ठिर ने भी अपने यहाँ पधारे राजाओं को उनकी अगवानी के लिए ससम्मान आगे किया और सबसे आगे मेरे पिताजी को रखा। उनके पीछे वे मुझे रखना चाहते थे; पर मेरी कूटनीति ने इसे स्वीकार करना नहीं चाहा। मैंने कहा कि इस स्थान के अधिकारी तो मेरे भैया ही हैं—और उनका हाथ पकड़कर मैंने आगे किया। उनके अहं को बड़ी संतुष्टि मिली। वे परम प्रसन्न दिखे।

मैं चाहता था कि यदि इस मौके पर कौरवों का प्रतिनिधित्व हो जाता, तब वे भी देख लेते कि दुर्योधन के गुरु और मित्र यहाँ पांडवों की अगुआई कर रहे हैं।

आज मैं उस संदर्भ को याद करता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं अपने भाई से भी राजनीति करने से नहीं चूकता; क्योंकि मैं स्वयं उस कीचड़ में आकंठ निमग्न हूँ और जिसे छूता हूँ, उसे कीचड़ लगा ही देता हूँ।

अब महाराज युधिष्ठिर ने मेरे स्थान की चिंता करते हुए कहा, “आखिर आप?”

“आप लोग अपने-अपने स्थान ग्रहण करें।” मैंने कहा, “आनेवालों को पहचाननेवाला भी तो कोई होना चाहिए। मुझे उन्हींके स्वागत के लिए छोड़ दीजिए।”

महाराज विराट के आने पर भव्य स्वागत किया गया। विवाह आरंभ हुआ। ब्राह्मणों के मंत्र-पाठ, अग्निहोत्र की सुगंध, ढोल, मृदंग व शंखनाद से वह उत्साहित एवं आनंदित वातावरण और भी सुरभित हो गया। मामा की सारी औपचारिकता भैया ने निबाही। मैं और छंदक राजा-महाराजाओं के स्वागत-सत्कार में ही लगे रहे।

मैंने देखा, सांब भैया की बगल में बैठा उस भीड़ में भी अकेला था। न कोई उससे बात कर रहा था और न

किसीसे वह।

□

विवाह बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। ब्राह्मणों को युधिष्ठिर ने जी खोलकर दान दिया। मेरे यहाँ से जो भी उपहार आया था, वह सब दे डाला। अंत में औरों के उपहार में भी हाथ लगाया। यह उपहार एक ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जा रहा था, जिसने तेरह वर्ष तक सत्ता से दूर रहकर वनवासी और सेवक का जीवन बिताया था। जिसने देखा, वही इस अतिशय उदारता से चकित था। यद्यपि परिवार के लोग भी इतनी दूर तक नहीं जाना चाहते थे, फिर भी कोई कुछ नहीं बोला।

रात से ही शिविरों में कौरव और पांडव संबंध पर गंभीर चर्चा हो रही थी।

छंदक ने बताया—“आज हस्तिनापुर की अनुपस्थिति लोगों को अधिक खटक रही थी। लगभग सभी ने अपनी प्रतिक्रिया कौरवों के विरुद्ध व्यक्त की।”

“कोई ऐसा भी था, जो मौन ही रह गया?” मैंने पूछा।

मेरी दृष्टि में विशेष रूप से भैया थे; पर ज्ञात हुआ कि उन्हें भी यह अच्छा नहीं लगा। उनका कहना था कि आपसी संबंधों को राजनीति से नहीं जोड़ना चाहिए।

मैंने मन-ही-मन सोचा कि कहीं कौरवों में भी ऐसी समझ होती तो आर्यावर्त की धरती भीतर-ही-भीतर सुलगने न लगती।

मुझे कुछ सोचता देखकर छंदक ही बोला, “मुझे तो नहीं लगता कि कौरव पांडवों को उनका राज्य खुशी-खुशी वापस कर देंगे।”

“यह तुम सोचते हो न!”

“यहाँ पधारे सभी राजे-महाराजे ऐसा ही सोचते हैं। भले ही वे यहाँ आने के पूर्व कुछ और सोचते रहे हों।” छंदक कहता गया—“और यदि युद्ध होना ही है, तब क्यों नहीं उसकी तैयारी आज से ही की जाए!”

मैं भी छंदक के मत का था; पर मैं नहीं चाहता था कि संसार हमपर युद्ध में अग्रसर होने का दोष मढ़े; हम युद्धापराधी समझे जाएँ। यह बात मैंने छंदक से भी कही।

“पर युद्धनीति कहती है कि सुरक्षा व्यवस्था करने से कहीं उत्तम है, अप्रत्याशित आक्रमण करना।”

“इस सत्य को स्वीकार करते हुए भी हमें आगे नहीं आना चाहिए।” मैंने अपनी योजना बताते हुए कहा, “आज राजाओं की बिदाई है। इसके पहले क्यों नहीं उनकी एक सभा बुलाई जाए और युद्ध की बात उन्हींके मुख से कहलवाई जाए? इसके लिए महाराज युधिष्ठिर को तैयार किया जाए।”

“पर सबसे बड़ा संकट यह है कि वे युद्ध नहीं चाहेंगे।” छंदक बोला।

“चाहता तो मैं भी नहीं हूँ।” मैं झुंझलाया—“पर यदि युद्ध थोपा गया तो हम क्या करेंगे?” अपनी योजना को ठोस रूप देते हुए मैंने कहा, “मैं पहले धर्मराज को राजी करूँगा कि वे उस सभा में केवल सुनें और एक शब्द न बोलें। यदि वे बोलने की आवश्यकता समझें तो मैं उनकी बगल में रहूँगा ही। मेरे कान में धीरे से कहें। मैं उनकी ओर से वह बात अपने ढंग से कह दूँगा।”

छंदक को मेरा सुझाव ठीक लगा। मैं प्रातः ही उपप्लव्य के राजप्रासाद में गया। जाते ही मैंने कहा, “मेरी इच्छा है, आज मैं आप लोगों के साथ ही जलपान करूँ।”

द्रौपदी ने व्यंग्य में कहा, “मैंने वातायन से ही देख लिया था कि आप आ रहे हैं। तभी मैंने आकाश की ओर देखा।”

“आश्चर्य है कि तुम मेरी ओर न देखकर आकाश की ओर देख रही थीं।”

“आपको देखना क्या है! आप तो मेरी दृष्टि में ही रहते हैं।” उसने मुसकराते हुए कहा, “मैं तो यह देख रही थी कि आज सूर्य किस दिशा में उदित हुआ है, जो आप बिना किसी पूर्व सूचना के सवेरे-सवेरे चले आ रहे हैं।”

उसकी मुद्रा और कहने के ढंग पर हम सभी हँस पड़े।

फिर उपाहार ग्रहण करते समय बातों-ही-बातों में मैंने अपनी योजना समझाई—“आज राजाओं की बिदाई के पहले हमें आभार व्यक्त करना चाहिए और उनके विचार भी सुनने चाहिए।”

“इसमें तो बड़ा समय लग सकता है।” युधिष्ठिर ने कहा, “क्योंकि आज की स्थिति में जो विचार व्यक्त करना चाहेंगे, हमें उन सबको सुनना पड़ेगा। किसीको रोकना तो सरासर अभद्रता होगी।”

“यह तो है ही।” मैंने युधिष्ठिर का समर्थन किया और प्रस्ताव रखा—“पहले आभार गोष्ठी हो जाए, फिर आमंत्रित लोग अपने विचार रखें।”

मेरी बात मान ली गई। अपराह्न आभार गोष्ठी का आयोजन रखा गया। उसी समय महामात्य को उपप्लव्य के प्रासाद प्रांगण में सभी राजाओं को सादर आमंत्रित करने का आदेश दिया गया।

मैंने युधिष्ठिर से कहा, “मेरा एक अनुरोध और है।”

“वह क्या?”

“यही कि जब महाराजगण अपने विचार व्यक्त करें तो आप उन्हें गंभीरता से सुनें, पर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न करें। यदि आवश्यक ही हो तो मेरे कान में धीरे से कहें। मैं अपने ढंग से लोगों से कह दूँगा।”

“आखिर मुझपर इतना बंधन क्यों?” युधिष्ठिर हँसते हुए बोले।

“बंधन नहीं, केवल यह अनुरोध है; क्योंकि ऐसा करना आपकी गरिमा के अनुकूल होगा। अब आप वनवासी या किसीके चाकर युधिष्ठिर नहीं हैं। आप राजसूय यज्ञ के कर्ता सम्राट् युधिष्ठिर हैं।”

धर्मराज ने मेरी बात मान ली।

मैं एक प्रहर दिन चढ़ते-चढ़ते वहाँ से चल पड़ा। अर्जुन मेरे शिविर तक मुझे छोड़ने आया। वह बड़ा प्रसन्न था कि मैंने सभा में न बोलने का भैया से वचन ले लिया है।

अपराह्न परंपरागत वेशभूषा में सभी राजे-महाराजे उपस्थित होने लगे। सभास्थल महाराज विराट की गरिमा के अनुकूल सजाया गया था। संपूर्ण प्रांगण में एक सुरभित भव्यता थी। ज्यों ही प्रतिहारी ने सभा आरंभ की घोषणा की, शंख-ध्वनि हुई और ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन आरंभ किया।

फिर इसके बाद माल्यार्पण का कार्यक्रम था। सबसे पहले महाराज युधिष्ठिर ने मेरे पिताजी को माला पहनाई। शायद वे ही इस सभा में सबसे वयोवृद्ध थे। फिर पांचालराज द्रुपद को और फिर महाराज विराट को। इसके बाद वे माला लेकर मेरी ओर बढ़े। मैंने तुरंत भैया की ओर संकेत किया। भैया को माला पहनाने के बाद वे मेरे गले में माला डालना चाहते थे। मैंने उठकर उनके हाथ से माला लेकर सम्मानपूर्वक उसे माथे से लगाया।

इस बीच अन्य पांडव बड़ी विनम्रता से अन्य लोगों को मालाएँ पहनाने लगे थे। पता नहीं क्यों, रह-रहकर मेरी दृष्टि सांब की ओर ही जा रही थी। मैंने देखा, युधिष्ठिर का पुत्र प्रतिविंध्य उसे माला पहना रहा है।

फिर अपने स्थान पर युधिष्ठिर खड़े हुए। उन्होंने आभार प्रदर्शित करते हुए एक संक्षिप्त भाषण दिया। वह मेरी स्मृति के अनुसार इस प्रकार था—

“सम्मान्य शासनाध्यक्षो! हम आपका सादर अभिवादन करते हैं। (इसके बाद उन्होंने चारों ओर घूमकर सबको करबद्ध प्रणाम किया।) हमारा सौभाग्य है कि हमारी अल्प सूचना पर आपने सदल-बल पधारने की कृपा की। हम तो वनवासी, महाराज विराट के चाकर, अकिंचन हैं। इस अकिंचन पर आपकी ऐसी कृपा ने मुझे फिर राजसूय

यज्ञवाले युधिष्ठिर की याद दिला दी है। हम धन्य हुए।

“जब वे सुख के दिन नहीं रहे तो यह तेरह वर्षों लंबी दुःख की रात भी नहीं रही। अब न रात है और न दिन, केवल है प्रभात का धुँधलका। सूर्य उगने वाला है। वह भी आपकी कृपा से ही उगेगा; पर हमारी जिज्ञासा मात्र यह है कि हमारा अस्त सूर्य ही आज उग रहा है या कोई दूसरा सूर्य। जो भी उगेगा, वह आपकी कृपा, सहयोग और आशीर्वाद से ही उगेगा। मैंने हमेशा प्रभु की कृपा और आपकी शुभाशंसा पर विश्वास किया। आज भी कर रहा हूँ और भविष्य में भी करूँगा। भगवान् सबका कल्याण करें और हमें सद्बुद्धि दें।”

भाषण समाप्त होते ही अद्भुत ध्वनि हुई। ‘साधु-साधु’ के स्वर से सभामंडप गूँज उठा।

मेरी बगल में बैठे छंदक ने धीरे से कहा, “आपका आधा काम तो धर्मराजजी ने ही पूरा कर दिया।”

इसके बाद उद्घोषक की आवाज सुनाई दी—“अब पांडव वर्ग आपका अभिवादन चाहेंगे। इसके लिए मैं सबसे पहले द्वारकाधीश से आग्रह करता हूँ कि वे मंच पर पधारें और अपनी ओर से तथा अपने पूज्य पिताजी की ओर से आशीर्वाद दें।”

पिता का नाम लेकर तो उद्घोषक ने मुझे पहले बुलाए जाने का औचित्य प्रदान किया, अन्यथा वहाँ बहुत से लोग थे, जो मुझसे वृद्ध थे।

मैंने अपने भाषण का आरंभ ही पिताजी के संदर्भ से किया—“पिताजी इस सारे प्रसंग से बड़े खुश हैं। उनका मानना है कि अभिमन्यु और उत्तरा का यह विवाह पांडवों की तपस्या की प्रथम फलश्रुति है। यह उनकी तेरह सालों की काली रात्रि के बाद इस बात का द्योतक है कि अब उनके वैभव का सूर्योदय होने वाला है। पिताजी ने वनवास और अज्ञातवास सफलतापूर्वक समाप्त करने के लिए पांडवों को बधाई दी है। वर-वधू के दीर्घ और मंगलमय जीवन की शुभ कामना की है और आशा व्यक्त की है कि भगवान् पांडवों को आधा राज्य देने के लिए लोगों को सद्बुद्धि देगा।”

“पर क्या ऐसा हो सकता है?” मेरे भाषण के बीच में यह आवाज किधर से आई, मुझे पता नहीं; पर इसने मेरे भाषण को अपने अभीष्ट मार्ग पर ला दिया।

मैं बोला, “यह संदेह आपके ही मन में नहीं है, हमारे मन में भी है; क्योंकि सम्मानपूर्वक आमंत्रित किए जाने पर भी हस्तिनापुर से किसीका न आना इस संदेह की पुष्टि करता है।

“हमारे पास संदेह का केवल यही आधार नहीं है। आरंभ से ही कौरवों की दृष्टि पांडवों का राज्य हड़पने की रही है।” इसी क्रम में मैंने अनेक घटनाएँ गिनाई—“पर धर्मनिष्ठ पांडवों ने सदा उनका भला चाहा।” इसी सिलसिले में मैंने काम्यक वन में गंधर्वों से युद्ध तक की चर्चा की और यह भी कहा, “भगवान् करे, यह सारी घटना अतीत की हो जाए। अब हम एक उज्ज्वल और निर्मल भविष्य की ओर बढ़ें।

“यह मेरी आकांक्षा है; पर मनुष्य की सारी आकांक्षाएँ पूरी कहाँ होती हैं! यदि होने लगे तो फिर कोई स्वर्ग की चाह क्यों करे?” मैंने फिर अपने भाषण का रुख बदला—“किंतु मैं अब भी बहुत निराश नहीं हूँ। इस विवाह में हस्तिनापुर की अनुपस्थिति से बहुत सोचना नहीं चाहिए। कभी-कभी परिस्थितियाँ भी वह करने को विवश करती हैं, जिन्हें हम करना नहीं चाहते। इसीलिए हममें से किसीको हस्तिनापुर जाकर वहाँ की वास्तविक स्थिति तथा कौरवों की मनःस्थिति का पता लगाना चाहिए और संभावनाएँ ढूँढ़नी चाहिए कि दोनों का और राष्ट्र का हित किसमें है।” इसके बाद मैं शुभ कामना और आभार व्यक्त करते हुए बैठ गया।

लोगों ने मेरे प्रस्ताव का समर्थन किया। लोगों ने यह भी अनुभव किया कि मैंने आशीर्वाद गोष्ठी को विचार गोष्ठी में बदल दिया। सभा की प्रसन्नता के ऊपर एक गंभीर आस्तरण चढ़ गया।

इसके बाद भैया बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने उन बातों का समर्थन किया, जो उनके विचार के अनुकूल थीं। उन्होंने कहा, “जैसा कन्हैया ने कहा, हमें अतीत को भूलकर भविष्य और वर्तमान की ओर ध्यान देना चाहिए। इस समय इस बात की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं होगा कि किसने किसके प्रति कितना अन्याय किया। यदि हम उनके विश्लेषणों में उलझें तो शायद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाएँ। दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर को यदि द्यूतक्रीड़ा के लिए आमंत्रित किया तो इसमें कौन सी बुराई थी? राजा-महाराजाओं का यह खेल है और महाराज युधिष्ठिर को प्रिय भी। युधिष्ठिरजी ने उस निमंत्रण को स्वीकार कर राजकीय परंपरा का निष्ठा और धर्म के साथ निर्वाह किया है। ऐसी स्थिति में यदि दुर्योधन ने अपनी ओर से शकुनि को खेलने के लिए कहा, तो मेरी दृष्टि में इसमें कोई अनैतिक बात नहीं थी। युधिष्ठिर महाराज भी अपनी ओर से किसीको खेलने का प्रस्ताव कर सकते थे; किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। युधिष्ठिर ने स्वयं भी शकुनि के खेलने का विरोध नहीं किया। बात स्पष्ट है कि एक ओर से यदि परंपरा का निर्वाह किया गया तो दूसरी ओर से धर्म और परंपरा दोनों का। इस दृष्टि से मेरे सोच के अनुसार महाराज युधिष्ठिर दुर्योधन से महान् हैं। आर्यावर्त में ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति होगा, जो उनकी ईमानदारी और धर्मनिष्ठता पर संदेह करे।”

भैया का यह कूटनीतिज्ञ भाषण उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। इस समय वे अपने सामान्य सोच से बहुत ऊपर दिखाई दिए। वे बोलते गए—“श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसपर हमें विचार करना चाहिए। उनका कहना धर्मसहित और पक्षपातरहित है। पांडव भी आधा राज्य ही माँगते हैं, जिसके वे वस्तुतः अधिकारी हैं। हम सबकी मंशा है कि यह उन्हें मिलना चाहिए। हमें पूरा विश्वास है कि कौरव ऐसा करेंगे। बिना उनका पक्ष सुने हमें उनकी नीयत पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। कन्हैया की तरह मेरा भी विचार यही है कि हमें एक धर्मनिष्ठ और बुद्धिमान दूत हस्तिनापुर भेजना चाहिए। उस दूत को उस जनसभा में अपना पक्ष रखना चाहिए, जिसमें पुरवासी और धृतराष्ट्रपुत्रों के अतिरिक्त पितामह, आचार्य और महामात्य विदुर भी हैं। फिर हमें किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए।”

भैया के भाषण का वैसा स्वागत नहीं हुआ जैसी वे अपेक्षा करते थे।

सभा के बीच से ही पत्थर की तरह एक आवाज फेंकी गई—“अभी भी हम कौरवों की मंशा जानने के लिए परेशान हैं!”

लोग यह पता लगा ही रहे थे कि यह आवाज किधर से आई कि सात्यकि एकदम तमतमाता हुआ उठ खड़ा हुआ। मंच पर जाकर भैया का उसने खुला विरोध किया—“अब भी यदि लोगों को यह पता नहीं चला कि कौरव क्या चाहते हैं तो मैं बताता हूँ—वे सीधे-सीधे पांडवों का राज्य हड़पना चाहते हैं। उन्हें वे भिखारी बना देना चाहते हैं। एक तरह से तो उन्होंने बना ही दिया था। वनवासी होकर भी यह पांडवों की तपस्या थी कि उन्होंने कौरवों के हर षड्यंत्र का सामना किया।” इस क्रम में उसने दुर्वासा आदि सभी कांडों की चर्चा की और बड़े गर्व से कहा, “फिर भी पांडवों ने अपनी सज्जनता नहीं छोड़ी और गंधर्वों से युद्ध कर दुर्योधन एवं कर्ण को बचाया। उस परिवार की नाक रखी। और कौरवों ने क्या किया, यह किसीसे छिपा नहीं है।”

सात्यकि इतने क्रोध में था कि वह अपने भाषण का तारतम्य भी नहीं बैठा पा रहा था। उसने फिर जुए की चर्चा की—“वह मात्र राजाओं के बीच एक जुए का खेल नहीं था। वह भयानक षड्यंत्र था। वह कपटयुद्ध था, जो शकुनि के पासों से खेला गया। इसे पूरा आर्यावर्त जानता है। इसकी सत्यता यह सभा भी स्वीकार करेगी।”

इतना सुनते ही बहुत से लोग खड़े हो गए और बोलने लगे—“यह सत्य है! यह सत्य है!”

मैंने भैया की ओर देखा, वे कुछ अपमान अनुभव कर रहे थे। वे अपनी दृष्टि मंच से हटाकर पदत्राण से धरती

पर कुछ रेखाएँ बनाते दिखाई दिए।

सात्यकि बोलता चला जा रहा था और लाक्षागृह आदि षड्यंत्रों की चर्चा कर रहा था। 'साधु-साधु' की आवाजों और करतलध्वनि से मिले श्रोताओं के समर्थन से उसका आवेश भी बढ़ता जा रहा था।

उसने आदि से अंत तक पांडवों के प्रति किए गए षड्यंत्र की चर्चा की। फिर बड़े विश्वास से बोला, “पांडव अपनी अग्निपरीक्षा में हर बार खरे उतरे हैं। इस बार भी उनकी तपस्या से निखार आया है। अब वे अपने पैतृक राज्य के पूरे अधिकारी हैं। उन्हें उनका राज्य मिलना चाहिए। यदि कौरवों ने कोई और चाल चली और पांडवों को उनका अधिकार नहीं मिला तो महायुद्ध होगा। रक्त की सरिता बहेगी—और उसमें कौरवों के तैरते नरमुंड दिखाई देंगे। हमें वह दुर्बल न समझें। चक्रपाणि श्रीकृष्ण हमारे साथ हैं। गांडीवधारी अर्जुन हमारे पास हैं। दुर्धर्ष भीम हमारे पास हैं। धनुर्धर नकुल, सहदेव, वीरवर विराट तथा द्रुपद और धृष्टद्युम्न हमारे साथ हैं। क्या कौरव इनका वेग सह सकेंगे?”

मैं नहीं चाहता था कि सात्यकि इस सीमा तक जाए। उसके हृदय की आवाज बड़े तीखे ढंग से निकल रही थी। उसमें कूटनीति नहीं थी। उसके व्यक्तित्व की सहजता का उन्माद था। उसने सार्वजनिक रूप से मेरा भी नाम ले लिया; जबकि अब भी मैं अपनी तटस्थता बनाए रखना चाहता था। फिर वह सीधे अगली पीढ़ी पर उतर आया। उसने अभिमन्यु, प्रद्युम्न और सांब का नाम लेते हुए कहा, “हमारे उभरते इन योद्धाओं का सामना करनेवाला कौरवों में है कोई?”

उसकी दृष्टि से पांडवों को इस समय दुर्बल समझनेवाला व्यक्ति या तो अज्ञानी है या भ्रमोन्माद से ग्रस्त है।

उसने अंत में यह भी कहा, “सारी परिस्थितियों को देखने के बाद मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। फिर भी यहाँ पर अनेक वयोवृद्ध और अनुभवी लोग बैठे हैं। उनकी सलाह का अनुसरण करना हमारा कर्तव्य है। वे जो भी आदेश देंगे, हमें शिरोधार्य होगा।”

इसके बाद पांचालराज द्रुपद बोलने के लिए खड़े हुए। उनके खड़े होते ही सभा की उत्तेजना का सिंधु एकदम थम गया। एक तो उनकी वृद्धता, दूसरे पांचाल जैसे राज्य का स्वत्वाधिकार इस गंभीरता में सहायक बना।

वे स्वभाव से मितभाषी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा, “बलदेवजी की बात मेरी बुद्धि में बहुत नहीं धँसी; क्योंकि लगभग यह बात निश्चित हो चुकी है कि दुर्योधन सरलता से पांडवों को राज्य नहीं लौटाएगा। यदि हस्तिनापुर यहाँ उपस्थित होता तो कुछ आशा बँधती। द्वारका से नया रिश्ता जोड़ने के बाद भी वहाँ से कोई नहीं आया। इसपर भी बलदेवजी को विचार करना चाहिए था। शायद उनकी सज्जनता इस ओर देख नहीं पाई।

“धृतराष्ट्र अंधे तो हैं ही, पुत्र-प्रेम ने उनके भीतर की आँखें भी फोड़ दी हैं। वे वही करेंगे, जो दुर्योधन चाहेगा—और दुर्योधन वही करेगा, जो शकुनि एवं कर्ण चाहेंगे। शकुनि षड्यंत्र में अग्रणी है और कर्ण अद्भुत योद्धा है। वह कौरवों से उपकृत है और पांडवों से घोर अपमानित। वह किसी प्रकार भी उन लोगों से न कभी अलग हो सकता है और न उनकी इच्छा के विरुद्ध सोच सकता है।

“रह गए पितामह, आचार्यगण और विदुरजी। पितामह यद्यपि युद्ध नहीं चाहते, फिर भी वे हमेशा कौरवों की ओर ढुलकते रहे हैं। आगे भी ढुलकेंगे। उनकी विवशता क्या है, यह तो वे ही जानें। और आचार्यगण? वे बेचारे तो चाकर हैं। आचार्यत्व जब चाकर हो जाता है तब उसका ज्ञान पंगु हो जाता है और निर्णय-अस्मिता खो जाती है। उन आचार्यों से मौखिक आशीर्वाद के सिवा और कोई आशा नहीं की जा सकती। हाँ, विदुरजी से हम कुछ उम्मीद रख सकते हैं। वे महान् नीतिज्ञ और धर्मनिष्ठ हैं; पर उनके सामने भी एक लक्ष्मण रेखा है—और वह है उनके महामात्य पद की।”

“क्या वे इस अन्याय के विरोध में अपना महामात्य पद नहीं छोड़ सकते?” यह भी श्रोताओं में से उठी आवाज थी।

“पर उनके पद छोड़ने से हमारा क्या लाभ होगा?” तुरंत महाराज द्रुपद ने श्रोताओं पर ही एक प्रश्न ठोंक दिया। सन्नाटा छा गया। उन्होंने फिर अपने बोलने का क्रम पकड़ लिया—“वरन् वे पद पर रहते हुए हमारा लाभ अधिक कर सकते हैं। पद और सत्ताविहीन महामात्य नख-दंतहीन वृद्ध सिंह हो जाता है।” फिर वे अपने भाषण की मुख्य धारा में आए—“मैं बलदेवजी की इस बात का भी समर्थक नहीं हूँ कि हमें कौरवों के समक्ष कोई विनम्रता दिखानी चाहिए। यह तो ठीक है कि हमें शिष्टता नहीं छोड़नी चाहिए; पर हमारी विनम्रता को वे शक्तिहीनता समझेंगे। यह नीति हमारे लिए घातक होगी। हमें तो सात्यकि की बात अच्छी लगी कि हम कोई भिखारी नहीं हैं। हम भिक्षा नहीं माँगते वरन् अपना अधिकार माँगते हैं।”

अपना भाषण समाप्त करते हुए उन्होंने कहा, “हमें दो काम करने चाहिए। एक तो हमें एक ऐसा सुयोग्य दूत हस्तिनापुर भेजना चाहिए, जो हमारी सभी स्थितियों को स्पष्ट करते हुए हमारी माँग दृढ़ता से रख सके। इससे कौरवों को भी अपना पक्ष रखने का अवसर मिलेगा।

“यह पहला कार्य तो नीतिगत है, दूसरा उससे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक। हमें यह मानकर चलना चाहिए कि युद्ध निश्चित है। इसके लिए पांडवों को अपने मित्रों के पास दूत भेजने चाहिए। शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और केकयराज के पास पांडवों का युद्ध-निमंत्रण गुप्त रूप से जाना चाहिए। शीघ्रता अनिवार्य है। इस संदर्भ में कौरव कुछ करें, उसके पहले ही हमें इन राज्यों के पास दूत के माध्यम से पहुँच जाना चाहिए; क्योंकि यदि ये कौरवों को वचन दे बैठेंगे, तब हमारा पहुँचना बेकार हो जाएगा।”

सात्यकि और द्रुपद के भाषण अपेक्षा से अधिक लंबे थे; पर उनमें उनकी मंशा स्पष्ट व्यक्त हुई थी। उनके विचारों के साथ श्रोताओं की भी सहमति का पता चला। दूसरी ओर समय भी अपनी गति से काफी आगे बढ़ गया। संध्या डूबने को आई। अब मैंने पुनः हस्तक्षेप किया; क्योंकि मैंने देखा कि महाराज विराट कुछ उलझन का अनुभव कर रहे हैं। उनकी आकृति पर बनती-बिगड़ती रेखाओं से स्पष्ट लगा कि वे इस विवाद को शीघ्र समाप्त करना चाहते हैं।

मेरे खड़े होते ही फिर लोग शांत हो गए। मैंने पहले महाराज द्रुपद की खूब प्रशंसा की और कहा, “वे हममें वयोवृद्ध और अनुभवी हैं। उन्होंने बड़े उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव दिए हैं। इससे निश्चित ही महाराज युधिष्ठिर का कार्य सिद्ध होगा। उन्होंने एक ओर शांतिदूत हस्तिनापुर भेजने का प्रस्ताव किया और दूसरी ओर गुप्त रूप से युद्ध की तैयारी की भी बात कही। इस प्रकार शांति और युद्ध—दोनों के द्वार उन्होंने खुले रखे हैं। अब हस्तिनापुर पर है कि वह इन दोनों में से किसे पसंद करता है!”

“आप क्या पसंद करते हैं?” श्रोताओं में से किसीने पूछा।

मैंने तुरंत उत्तर दिया—“जो पसंद करता हूँ, वही तो कह रहा हूँ।”

लोग हँस पड़े।

मैं कहता गया—“महाराज द्रुपद ने बड़ी ऊँची बात कही है। हमें उसपर गंभीरता से ध्यान देना चाहिए। जिस राज्य को इतने छल और कपट से कौरवों ने लिया है, उन्हें पांडवों को पुनः लौटाने के लिए नहीं। हमें इसके लिए भी सावधान रहना चाहिए। साथ ही, हमें महाराज धृतराष्ट्र के पास भी शांतिदूत भेजना चाहिए; जो धर्म, परंपरा और नीति की बातें कहकर उनका हृदय पुत्र-प्रेम से खींच सके। ऐसा नहीं है कि जहाँ पितामह जैसे अनुभवी नीतिज्ञ हों, जहाँ विदुर जैसे महामात्य हों, द्रोण और कृप जैसे आचार्य हों वहाँ हमारी बात न सुनी जाए।”

“तो अब तक क्यों नहीं सुनी गई?” यह हस्तक्षेप भी श्रोताओं की ओर से ही किया गया।

“कोई आवश्यक नहीं कि हर बात का उत्तर दिया ही जाए।” मैंने अपना भाषण चालू रखा—“हमें बहुत आशा तो नहीं है; फिर भी आशा की दो-एक चिनगारी अवश्य है, जो शायद धधक उठे और समस्या का कोई शांतिपूर्ण हल निकल आए। इसलिए हम हस्तिनापुर दूत भेजने के प्रस्ताव का समर्थन करते हैं; पर यह कार्य किसी साधारण व्यक्ति से संभव नहीं। इसके लिए व्यक्ति की योग्यता और अनुभव की गहरी आवश्यकता है।”

“इसके लिए आपसे उपयुक्त और कौन हो सकता है?” दशार्णराज ने कहा।

मैंने मुसकराकर उनका समर्थन किया और बोला, “आप क्या उपयुक्त नहीं हैं?”

इसपर फिर हँसी हुई।

“मैं तो समझता हूँ कि इस सभा में जितने लोग उपस्थित हैं, वे सभी इस दौत्य कर्म के लिए उपयुक्त हैं। फिर भी, मेरा प्रस्ताव है कि दूत के संबंध में निर्णय लेने के लिए उपस्थित कुछ वरिष्ठ लोगों की समिति बना दी जाए, जो आज ही बैठक करके अपना निर्णय महाराज युधिष्ठिर को बता दे।”

मेरा प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ और महाराज विराट, द्रुपद, सात्यकि, भैया एवं मुझे लोगों ने चुन दिया। हम लोगों ने आपस में बातें करके यह निश्चय किया कि आज रात्रि का भोजन मेरे शिविर में हो और वहीं पर दूत भेजने का निर्णय ले लिया जाए।

□

भोज के बाद मैं सीधे राजभवन पहुँचा। मुझे पांडव परिवार से मिलना था। मैं पुरुषों से तो मिल ही चुका था। सीधे अंतःपुर में चला गया। पहले कुंती बुआ मिलीं। मैंने उनके चरण छुए।

आशीर्वाद देते हुए बुआजी बोलीं, “अब तो, कन्हैया, तुम्हारा ही भरोसा है।” उन्होंने अत्यंत निरीह भाव से कहा। इतनी निराशा तो उनकी आवाज में उस समय भी नहीं थी, जब पांडव अज्ञातवास में थे।

मैंने उन्हें ढाढ़स दिलाते हुए कहा, “सब भगवान् का भरोसा है, बुआजी!”

“मैं तो तुम्हींको भगवान् समझती हूँ।” वे नतमस्तक होते हुए बोलीं।

“यह भ्रम आपने भी पाल लिया है, बुआजी!” मैंने हँसते हुए कहा, “इस मृत्युलोक में कोई भगवान् नहीं रहता। भगवान् भी यहाँ आकर मनुष्य हो जाता है।”

मैं अपनी सधी-सधाई मायावी हँसी हँसते हुए सीधे द्रौपदी के कक्ष में आया।

उसने मुझे देखते ही उलाहना दिया—“अब आपको मुझसे मिलने की सुधि आई है!”

“सुधि तो तुम्हारी हमेशा रहती है। यहाँ आने के बाद मैं राजरानी द्रौपदी से मिला भी था। उससे बातें भी की थीं। आज फिर तुमसे मिलने आया हूँ; क्योंकि कल ही यहाँ से प्रस्थान करने का विचार है।”

“बड़ी कृपा की आपने।” उसने रूठने की मुद्रा बनाई। फिर छूटते ही कहा, “मैं आज तक तुम्हें समझ नहीं पाई।”

“बहुत से लोग मुझे समझ नहीं पाते, तो इसमें मेरा क्या दोष?”

“तुम मुझे बहकाओ मत और न मैं अब तुम्हारे बहकावे में आने वाली हूँ। सीधे-सीधे बताओ, तुम चाहते क्या हो—युद्ध या शांति?”

“जिसमें तुम्हारा हित हो।” मैं मुसकराते हुए ही बोलता रहा—“लेकिन एक बात सर्वमान्य है, द्रौपदी, कि शांति से सबका भला होता है और युद्ध से किसीका नहीं।”

“तो क्या ऐसा कौरव भी सोचते हैं?”

“उन्हें सोचना चाहिए। यदि नहीं सोचते हैं तो भोगेंगे।”

“ऐसी स्थिति में तुम्हारे उस भाषण का क्या होगा, जिसे तुमने उस सभा में प्रस्तुत किया था?” इसपर उसने मेरे भाषण को उद्धृत करते हुए पूछा, “तुम्हारी आशा की यह चिनगारी क्या धधक सकती है?”

“न भी धधके, फिर भी हमें धधकाने की कोशिश तो करनी ही चाहिए। नीति ऐसा ही कहती है।” मैंने बड़े विश्वास के साथ कहा, “जो कुछ हो रहा है, उसे देखती जाओ, द्रौपदी! नियति जो भी करेगी, उसे तो शिरोधार्य करना ही पड़ेगा।”

अंतःपुर से निकलकर मैं सीधे अपने शिविर में आया। लगभग अँधेरा हो चला था। शिविरों के द्वार पर मशालें जलने लगी थीं। कुछ दूर चलने के बाद मुझे लगा कि छंदक मेरी ओर आ रहा है।

“मैं तो आपको बुलाने ही जा रहा था।” उसने कहा, “क्योंकि भैया और सात्यकि आ चुके हैं।”

“तो इसमें जल्दी क्या थी? कुछ देर तो उन्हें बातें करने देते।”

“वे बातें कर चुके हैं और अब एकदम चुप भी हो चुके हैं।”

“एकदम चुप!”

“जी हाँ, शायद अब वे एक-दूसरे से बातें करना भी नहीं चाहते।” छंदक ने मुसकराते हुए कहा।

मैं सारी स्थिति समझ गया। यह तो स्पष्ट ही था कि कौरव-पांडव संदर्भ में दोनों के रुख एक-दूसरे के विरोधी हैं। उन्हींमें टकराहट हो गई होगी। इससे आवश्यक हो गया है कि मैं अपनी गति थोड़ी बढ़ाऊँ।

मैं अपने शिविर की ओर लपका चला जा रहा था कि छंदक ने मेरी बाईं ओर दूर देखते हुए कहा, “लगता है, द्रुपद महाराज अपने शिविर से निकल रहे हैं।”

मेरी भी दृष्टि उधर गई। मशाल के प्रकाश में स्पष्ट लगा कि धृष्टद्युम्न से वे मंत्रणा कर रहे हैं।

वे मेरे यहाँ ही आ रहे थे। तब क्यों न आगे बढ़कर उनकी अगवानी की जाए। अब छंदक और मैं—दोनों उधर मुड़ गए। मुझे आता देखकर धृष्टद्युम्न अपने शिविर में लौट गया और द्रुपद अपने दो परिचरों के साथ आगे बढ़े।

जब हम लोगों ने शिविर में प्रवेश किया तब भी सात्यकि और भैया मौन बैठे ही दिखाई दिए। हम लोगों के पहुँचने पर उन दोनों का तनाव ढीला होना चाहिए था; पर कोई विशेष अंतर नहीं आया।

मैंने उनका मौन तोड़ने के लिए मुसकराते हुए कहा, “आप सब यहाँ चुप बैठने के लिए तो पथारे नहीं हैं।”

“तो क्या करूँ? मार करूँ?”

मैंने ही नहीं, द्रुपद ने भी समझ लिया कि भैया आवेश में हैं। उन्होंने मुसकराते हुए कहा, “मार मत कीजिए, पर मार करने की तैयारी कीजिए। और अभी तो हम मार टालने की योजना के लिए यहाँ आए हैं। यदि हमने युद्ध की बात मान ली होती तो फिर दूत भेजने का अभिप्राय क्या था? दूत भेजने का प्रस्ताव तो मुख्यतः द्वारका का ही है। आप दोनों भाइयों ने दूत भेजने का प्रस्ताव किया है।”

बातें चल ही रही थीं कि तब तक महाराज विराट भी आ गए। अब मुख्य विषय पर वार्ता आरंभ हुई। किसे दूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा जाए, इसपर सबसे पहले द्रुपदजी ने ही अपनी राय रखी—“इस कार्य के लिए मुझे ऐसा व्यक्ति चुनना चाहिए, जिसके मन में पूरा विश्वास हो कि मामला शांतिपूर्ण ढंग से ही हल हो जाएगा और पांडवों एवं कौरवों के बीच युद्ध की कोई संभावना ही नहीं पैदा होगी। वही हमारा सच्चा शांतिदूत होगा।” इतना कहकर उन्होंने भैया की ओर देखा और बोले, “इस दृष्टि से सबसे उपयुक्त व्यक्ति बलरामजी हैं। यदि वे हमारी प्रार्थना स्वीकार कर कौरवों को समझाने के लिए जाने की कृपा करें तो हमारा भी सौभाग्य होगा और पांडवों का कार्य भी बनेगा।”

अपना नाम सुनते ही भैया एकदम भड़क उठे—“मुझे इस बीच में मत डालिए।”

“बीच में तो आप उसी समय पड़ गए, जिस समय आपने सभा में विचार रखे।” महाराज द्रुपद ने हँसते हुए कहा।

“भाई, हम अपने संबंध बिगाड़ना नहीं चाहते। हमारे रिश्ते दोनों से अच्छे हैं।”

“इसीलिए तो आप हमारे इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं।”

अब भैया बुरे फँसे। उनकी उलझन भी एक झुंझलाहट में प्रकट हुई—“देखिए, एक बात साफ है। मैं किसी झंझट में नहीं पड़ना चाहता। आप कहें तो मैं यहाँ बैठूँ या यहाँ से उठकर चला जाऊँ।”

“नहीं-नहीं, आप बैठिए।” अब महाराज विराट ने हस्तक्षेप किया—“यदि आप नहीं जाना चाहते तो कोई आपको बलात् नहीं भेजेगा।”

फिर अनेक नामों पर विचार हुआ। यहाँ तक कि प्रद्युम्न और धृष्टद्युम्न तक का नाम लिया गया। भैया तो मौन ही रहे। गंभीर विचार-मंथन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसा व्यक्ति भेजा जाए, जिसका हम लोगों के परिवारों से कोई संबंध न हो। जो सही अर्थ में तटस्थ हो और तटस्थ मालूम पड़े।

“तब हम अपने पुरोधा को भेजें, तो कैसा हो?” द्रुपद ने पूछा।

“अति उत्तम।” सबने समवेत स्वर में उनका समर्थन किया।

“उनके गुणों के अतिरिक्त एक बात और है कि वे ब्राह्मण भी हैं।”

“क्या दूत को ब्राह्मण होना अनिवार्य है?” मौन बैठे भैया अचानक बोल उठे।

“आवश्यक तो नहीं है।” द्रुपद ने बड़ी गंभीरता से कहा, “जैसीकि गुप्तचरों ने मुझे सूचना दी है कि आजकल हस्तिनापुर की मानसिकता बड़ी विचित्र है। वहाँ शास्त्रज्ञता और सत्तालोलुपता, नीति और अनिती, सदाशयता और नीचता तथा दया और क्रूरता समानांतर पलते हैं। इस समय तो सत्तालोलुपता, नीचता और क्रूरता का ही पलड़ा भारी है। ऐसी स्थिति में हमारा दूत ऐसे ही व्यक्ति को होना चाहिए, जो पूरी तरह अवध्य हो।”

हम लोग चुप ही थे। द्रुपद बड़ी गंभीरता से कह रहे थे—“इधर हस्तिनापुर में सत्ता की निरंकुशता चरम सीमा पर है। जहाँ एक शब्द भी कोई कौरवों के विरुद्ध कहता है वहाँ उसकी हत्या कर दी जाती है। हो सकता है, दूत को भी कौरवों का विरोध करना पड़े।” फिर उन्होंने मुसकराते हुए कहा, “यों तो दूत स्वयं अवध्य होता है—और यदि वह ब्राह्मण भी है तो उसकी अवध्यता दोहरी हो जाती है।”

“आपकी इस सतर्कता के लिए हम सब धन्यवाद देते हैं।” मैंने हँसते हुए कहा और मेरी हँसी सबकी हँसी बन गई।



नौ

जब हम उपप्लव्य से बिदा होने लगे और नगर के मुख्य द्वार पर आए तब अचानक मेरे मस्तिष्क में एक बात आई। मैंने उसके लिए महाराज को सावधान करना अति आवश्यक समझा। यद्यपि हमारी सेना पहले जा चुकी थी। कुछ सैनिक, महामात्य, भैया और छंदक मेरे ही साथ थे; पर मैं इनमें से किसीको भी लेकर महाराज विराट से मिलना नहीं चाहता था।

मैंने कहा, “आप कुछ क्षणों तक विश्राम करने की कृपा करें, मैं अभी आता हूँ। महाराज से एक अति आवश्यक बात कहने को रह गई है।”

“प्रयाण करके रुकना नहीं चाहिए।” भैया बोले।

“अभी हमारा प्रयाण आरंभ कहाँ हुआ! अभी तो हम नगर द्वार के भीतर हैं।” मैंने मुसकराते हुए दारुक को तुरंत रथ बढ़ाने का संकेत किया।

चलते-चलते भैया की आवाज सुनाई पड़ी—“ऐसा चक्री व्यक्ति मैंने नहीं देखा।”

मैं जब महाराज विराट के पास पहुँचा तो वहाँ द्रुपद बैठे थे। मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह बड़ा सुखद संयोग है। मुझे देखते ही दोनों व्यक्ति खड़े हो गए।

मैंने कहा, “यों तो मैं इस यात्रा का अंतिम प्रणाम करने चला आया हूँ; पर आते-आते मेरे मस्तिष्क में एक बात और उभर आई।” मैंने बताया—“जो कुछ निर्णय हुआ, उसे आप उपप्लव्य तक ही सीमित न समझें। उसकी गंध हस्तिनापुर पहुँच रही होगी। हमने लगभग एक दिन विचार-विमर्श में ही खर्च कर दिया; पर वह भी आवश्यक ही था। अब पांडवों को द्रुतगामी दूत तुरंत भेजने चाहिए; क्योंकि दुर्योधन समाचार मिलते ही सक्रिय हो जाएगा। यह मानकर चलिए कि युद्ध अनिवार्य है। हमारा शांतिदूत तो केवल ऐसी संभावना की खोज में जा रहा है, जिससे हमें युद्ध न करना पड़े।”

मेरी सलाह से द्रुपद बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि वे भी इसी मत के थे और इसी बिंदु पर विराट को सहमत करने सवरे-सवरे पधारे थे।

पर विराट चुप थे। उनके मौन की गंभीरता युद्ध की विभीषिका का अनुमान लगा रही थी। उनके स्पष्ट विचार थे कि यदि बिना युद्ध हुए कुछ हो जाता तो उत्तम होता। वे किसी भी शर्त पर समझौता चाहते थे; जबकि द्रुपद का कहना था कि शर्त बराबरी की और सम्मानजनक होनी चाहिए। मेरे वहाँ पहुँचने के पहले दोनों में यह तर्कयुद्ध चल ही रहा था।

मैंने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, “कोई भी भलामानुष युद्ध नहीं चाहता। हमारा भी पहला प्रयत्न युद्ध न होने देने का ही होना चाहिए। इसीलिए हम हस्तिनापुर शांतिदूत भेज रहे हैं, युद्धदूत नहीं। इसपर भी यदि सारे प्रयत्नों के बावजूद पांडवों को उनका पावना नहीं मिलता तो फिर हमारे पास युद्ध के सिवा और चारा क्या है?”

मेरी बात सुनकर विराट गंभीर हो गए।

मेरे पास समय नहीं था। मैं सोच रहा था कि भैया कुड़बुड़ा रहे होंगे। मैंने संक्षिप्त रूप से अपनी बात कही—“आप लोगों को दूत के हाथ एक पत्र भी भेजना चाहिए। वह पत्र आपकी ओर से हो या महाराज पांचाल की ओर से। उसमें सारी परिस्थिति का उल्लेख होना चाहिए और स्पष्ट लिखना चाहिए कि पांडव युद्ध नहीं चाहते वरन् अपना उचित अधिकार चाहते हैं। इसके लिए वे हर शांति प्रयत्न कर रहे हैं। इसमें यदि उन्हें सफलता नहीं मिली तो हमपर इस लादे गए युद्ध में हम आपके सहयोग के सादर आकांक्षी हैं।”

इतना सुनते ही द्रुपद खिलखिला पड़े। उन्होंने कहा, “आपने तो हम दोनों को एक बिंदु पर लाकर खड़ा कर दिया।”

मैं मुसकराते हुए उन्हें प्रणाम कर चल पड़ा।

रथ के निकट पहुँचते ही भैया बोले, “यदि तुम कुछ क्षण और न आते तो मैं तो चला जाता।”

“मुझे छोड़कर चले जाते!” मैंने मुसकराते हुए ही कहा।

“क्यों, तुम मुझको छोड़कर नहीं चले गए थे!” भैया बड़ी बेरुखाई से बोले।

मैंने अनुभव किया कि मेरा अकेले जाना उन्हें अच्छा नहीं लगा। अब मैं अपने रथ पर नहीं वरन् भैया के रथ पर चला गया—उनके क्रोध का शमन करने के लिए।

यद्यपि हम लोगों ने पहाड़ी की तलहटी का रास्ता पकड़ा था, फिर भी ज्येष्ठ की दोपहरी की तपन परेशान किए दे रही थी। तलहटी में विश्राम कर रही नंगी और संतप्त पहाड़ियों की गरम हवा का झोंका जब व्यग्र करता था तब उसकी हलचल हमें थोड़ी राहत देती थी। पर ढलते वृष का सूर्य हमारे पीछे लगा था। वह हमें विश्राम के लिए विवश कर देता था। एक जलाशय के किनारे वृक्षों की छाया में हमें कुछ घड़ी के लिए विश्राम लेना पड़ा।

यहीं भैया कुछ खुले—“तुम हमेशा स्वयं को झंझट में डाले रहते हो। यदि इतिहास कभी हम लोगों को याद करेगा तो इस युग के सबसे विवादास्पद व्यक्ति के रूप में तुम्हारा नाम लेगा।”

“मेरा नाम!” मैं मुसकराते हुए ही बोला, “यदि ऐसा होगा तो मुझे आश्चर्य है। मेरे चिंतन में न कहीं उलझाव है और न मेरी कार्य-पद्धति में। मैं सदा पाले के एक ओर रहता हूँ; पर मध्य रेखा पर चलते हुए संतुलन बनाए रखने की चेष्टा करता दिखाई अवश्य पड़ता हूँ।”

“जो तुम दिखाई पड़ोगे, वही तो लोग देखेंगे।”

“पर मैं वह नहीं हूँ, जो दिखाई पड़ता हूँ। यह तो मेरा स्थूल शरीर है। मैं तो इससे परे हूँ।”

“विचित्र बात है!” भैया बोले, “मैं तो तुमसे बात कर रहा था और बीच में खड़ा हो गया तुम्हारा दर्शन।”

भैया का यह वाक्य मुझे चुभ गया। संसार का सारा भोग तो स्थूल शरीर का है और मैं उसे ही नकार रहा हूँ। शायद मैं भैया से इस बातचीत में चिंतन और जीवन का सामंजस्य नहीं कर पाया।

दूसरे दिन अपराह्न तक हम द्वारका पहुँच गए थे। नगर द्वार पर हमारा भव्य स्वागत किया गया। शिव मंदिर में दर्शन-पूजन के बाद हमने उद्वेलित सागर को प्रणाम किया। डूबता हुआ सूर्य सागर में रक्त उगलता जान पड़ा। जहाँ तक दृष्टि गई, सागर रक्तिम ही दिखा। अचानक पता नहीं क्यों, मेरे मन में यह विचार उठा कि ऐसा तो नहीं कि हस्तिनापुर का डूबता सूर्य भी पूरे आर्यावर्त में ऐसा ही रक्त उड़ेल दे।

मेरी चेतना स्वयं मुझपर हँसने लगी। मैं भी कैसा विचित्र व्यक्ति हूँ! अभी युद्ध और शांति—दोनों की संभावनाएँ खुली हैं, फिर भी मैं ऐसी बात कर रहा हूँ!

साथ में छंदक था। उसने मुसकराते हुए कहा, “आप इस संसार से अधिक चिंतन के संसार में ही रहते हैं।”

“पर रहता हूँ इसी संसार के चिंतन में।” मैंने उसी मुद्रा में कहा और सीधे राजभवन की ओर चल पड़ा।

राजभवन में सभी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। रुक्मिणी ने कहा, “आपके साथ वहाँ से चले सैनिक पहले ही यहाँ आ गए थे। आप कहाँ रह गए थे?”

अब मेरी दृष्टि पीछे खड़ी माताजी एवं पिताजी पर पड़ी। माँ की दृष्टि में उत्तेजना थी, जिज्ञासा का सहजभाव था। लगता था, पिताजी ने उन्हें कुछ बताया नहीं था। मैंने दोनों के चरण छुए और फिर वैभवपूर्ण तथा महिमामंडित विवाह की एक-एक बात मैंने उन्हें संक्षेप में बताई।

माँ बड़ी प्रसन्न हुई; पर पिताजी की आकृति पर कोई विशेष भाव नहीं था। प्रसन्नता की एक झलक भी नहीं। दुःख-सुख समभाव से झेलते-झेलते उनका व्यक्तित्व समुद्र के किनारे की उस चट्टान की तरह हो गया था, जिसपर न ज्वार का प्रभाव पड़ता है, न भाटे का।

उनकी मात्र एक ही जिज्ञासा थी—“क्या सोचते हो, पांडवों का गया राज्य उन्हें मिल जाएगा?”

“प्रयत्न तो किया जा रहा है।” मैंने बड़ी असमंजसता के स्वर में कहा।

फिर उन्होंने ही मेरा अधूरा वाक्य पूरा किया—“पर कहा कुछ नहीं जा सकता।” कुछ सोचते हुए वे बोलते गए—“पांडवों के कपाल की भाग्य रेखा कौन पढ़ सकता है!” इतना कहकर वे पूर्ववत् गंभीर हो गए।

फिर मैं अंतःपुर की ओर बढ़ा। सामने रेवती भाभी पड़ गई। मुझे देखते ही बोलीं, “तुम्हारे भैया बड़े नाराज हैं।”

“तभी आप मेरे यहाँ चली आई हैं।”

“दुष्ट कहीं के, हर बात परिहास में ही उड़ा देते हो!” भाभी झुँझलाई—“मुझपर नहीं, तुमपर नाराज हैं।”

“इसका तात्पर्य है कि वे बहुत नाराज हैं। तो करना क्या चाहिए?”

“करना क्या है! तुम अपना कार्य करो और उन्हें अपना कार्य करने दो।” भाभी मुसकराते हुए बोलीं, “अपने भैया की प्रकृति तो तुम जानते ही हो। अभी झंझा की तरह आकाश में उठे, फिर पानी बनते देर नहीं लगती।”

मैं फिर राजभवन में और किसीसे नहीं मिला। सीधे अपने कार्यालय चला आया। महामात्य की बातों से ऐसा लगा कि लगभग पूरी द्वारका पांडवों के पक्ष में है। उन्हें न्याय मिलना चाहिए। यदि नहीं मिला तो हमें कुछ करना चाहिए।

“क्या कुछ लोग ऐसे नहीं हैं, जो यह सोचते हों कि हमें इस झमेले में नहीं पड़ना चाहिए?” मैंने महामात्य से पूछा।

“मुझे तो कोई ऐसा नहीं मिला।” उसने कहा।

“पर मुझे तो मिले।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

उसकी जिज्ञासा मेरा मुँह देखती रह गई।

मुझे बड़ा संतोष हुआ कि जनमत पांडवों के साथ है। क्या यही स्थिति पूरे आर्यावर्त की होगी? सत्ताधारियों का झुकाव किधर होगा? उनकी राजनीति क्या होगी? अनुमान तो लगाया जा सकता है, पर अभी से किसी निष्कर्ष पर पहुँचा नहीं जा सकता।

□

लगभग एक पक्ष बाद।

आषाढ़ शुरू ही हुआ था। सिंधु की ओर से आकाश में रुई के ढेर उठने लगे थे। मौसम की मुद्रा बदलने लगी थी। ये ऋषियों और मुनियों के पधारने के दिन थे। आसपास के वानप्रस्थी और संन्यासी द्वारका में ही चौमासा बिताते थे। सारा प्रशासन उनकी आवभगत और तैयारी में लगा था। मैं स्वयं व्यवस्था की देखभाल में लगा था। इसलिए भी कि किसीको किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा इसलिए भी कि कहीं से कोई दुर्वासा न आ जाए और हमें शापित न होना पड़े। पूरी व्यवस्था के मूल में आनंद भी था और भय भी।

द्वारका की ऐसी मानसिकता में उपप्लव्य से एक दूत आया। उसने महाराज युधिष्ठिर का एक पत्र दिया। अभिवादन और कुशलक्षेम की औपचारिकता के बाद उसमें केवल इतना लिखा था कि आप यथाशीघ्र पधारने की कृपा करें। हम लोग बड़ी व्यग्रता से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आखिर बात क्या है? द्रुपद का पुरोहित शांति प्रस्ताव के लिए गया था। उसका प्रयत्न असफल हुआ क्या? मेरे मन में बैठी युद्ध की आशंका फिर फनफनाने लगी। मैंने दूत से पूछा, “और कुछ नहीं कहा है महाराज ने?”

“और तो कुछ नहीं कहा है।” उसने बड़े सहजभाव से कहा।

किंतु उसकी बात से ज्ञात हुआ कि पुरोहितजी हस्तिनापुर से लौट आए हैं, पर घबराने की कोई बात नहीं है। मेरी व्यग्रता को शांति मिली; पर जिज्ञासा प्रबल हुई—“कुछ तो पुरोहितजी ने बताया होगा कि उनके जाने का परिणाम क्या हुआ?”

“जाने का यही परिणाम हुआ कि धृतराष्ट्र के दूत बनकर संजय पथार रहे हैं।” दूत ने बताया।

मैंने समझ लिया कि इसी अवसर के लिए मैं बुलाया गया हूँ।

मन-ही-मन मैं बड़ा संकटग्रस्त हुआ। आशा की एक किरण दिखाई दी; क्योंकि संजय की बुद्धिमत्ता और नीतिज्ञता से मैं परिचित था। धृतराष्ट्र का सारथि होते हुए भी वह उनका सलाहकार था। वह महाराज का इतना विश्वासभाजन था कि वे उसे बहुधा अपना दूत बनाकर भेजते थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में यही महाराज का दूत बनकर आया था। सबसे बड़ी बात यह थी कि धृतराष्ट्रपुत्रों में शायद दो-एक से ही उसकी बनती थी। विकर्ण से उसकी आत्मीयता थी; पर दुर्योधन की चांडाल चौकड़ी उसे पसंद नहीं करती थी। शकुनि तो उसके विरुद्ध बराबर महाराज के कान भरता रहता था। इसीलिए मुझे लगा कि हम अँधेरे में भी मार्ग पर हैं।

मैंने दूत से कहा, “लगता है, पुरोहितजी का जाना सार्थक रहा।”

“क्यों नहीं सार्थक होता! आपका आशीर्वाद जो प्राप्त था।”

“मेरा आशीर्वाद!”

“जी। सुना है, आपके ही बताए मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया था।” दूत ने पुरोहित संदर्भ को और अधिक विस्तार दिया—“जाते ही वह पितामह एवं महाराज से मिले और कहा, ‘सभी जानते हैं कि धृतराष्ट्र और पांडु एक ही पिता के पुत्र हैं। पिता की संपत्ति पर दोनों का समान अधिकार है; पर पांडुपुत्र संप्रति इस अधिकार से वंचित हैं—और आपके पुत्र उन्हें सदा के लिए वंचित कर देना चाहते हैं। उनकी नीयत पांडवों की संपत्ति और वैभव पर हमेशा रही है। इसके लिए उन्होंने जो कर्म और कुकर्म किए हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं। फिर भी पांडुपुत्र वे सब सहते रहे। भगवान् श्रीकृष्ण पर और आप पर भरोसा करते रहे। आपके पुत्रों ने उन्हें हमेशा मार्ग का कंटक समझा। उन्हें सदा के लिए नष्ट कर देने में उन्होंने अपनी ओर से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी; फिर भी वे बचते गए। उन्होंने घृणा, द्वेष और हिंसा का उत्तर प्रेम, आत्मीयता और अहिंसा से दिया। अधर्म के विरुद्ध धर्म ही उनका अस्त्र भी था और कवच भी। आज भी वे अपने इसी मार्ग पर अडिग हैं। वे चाहते हैं कि संग्राम किए बिना ही उनका राज्य मिल जाए। शवों के ढेर पर पैर रखकर उन्हें सिंहासन पर चढ़ना न पड़े।’ ”

दूत कहता जा रहा था—“पुरोहितजी बता रहे थे कि इतना सुनते ही पितामह और महाराज दोनों गंभीर हो गए। तब उन्होंने पांडवों की शक्ति का विस्तार से वर्णन किया और बड़े विश्वास से कहा, ‘यदि रण होगा तो पांडवों की जीत निश्चित है; क्योंकि उनके पास शक्ति भी है, धर्म भी और श्रीकृष्ण भी।’ ”

मेरा सोच था कि मेरे नाम को इतना उछालकर ठीक नहीं किया गया। मैं भले ही पांडवों के साथ हूँ, पर मुझे स्पष्टतः अपने पाले में इस समय खींचना उपयुक्त नहीं था। नीति तो यही कहती है कि अभी मुझे दोनों पालों के बीच की रेखा पर ही रहना चाहिए था।

किंतु इस मंशा के विरुद्ध मेरा ही तर्क खड़ा हो गया—‘जहाँ तुम हो वहीं न दिखाई दोगे।’ इस सत्य से मुँह मोड़ना मेरे लिए कठिन है; पर कूटनीति का पहला पाठ है कि जो तुम हो, वह दिखाई मत पड़ो।

इस आंतरिक तर्क-वितर्क में मैं मौन हो गया और उस दूत को गंभीर भी दिखाई दिया।

उसने तुरंत पूछा, “आप इतने गंभीर क्यों हो गए? क्या सोचने लगे?”

मैंने हँसते हुए कहा, “पुरोहितजी के जिस तर्क को सुनकर पितामह और महाराज धृतराष्ट्र गंभीर हो गए हों, उन्हें

सुनकर मेरा गंभीर होना स्वाभाविक था।”

दूत भी हँसने लगा और उसने आगे कहना शुरू किया—“पुरोहितजी ने केवल आपका ही नाम लिया; उन्होंने सात्यकि, शल्य आदि अनेक पांडव पक्षीय योद्धाओं के नाम नहीं लिये। सैन्य शक्ति का विस्तार से वर्णन किया और अंत में कहा, ‘इतनी शक्ति होते हुए भी पांडव युद्ध नहीं चाहते—और उनकी इसी प्रवृत्ति को आपके पुत्र पांडवों की कमजोरी समझते हैं।’

“‘नहीं-नहीं! ऐसी बात तो नहीं।’ पितामह ने बीच में ही हस्तक्षेप किया—‘कौरवों को ऐसा तो नहीं समझना चाहिए। पांडवों की शक्ति का परिचय उन्हें अनेक बार मिला है—और जब स्वयं श्रीकृष्ण उनके साथ हैं तब उन्हें दुर्बल समझना सबसे बड़ी मूर्खता होगी।’

“इसके बाद पुरोहितजी ने बताया कि पितामह ने अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा, ‘हमारा सौभाग्य है कि आप संधि का प्रस्ताव लेकर आए हैं।’ इसी क्रम में उन्होंने पांडवों की वीरता का विराट् वर्णन किया। पर जब वे अर्जुन के पराक्रम पर बोल रहे थे तब कर्ण भभक पड़ा।”

“क्या कर्ण भी वहाँ था?” मैंने दूत से पूछा।

“यही प्रश्न तो पुरोहितजी से हमारे महाराज ने किया था। तब उन्होंने कहा कि वार्ता शुरू होने के समय तो नहीं था। बाद में आ गया था। हो सकता है, शकुनि या दुर्योधन ने यह जानने के लिए उसे भेजा हो कि देखो, वहाँ क्या हो रहा है!”

फिर कर्ण के संबंध में पुरोहितजी से मिली जानकारी दूत देने लगा—“कर्ण का कहना था कि ‘पुराना राग अलापने से क्या लाभ! हम लोग जानते हैं कि पांडव कितने वीर और पराक्रमी हैं! सीधी-सीधी बात यह है कि शकुनि ने दुर्योधन के लिए जुए में युधिष्ठिर को हराया था। पांडवों को जुए की शर्त के अनुसार वनवास करना पड़ा। अब वे जुए की शर्त पूरी किए बिना मत्स्यराज के यहाँ शरण लेकर मूर्खों की भाँति अपनी संपत्ति का दावा पेश कर रहे हैं और ऊपर से धमका भी रहे हैं। ऐसी स्थिति में दुर्योधन उन्हें आधा क्या, चौथाई राज्य भी नहीं देगा। यदि पैतृक संपत्ति उन्हें लेनी है तो वे शर्त के अनुसार फिर से बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करें।’

“पुरोहितजी का कहना था कि इसपर पितामह ने कर्ण को डाँटा और कहा, ‘तुम हम लोगों के बीच में बोलनेवाले कौन हो? तुम सूतपुत्र हो, अपनी सीमा पहचानो। हम यदि यह संधि प्रस्ताव नहीं मानेंगे तो तुम्हारे जैसे पराक्रमियों को रणक्षेत्र की धूल फाँकनी पड़ेगी; जैसे अभी विराटनगर की चढ़ाई में फाँकी थी।’

“पुरोहितजी के अनुसार, महाराज ने भी उसे डाँटा। वह तिलमिलाकर उठकर चला गया।”

“पुरोहितजी जब सारी घटना बता रहे थे तो क्या वहाँ कुंती बुआ भी थीं?” मैंने पूछा। क्योंकि बुआ की प्रकृति थी कि वह कर्ण का अपमान सह नहीं पाती थीं। मैंने कई अवसरों पर देखा था। इसीलिए मुझमें जिज्ञासा हुई। पर दूत कुछ बता नहीं पाया। उसने उधर ध्यान ही नहीं दिया था।

दूत का यह भी कहना था—“पुरोहितजी एक-दो दिन के लिए हस्तिनापुर में रोक लिये गए थे। इस बीच महाराज ने संजय से कुछ गूढ़ मंत्रणा की। उसीके परिणामस्वरूप संजय का आगमन हो रहा है।”

“चलो, शांति की बात तो चली।” मैंने संतोष व्यक्त किया।

“पर क्या आपको विश्वास है कि आप लोगों का यह शांति प्रयत्न सफल होगा?” दूत का अविश्वास बोल उठा। मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “क्यों नहीं सफल हो सकता? जब यहाँ तक सफलता मिली है तब आगे भी सफल होना चाहिए। हमें अंतिम क्षण तक विश्वास रखना चाहिए। तभी हम उस दिशा में बढ़ सकेंगे।”

“और न बढ़ सके तब?”

“तब हमारा विश्वास घायल होगा, या मारा जाएगा।” मेरी मुद्रा फिर दार्शनिकों जैसी हो गई—“तब हमारे विश्वास के शव में तुम्हारे जैसे अनेक के अविश्वास की आत्माएँ घनीभूत होकर प्रविष्ट हो जाएँगी। फिर एक नए विश्वास का जन्म होगा। यह होगा शांति का नहीं, युद्ध का विश्वास—और यही होगी पांडवों के लिए युद्ध की अनिवार्यता—युद्ध की यह विवशता। तब जनमत उनके साथ होगा—और जनमत का साथ होना आधा युद्ध जीत लेना है।”

मैंने अनुभव किया कि मैं बात करते-करते शांति और युद्ध के दर्शन पर बोलने लगा। वह दूत भी चुपचाप मुझे सुनता रहा।

मैं यह अच्छी तरह जानता था कि इस दूत का अविश्वास लगभग संपूर्ण आर्यावर्त का अविश्वास है। लोग समझ रहे थे कि पांडवों को राज्य नहीं मिल सकता। जो राजसत्ताएँ इस विषय से दूर या उदासीन थीं, उन्हें भी द्रुपद के दूत सोचने के लिए विवश कर चुके थे।

द्वारका भी करीब-करीब इसी मत की थी—केवल भैया को छोड़कर। जब द्वारकावासियों को इस बात का पता चला कि महाराज धृतराष्ट्र ने संधिवार्ता के लिए संजय को उपप्लव्य भेजा है और उस अवसर के लिए पांडवों ने मुझे बुलाया है, तब उन्हें संतोष हुआ। संतोष की वह लहर मेरे परिवार को भी भिगी गई। मेरे माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए। उनमें एक अनहोनी होने की भावना जागी।

माँ का तो इतना ही कहना था—“संधिवार्ता में तुम कोई शर्त मत रखना। पांडवों को यदि उनके अधिकार से कुछ कम ही मिले, तो भी मान लेना, संतोष करना।”

“ऐसा संतोष बहुधा दुर्बलता का लक्षण समझा जाता है।” मैंने कहा।

“लोग चाहे जो समझें, पर संतोष का फल हमेशा मीठा होता है—और उसके मिठास में कभी कीड़े नहीं पड़ते।” पिताजी बोल पड़े—“इसी संतोष में मैंने तुम्हें पाया है।” कभी न दिखाई पड़नेवाली मुसकराहट भी उनके चेहरे पर दिखाई पड़ी।

मुझे भी अपना जन्म संदर्भ याद हो आया। मैंने हँसते हुए कहा, “उस संतोष में भी लोगों को आपकी निरीहता ही दिखाई पड़ी थी।”

“देखा करें मेरी निरीहता।” उन्होंने बड़े विश्वास से कहा, “मैं इतना निरीह तो नहीं था कि मैं अपनी और तुम्हारी जान लेकर मथुरा से भाग नहीं सकता था। जब तुम्हें कारा से हटाने में भगवान् ने सफलता दी तब हमारी विवशता भी वह काट सकता था।”

सचमुच अपने पिता जैसा संतोषी जीव मैंने कहीं नहीं देखा। वे हर स्थिति में संतुष्ट रहते थे—शांतिपूर्ण जीवन जीते हुए जीवननिरपेक्ष एक संन्यासी की तरह।

उपप्लव्य जाने की मेरी तैयारी पूरी होने लगी। मैंने भैया को भी सूचित करना उचित समझा। मैं स्वयं उनके पास गया और उन्हें सारी स्थिति बताई। वे भी प्रसन्न थे।

मैंने उनसे आग्रह किया—“यदि आप भी चलें तो अधिक उत्तम होगा।”

“क्या उत्तम होगा! बुलाया तुम्हें गया है और चलूँ मैं भी!” उनके मुँह से निकल तो गया, पर शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि उनको ऐसा कहना नहीं चाहिए था। उन्होंने स्वयं को सँभाला—“इस समय पांडवों को राजनीतिक निपुणता की अधिक आवश्यकता है। यह कला जितनी तुममें है उतनी मुझमें नहीं। फिर तुम यह तो जानते ही हो कि मैं सत्ता से दूर रहनेवाला व्यक्ति हूँ। सत्ता संघर्ष में मेरी जरा भी रुचि नहीं।”

मैंने हँसते हुए कहा, “संघर्ष की नहीं, बात तो संधि की है।”

“संधि की बात वहीं होती है जहाँ कोई संघर्ष होता है।” भैया के इस तर्क के समक्ष मैं मौन रह गया।

□

मेरी इच्छा थी कि उपप्लव्य चलने के पहले मैं अपने आचार्यजी से भेंट करूँ; क्योंकि मेरे मन में इस संधिवाता को लेकर अनेक द्विविधाएँ पैदा हो रही थीं। ऐसी स्थिति में मैं आचार्यजी के नक्षत्रों की गणना का सहारा लेता था और वैसा ही मन बनाता था। पर दूत का आग्रह था कि आप यथाशीघ्र प्रयाण कर दें। हो सकता है, हस्तिनापुर से संजय आ गए हों। दूसरी बात यह थी कि हस्तिनापुर से उपप्लव्य का मार्ग भी सीधा नहीं है। हमें कई पहाड़ियों को पार करते हुए चलना पड़ेगा। फिर इधर वर्षा भी हुई है। चौमासा आरंभ हो गया है। प्रकृति भी हमारे मार्ग में बाधा उत्पन्न कर सकती है।

दूत का यह कहना भी उचित लगा कि आचार्यजी से मिलने में एक खतरा और है। वे प्रयाण का मुहूर्त निश्चित करेंगे। इसमें और देर हो सकती है।

उपप्लव्य में मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। मार्ग में प्रकृति ने भी साथ नहीं दिया। दो-एक दिन का विलंब हो ही गया। पांडवों की घबराहट बढ़ी। उन्होंने मेरा समाचार लेने के लिए भीम को ही भेज दिया। वह उपप्लव्य से थोड़ा ही आगे बढ़ा होगा कि मार्ग में ही मुझसे मिल गया। उससे पता चला कि संजय परसों से ही आ गया है। उससे उसकी बातें भी हुई हैं। मेरा यथाशीघ्र पहुँचना परम आवश्यक है।

“बात तो आप लोगों को ही उससे करनी है।” मैंने हँसते हुए कहा, “दो की बात में इस तीसरे की आवश्यकता क्या है? वस्तुतः मैं तो आप लोगों के बुलाने पर चला आया हूँ।”

“यदि आपकी आवश्यकता न होती तो आपको कष्ट न दिया गया होता और प्रतीक्षा में हम इतने व्यग्र न होते। लोगों ने आपको देखने के लिए मुझे यहाँ तक भेजा है। आप कैसे समझते हैं कि आपकी आवश्यकता नहीं है?”

अब भीम अपना रथ छोड़कर मेरे रथ पर चला आया। मुझे आभास लग गया कि वह कुछ बातें करना चाहता है; पर संकोच के कारण कुछ बोल नहीं पा रहा है। रथ बढ़ी तेजी से आगे बढ़ता चला जा रहा था। उधर मेघ भी आकाश में दुंदुभी बजाने लगे थे। यहाँ से उपप्लव्य का रास्ता सीधा और सपाट नहीं था। दारुक ने इसकी चिंता किए बिना रथ की गति तेज की।

अब भीम का संकोच तोड़ने के लिए मैंने कहा, “जब संजय परसों से आया है तब बातें तो शुरू ही हो गई होंगी।”

“बातें तो शुरू हो गई हैं, पर अभी वे अनर्थ की सीमा पर नहीं आई हैं।” भीम अभी तक अपनी प्रकृति के विरुद्ध शांत था। अब वह अपने मूल रूप में आया। उसने फिर अपने कथन को दुहराया—“यदि आप न आते तो निश्चित ही अनर्थ हो जाता।”

“क्यों? ऐसी क्या बात थी?”

अब उसने विस्तार से बताया—“हम लोगों को भैया ने वार्ता में सम्मिलित नहीं किया। मैं निश्चित ही इसका विरोध करता; पर अर्जुन के यह कहने पर कि संजय इस समय हस्तिनापुर के राजदूत के रूप में आया है। वह बड़े भैया से ही बातें करना चाहता है। ऐसी स्थिति में हम लोगों का उसमें शामिल होना उचित नहीं है। तब हम चुप रह गए।”

भीम थोड़ा आवेश में आया। उसने कहा, “पर मेरा मन अर्जुन की बात मानने के पक्ष में नहीं था। मैंने विरोधस्वरूप कहा, ‘तब हमें उनकी बातें सुननी भी नहीं हैं। जब हम हर समय भैया के निर्णय को मानने के लिए नियति द्वारा बाध्य किए गए हैं, तब हम इस समय भी उनका निर्णय मानकर जो भोगना होगा, भोग लेंगे। अब हमारा इस सभा में बैठना व्यर्थ है; क्योंकि यदि हम बैठेंगे तो बोलेंगे अवश्य। अब हम अन्याय सहने की स्थिति में नहीं हैं।’ ”

भीम का कहना था—“तब अर्जुन बड़ा कातर होकर बोल पड़ा—‘यही तो हमारी विवशता है, भैया, कि हम बैठेंगे

भी और कुछ बोलेंगे भी नहीं। हमारा संधि सभा में न बैठना राजदूत का अपमान होगा और राजदूत का अपमान हस्तिनापुर का अपमान होगा। तब हमीं लोगों के सिर अपयश का ठीकरा फूटेगा।’

“‘तब हमारी बात कौन कहेगा?’ मैंने कहा, ‘क्योंकि हमेशा यह खतरा बना रहता है कि कहीं भैया ऐसी बात न मान बैठें कि हमें फिर विपत्ति का सामना करना पड़े।’ तब अर्जुन ने कहा, ‘द्वारकाधीश आ रहे हैं न! हम लोगों का पक्ष वे ही रखेंगे।’ और जब आपका समय पर आना नहीं हुआ तब हम निराश हो गए।”

“निराशा की ऐसी कोई बात है नहीं।” मैंने कहा, “संजय अर्जुन का मित्र है। क्या अर्जुन उससे नहीं मिला था?”

“मिला तो था।” भीम बोला, “लेकिन उससे इधर-उधर की ही बातें होती रह गईं। अर्जुन का निष्कर्ष था कि इस समय संजय हस्तिनापुर का राजदूत है। उसका धर्म है कि वह इस समय वही कहे और वही करे, जिसके लिए महाराज धृतराष्ट्र ने उसे भेजा है।”

“यह तो ठीक है।” मैंने कहा, “फिर उसने ऐसा क्या कहा है, जिसके लिए तुम इतने व्यग्र हो? अरे भाई, वह संधि की बात करने आया है और हम सब संधि चाहते हैं।”

भीम एकदम गंभीर हो गया। वर्षा तेज हो गई थी। हम लगभग भीग गए थे। जब हम उपप्लव्य के नगर द्वार पर पहुँचे तो मैंने देखा कि पानी में भीगते हुए लथपथ लोग हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पिछली बार की तरह इस बार भी मैं सीधे राजभवन में गया। सबसे मिला और फिर अतिथिभवन में आ गया—संजय के बगलवाले कक्ष में। यद्यपि लोगों ने मेरे रहने की व्यवस्था अतिथिभवन में ही की थी। किसीने भी मेरे इस निर्णय का विरोध नहीं किया।

मेरे वहाँ पहुँचते ही संजय पूरे आदरभाव से मुझसे मिला और बोला, “हम लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे।”

“आकाश हमारे अनुकूल नहीं था।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “और लगता है कि आकाश आर्यावर्त के भी अनुकूल नहीं है।”

संजय की समझदारी में कोई कमी नहीं थी। उसने तुरंत उत्तर दिया—“अब आप आ गए हैं, आकाश भी अपनी मुद्रा बदल देगा।” और फिर हँसते हुए उसने मुझे गले लगाया।

अन्य भाई तो कक्ष की सारी व्यवस्था कर लौट गए, पर भीम बैठा रह गया। मैं समझ गया कि यह कुछ कहना चाहता है, जो अभी तक कह नहीं पाया है।

मैंने उसे छेड़ा—“लगता है, तुम्हारी गंभीरता मुखर होने को व्याकुल है!”

“क्या मेरा मौन कभी मुखर हो पाएगा?” भीम ने स्वयं एक प्रश्न कर दिया—“वह तो आपकी शांति-मुद्रा और संधि-समर्थन के नीचे समाधिस्थ हो गया है।”

“तुम क्या शांति और संधि के पक्ष में नहीं हो?”

“कैसे होऊँगा!” भीम थोड़ा आवेश में आया—“सोचता हूँ, मेरी उन प्रतिज्ञाओं का क्या होगा, जो मैंने द्रौपदी के चीर-हरण के समय की थीं?”

“उस समय तो मैं नहीं था।” मैंने छूटते ही कहा।

“यही तो आश्चर्य है, द्वारकाधीश! आप नहीं होते हुए भी होते हैं। सबने आपका चमत्कार देखा है।”

मुझे हँसी आ गई।

अब वह स्वयं खुलने लगा—“उस समय जब दुर्योधन ने द्रौपदी को अपनी नंगी बाईं जाँघ दिखाई थी तब मैंने उसी क्षण प्रतिज्ञा की थी कि जब तक युद्ध में उसकी जाँघ तोड़ नहीं दूँगा तब तक चैन नहीं लूँगा। इसी तरह दुःशासन जब द्रौपदी को बाल पकड़कर खींच लाया था और बलात् उसे नग्न करने लगा था तब मैंने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध

में उसका वक्ष चीरकर रक्तपान करूँगा। अब सोचता हूँ कि जब आप जैसे शुभचिंतक ही शांति और संधि की बात सोचने लगे तब मेरे उन संकल्पों का क्या होगा?”

“तुमने तो यह भी प्रतिज्ञा की थी कि मैं धर्मराज का वह दाहिना हाथ जला दूँगा, जिससे उन्होंने चौपड़ के पासे फेंके हैं।” मैंने कहा।

भीम तुरंत बोल पड़ा—“मैंने यह प्रतिज्ञा नहीं की थी। मैंने केवल सहदेव को आदेश दिया था कि तुम कहीं से अग्नि लाओ। मैं भैया का वह हाथ जला दूँ जिससे उन्होंने पासे फेंके हैं। वस्तुतः उस समय क्रोध के कारण मेरा विवेक लुप्त हो चुका था।”

“जब क्रोध आता है तब विवेक लुप्त ही हो जाता है।” मैंने कहा और पूछा, “जब तुमने क्रोध में दुर्योधन और दुःशासन के विरुद्ध प्रतिज्ञा की थी तब क्या तुम्हारा विवेक नहीं था?”

“दुर्योधन और दुःशासन के विरुद्ध प्रतिज्ञा करते समय मेरा विवेक रहा हो या न रहा हो, पर बुद्धि तो थी। मनुष्य विवेकहीन हो सकता है, बुद्धिहीन नहीं। मैंने सोच-समझकर वह निर्णय लिया था।”

मुझे भीम से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। मैंने कभी समझा ही नहीं कि उसका चिंतन इस स्तर को भी छू सकता है।

मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। उसे छाती से लगा लिया और बोला, “किसीके संकल्प की दृढ़ता उसके मन की दृढ़ता पर आधृत होती है। यदि तुम्हारा मन दृढ़ है तो संकल्प अवश्य पूरा होगा।”

इतना सुनते ही वह गद्गद हो गया। मुझे पकड़े हुए बहुत देर तक झूमता रहा; मानो वह संतोष के झूले पर झूम रहा हो।

हम लोगों की दृष्टि ही नहीं गई थी, द्वार पर अर्जुन खड़ा मुसकरा रहा था।

“तुम वहाँ खड़े क्या कर रहे हो?” मैंने पूछा।

“भरत मिलाप देख रहा हूँ।” उसने कहा और हम तीनों हँस पड़े।

अर्जुन के प्रवेश करते ही भीम चला गया।

मैं यात्रा में काफी थका था। शय्या पर लेट गया। पैर की ओर अर्जुन बैठा।

मैंने उसे टोका भी—“मित्र, अच्छा नहीं लगता। तुम मेरे कटि के निकट आ जाओ।”

“वह स्थान औरों के लिए आरक्षित है।” उसने अपने परिहास के लिए बड़ी दूर से लक्ष्य साधा।

मैंने भी उसी मुद्रा में उत्तर दिया—“न यहाँ राधा है, न रुक्मिणी और न सत्यभामा।”

“पर उनका स्थान मैं तो नहीं ले सकता।” उसने कहा और हम दोनों हँस पड़े। अर्जुन बोलता गया—“शरणागत होकर भी मुझे आपसे बात करने में आनंद आता है।”

अर्जुन जितना बाण चलाने में निपुण था, उतना ही बात करने में भी।

मैं एक ही बात जानना चाहता था कि अब तक युधिष्ठिर की संजय से किन बिंदुओं पर वार्ता हुई। मैंने इस संबंध में अर्जुन से सीधी जिज्ञासा की।

अर्जुन गंभीर हो गया। बोला, “भीम भैया ने आपको कुछ नहीं बताया?”

“उन्होंने कोई विशेष बात नहीं कही। केवल धर्मराज की प्राकृतिक कमजोरी का ही संकेत देते रहे।”

“बात अब तक किसी बिंदु पर नहीं हुई और न कोई निश्चित प्रस्ताव संजय लेकर आया है। उसका कहना मात्र इतना था कि आपने जो दूत भेजा था, उसकी बातों से पितामह और महाराज धृतराष्ट्र बहुत प्रभावित हुए हैं। वे भी किसी स्थिति में युद्ध नहीं चाहते।”

“तो क्या चाहते हैं?”

“यही तो वह स्पष्ट नहीं बताता।” अर्जुन ने हँसते हुए कहा, “शायद उससे कुछ कहने को कहा भी नहीं गया है। वह केवल एक बात बार-बार दुहराता है कि दोनों महानुभावों की मंशा शांति के पक्ष में है।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे नीति-निपुण दूत ने अपनी शक्ति का उन्हें अच्छी तरह आभास दे दिया है। संजय के कथन में शांति के प्रति आस्था नहीं है वरन् विनाश-भय है।”

“मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है।” अर्जुन बोला।

“दो दिनों तक आप लोग क्या करते रहे?”

“एक दिन तो एक-दूसरे के कुशलक्षेम में बीत गया। भैया ने हस्तिनापुर के एक-एक व्यक्ति के बारे में पूछा। आप भैया की भावुकता तो जानते ही हैं। तेरह वर्षों बाद उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिला था, जो मनुष्य क्या, पशु-पक्षियों के बारे में भी उन्हें बता रहा था। भैया की आँखों में वहाँ के सजीव चित्र उभरने लगे थे और एक नितांत पुरानी आत्मीयता, जो लगभग पथरा गई थी, आँखों से टपकने लगी।”

अर्जुन कहता गया—“संजय ने भैया की इस भावुकता का लाभ उठाते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की कि आप निष्कलुष हैं। श्वेत वस्त्र जैसा आपका चरित्र है। उसमें कहीं भी कोई दाग नहीं।” इस प्रसंग में उसने महाराज द्रुपद की तथा आपकी भी बड़ी प्रशंसा की और कहा, ‘मैं तो द्वारकाधीश और महाराज द्रुपद को प्रणाम कर उन्हें प्रसन्न करने आया हूँ।’ ”

“पर अभी तो वह प्रणाम करने भी नहीं आया। हो सकता है, तुम्हारे जाने के बाद आए।” मैंने हँसते हुए कहा, “वह केवल मुझे प्रसन्न करने आया है।”

“मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है।” अर्जुन ने कहा, “उसने भैया से बार-बार कहा कि ‘आप जैसे शांतिप्रिय और धर्मनिष्ठ व्यक्ति को कभी भी युद्ध की बात नहीं सोचनी चाहिए।’ इसपर भैया ने एक बड़ी अच्छी बात कही—‘तुमने या तुम्हारे महाराज ने हमारे बारे में कौन सी बात सुनी है कि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मैं युद्ध चाहता हूँ? अरे, संधि का अवसर पाकर भी कौन ऐसा होगा, जो युद्ध चाहेगा!’ ”

“इसपर क्या कहा उसने?”

“कुछ बोला नहीं, केवल भैया को सुनता रहा। इसी प्रवाह में भैया ने उन सारे कुकृत्यों और षड्यंत्रों की चर्चा कर डाली, जो कौरवों ने हमारे प्रति किए थे और कहा कि यह हमारी उदारता है कि हमने उन सबको क्षमा किया।

“इसीलिए तो आपकी कीर्ति-पताका चारों दिशाओं में फहरा रही है। आप अजातशत्रु हैं। आप जैसे महानुभाव तो कभी युद्ध करने को सोच भी नहीं सकते, भले ही उनका राज्यभाग मिले या न मिले।”

“अरे रे रे, यह कहने आया है वह!” मुझे आश्चर्य हुआ—“वह संधि का प्रस्ताव लेकर आया है या शांति, धर्म और क्षमा की शिक्षा देने!” मेरे तो कान खड़े हो गए। मैंने अर्जुन से पूछा, “तुम उससे अतिथिभवन में नहीं मिले थे? वह तो तुम्हारा मित्र है। एकांत में तुम्हारे सामने अवश्य खुलता।”

“मैं मिला था; पर उसने राजनीति की कोई बात नहीं की। केवल इधर-उधर की बातें करता रहा।”

“इसका तात्पर्य है कि वह हस्तिनापुर का दूत है, संजय नहीं।” मैंने कहा, “उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि पितामह और महाराज ने उसका चुनाव दूत के रूप में इसलिए किया होगा कि वही एक ऐसा व्यक्ति है, जो पांडवों से घुल-मिल सकता है।”

“इस बात को तो वह भी स्वीकार करता है।” अर्जुन ने कहा।

“विचित्र बात है। व्यक्तित्व के जिस पक्ष के कारण उसका चुनाव हुआ, वह उसीको भूल रहा है।” फिर मैंने सोचा

कि संजय एक दृष्टि से तो ठीक ही कर रहा है, भले ही वह हमारे हित में न हो। जैसे संन्यासी को अपना अतीत भुला देना चाहिए वैसे ही राजदूत को अपने सारे पुराने संबंधों को याद नहीं रखना चाहिए।

मैंने फिर अर्जुन से कहा, “स्थिति तो स्पष्ट है, अर्जुन! यह सारी संधिवात्ता तो ऊपर का आस्तरण मात्र है, जिसके नीचे है कौरवों का ईर्ष्या-द्वेष और सत्ता-लोलुपता का गलीचा। मुझे तो लगता है, युद्ध अवश्य संभावी है।”

“तब इस निरर्थक संधिवात्ता की आवश्यकता क्या? क्यों नहीं आप संजय को कोरा लौटा दें?”

“नहीं-नहीं, ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए।” मैंने कहा, “यह वात्ता निरर्थक भले ही हो, पर है परम आवश्यक। हमें अंतिम समय तक शांति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यदि प्रयत्न न करें तो प्रयत्न करते हुए दिखना चाहिए—और साथ में युद्ध की तैयारी भी करनी चाहिए।”

“युद्ध के लिए दूत तो हमारे गए ही हैं।” अर्जुन के स्वर में एक प्रकार की निश्चितता थी।

“तुम्हारी यही निश्चितता तुम्हारे लिए घातक होगी।” मेरे स्वर में रुक्षता आई—“तुम क्या समझते हो कि तुम्हारे ही दूत दौड़ रहे हैं, दुर्योधन चुपचाप बैठा होगा?”

अर्जुन गंभीर हो गया।

मैंने उसे सीधा कार्यक्रम दिया—“दूतों से काम नहीं चलेगा। युद्ध का औपचारिक निमंत्रण पांडवों को स्वयं ले जाना होगा और वह भी आज से ही—अभी से ही। यह किसी सत्ताधिकारी को अपने पक्ष में करने का प्रश्न है। वह भले ही तुम्हारे पक्ष में हो या न हो। दूत से भेजे गए औपचारिक विवाह के निमंत्रण पर तो लोग ध्यान देते ही नहीं; फिर यह तो युद्ध है, जीवन-मरण का प्रश्न है। इतने गंभीर विषय पर किसी भी सत्ताधिकारी को बड़ा सोचना-समझना पड़ेगा। वह अपने अमात्य मंडल की बैठक करेगा। तुम्हारे प्रस्ताव की उसे स्वीकृति लेनी होगी और तब उसकी सारी सेना तथा शक्ति तुम्हारे पक्ष में आएगी। इसलिए अपने निकटतम व्यक्तियों के यहाँ पांडवों को जाना पड़ेगा। उसमें तुम मुझ जैसे व्यक्ति को भी नहीं छोड़ सकते। समझ लो, यह युद्ध नहीं, महायुद्ध है।”

अर्जुन कुछ कहे, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“संधि प्रयत्न तो शय्याशायी है। अपने अंतिम दिन गिन रहा है। कौरवों के कारण रोग असाध्य है। हम लोग उपचार में लगे हैं।”

इसके बाद मैं एकदम मौन हो गया। अर्जुन भी चिंतन में डूब गया। संध्या घिरने लगी। ज्योतिवाहकों ने ज्योति कलश जलाने आरंभ किए।

मुझे झपकी आने लगी। अर्जुन चुपचाप उठकर चला गया; पर मुझे नींद नहीं आई। अकेला था। आज मुझे छंदक का अभाव बहुत खला। मैं उठकर कक्ष में ही टहलने लगा। वातायन खोलकर खड़ा हो गया। पानी से लथपथ वायु का झोंका जैसे धक्का मार भीतर घुस आया। बाहर घनघोर वर्षा हो रही थी। मैंने झाँककर देखा, चारों ओर अंधकार बरस रहा था। सबकुछ तमाल के पत्ते की तरह काला दिखता था। मुझे याद आया कि प्रकृति की ऐसी ही मुद्रा के समय एक बार नंद बाबा ने मुझसे कहा था—‘राधा अकेली है। तुम इसे घर तक छोड़ आओ।’

गलबहियाँ डाले हम ऐसी वर्षा में चल पड़े थे। भीगकर वस्त्र तन से चिपक गए थे। दोनों का अस्तित्व अद्वैत हो गया था। अँधेरे ने हमें ढककर हमारी नग्नता की भी रक्षा की थी और हमारे आनंद की भी। ऐसे में जब बिजली चमकती थी, अंधकार फट जाता था, राधा और भयभीत होकर मुझसे लिपट जाती थी। कितना अच्छा लगता था। प्रकृति हमारी केलिक्रीड़ा का माध्यम भी हो गई थी और सहायक भी।

मैं उन्हीं स्मृतियों में खो गया था। मुझे लग रहा था कि अभी राधा मेरी बगल में खड़ी बिजली चमकने की प्रतीक्षा कर रही है। अचानक कक्ष में किसीके होने की आहट लगी। मैंने मुड़कर देखा, संजय मुसकरा रहा था।

“आओ, हस्तिनापुर के राजदूत!” मैंने व्यंग्य से ही उसका स्वागत किया।

उसने कुछ झेंपते हुए कहा, “पर आपके लिए तो संजय ही हूँ।”

“पर मैं द्वारका से यहाँ संजय से मिलने नहीं आया हूँ।” मैंने कहा, “मुझे तो हस्तिनापुर के राजदूत से मिलने के लिए बुलाया गया है।”

“वह तो कल आपसे सभा में मिलेगा।” उसके इस कूटनीतिक उत्तर पर मुझे हँसी आ गई—और वह तो हँस ही रहा था।

“मैं कब से कक्ष में आया हूँ और आपको विचार में तल्लीन देख रहा हूँ। आप कुछ बुदबुदा भी रहे थे।”

“क्या करूँ, जब भी एकांत में होता हूँ तो अतीत मेरे पास आ जाता है। मैं उसीसे बातें करने लगता हूँ।” मैं बोलता गया—“अतीत मुझसे कह रहा था कि क्या दिन थे हस्तिनापुर के, जब उसे बसाया गया था! वह आर्यावर्त का शिखर था—और आज उस शिखर के भीतर ज्वाला धधक रही है। शीघ्र ही यह शिखर ज्वाला बनकर फटेगा, तब तुम सब जलकर भस्म हो जाओगे। क्या तुम यह होने दोगे? आखिर तुम्हारा भी तो कुछ कर्तव्य है?”

यद्यपि संजय इस संदर्भ में मुँह खोलने के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसे कहना ही पड़ा—“यदि यही चिंता हम सबको होती तो क्या यह ज्वालामुखी सुलगता?”

मैंने संजय को उधेड़ने की भरपूर चेष्टा की। उसे लगा कि वह कहाँ आकर फँस गया। उसने बहुत धीरे से कहा, “पितामह और महाराज तो काफी चिंतित हैं।”

“और उनका चिंतित होना भी स्वाभाविक है।” मैंने कहा, “वे ही क्यों, महामात्य विदुरजी भी चिंतित होंगे और तुम्हारे जैसे लोग भी चिंतित होंगे; जो नीति में, धर्म में और न्याय में विश्वास करते हैं। पितामह और महाराज की न्यायप्रियता में किसीको संदेह नहीं; पर दोनों की अपनी सीमाएँ और विवशताएँ हैं। एक के सामने हस्तिनापुर के सिंहासन के प्रति वचनबद्धता की दीवार खड़ी है तो दूसरे ने पुत्र-प्रेम के अंधकार में स्वयं को डाल रखा है। महामात्य की सुनता कौन है! वे तो बँधे हुए सिंह हैं, जो केवल दहाड़ सकता है, कुछ कर नहीं सकता। अब देखना है कि तुम्हारे जैसे लोग क्या कर पाते हैं!”

संजय अब चुप, एकदम चुप; जैसे मुँह सिल दिया गया हो।

फिर मैंने उसे सँभाला—“आखिर तुम कितना कर पाओगे? तुम्हारे भी सामर्थ्य की एक सीमा है।”

मैंने देखा, अब भी वह एक प्रकार की ऊब का अनुभव कर रहा था। फिर मैंने अपनी बात की दिशा बदली—“इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों को हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना चाहिए। कौरवों और पांडवों के बीच शांति एवं संधि के लिए प्रयत्न करना एक पवित्र कार्य है। तुम उसमें लगे हो, यह हम सबके लिए गौरव की बात है। कोई-न-कोई मार्ग तो निकलेगा ही।”

“आपको ऐसी आशा है?” वह बोला और चुप हो गया।

“बिल्कुल है। यदि आशा न होती तो तुमसे मिलने द्वारका से भागा क्यों चला आता!”

उसने मेरी थाह लगानी चाही और मैंने उसकी। इस प्रयत्न में कुछ समय और बीत गया।

□

दूसरे दिन मौसम भी प्रसन्न था और राजभवन का वातावरण भी। पांडव इसलिए खुश थे कि अब संजय का कोई फंदा भैया को घेर नहीं पाएगा। यों पांडवों के घबराने और व्यग्र होने का कोई कारण नहीं था। संजय हस्तिनापुर का राजदूत अवश्य था, पर केवल बात करने और युधिष्ठिर की थाह लगाने के लिए। उसके पास अंतिम निर्णय का अधिकार नहीं था। प्रकृत्या भी उसे पांडवों के हित के विरुद्ध नहीं होना चाहिए था।

वार्ता के लिए राजभवन का सभाकक्ष चुना गया था। मैंने उस स्थान को अस्वीकार करते हुए कहा, “तीन व्यक्तियों के बात करने के लिए इतना बड़ा कक्ष! इसकी विशाल रिक्तता हमपर परिहास करेगी।”

“हो सकता है, और लोग भी आएँ।” युधिष्ठिर ने कहा। उनका संकेत अपने भाइयों की ओर था।

“नहीं, आप एवं संजय के सिवा हमारी वार्ता में और कोई नहीं रहेगा।” मैंने आरंभ से ही अपना तेवर बदला।

तब हम वहाँ से उठकर युधिष्ठिर के मंत्रणाकक्ष में चले आए।

आते ही मैंने कहा, “अब बतलाइए, हममें प्रथम वक्ता कौन होगा?”

इतना सुनते ही दोनों मेरे मुख की ओर देखने लगे। मेरी ऐसी मुद्रा उन्होंने कभी देखी नहीं थी। सदा मुसकराते हुए बातें करनेवाला आज आरंभ से ही धुआँ उगलने लगा। संजय समझ गया कि लपटें भी निकल सकती हैं।

“पहले मैं इसकी सूचना दे दूँ कि संजय के साथ अब तक मेरी क्या बातें हुई हैं।” युधिष्ठिर बोले।

“आपको बताने की आवश्यकता नहीं है। मुझे सारी सूचना मिल चुकी है।”

“तब आप ही शुरू करें अन्य सवाल।”

“मेरी पहली जिज्ञासा तुम्हींसे है, संजय।” मैंने कहा, “मैं और धर्मराज युधिष्ठिर कभी अधर्म के मार्ग पर नहीं जा सकते, चाहे जो भी स्थिति हो। धर्मराज ने कौन सा कष्ट नहीं भोगा; पर कभी इन्होंने धर्म नहीं छोड़ा। जुए के खेल में हारने के बाद यह कह सकते थे कि मैं जुए में नहीं हारा; क्योंकि यह दुर्योधन से नहीं हारे थे। शर्त दुर्योधन की थी और हराया शकुनि ने था। उस समय सारे पांडव महाराज युधिष्ठिर के विरुद्ध थे। उनकी पत्नी भरी सभा में नग्न की जा रही थी। एक ऐसी नारी, जो रजस्वला थी। फिर भी धर्मराज धर्म से जरा भी विचलित नहीं हुए। इसपर भी तुम दो दिनों से शांति और धर्म का उपदेश करते रहे हो। ऐसी कौन सी घटना तुमने सुनी या देखी है, जिसमें धर्मराज ने अधर्म का रास्ता चुना हो?”

अब संजय क्या बोलता, बगलें झाँकने लगा। फिर बहुत सँभलकर बोला, “मैंने भी तो कहा कि आपने कभी अधर्म का पालन नहीं किया। अब सत्ता के लोभ में उससे विचलित मत होइए। धर्म ही आपके जीवन भर की कमाई है।”

“स्पष्ट समझो, संजय, पांडवों को सत्ता का लोभ नहीं है। उसपर उनका अधिकार है।” मैंने कहा, “लोभ तो तुम तब कह सकते हो जब वे दूसरों की सत्ता हड़पने की बात सोच रहे हों। यह उनकी वह सत्ता है, जो महाराज धृतराष्ट्र के यहाँ धरोहर थी। वे अपनी धरोहर माँग रहे हैं। जो वस्तु उनकी थी और है, वह तो वही माँग रहे हैं। इसमें बाधा क्या है?”

“बाधा तो हमें दिखाई नहीं देती।”

“पर हमको दिखाई देती है।” मैंने विश्वास से कहा, “वह बाधा है—महाराज का अंधा पुत्र-पेरम। वे दुर्योधन की इच्छा के बिना एक पग नहीं चल सकते। और दुर्योधन पर नियंत्रण है कर्ण एवं शकुनि का। तुमने उनकी भी इच्छा जानने की चेष्टा की है कि वे क्या चाहते हैं?”

“मैं इस समय पितामह एवं महाराज का दूत हूँ, दुर्योधन, कर्ण और शकुनि का नहीं।” अब संजय की वाणी थोड़ा और मुखर हुई—“मैं हस्तिनापुर का दूत हूँ, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं।”

“यही दुर्भाग्य है, संजय, कि हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठा कोई और है तथा सत्ता किसी और के हाथ में है। वे भी टाँग अड़ाते हैं, जिनका हस्तिनापुर से कोई संबंध नहीं है।” मैंने अपनी बात को और स्पष्ट किया—“इस शकुनि का हस्तिनापुर से क्या लेना-देना है? अरे भाई, वह पट्टमहिषी का भाई है तो भाई की तरह रहे, या अपने घर चला जाए।”

“शकुनि के विषय में तो किसीकी धारणा अच्छी नहीं है। पितामह तो उसे फूटी आँख नहीं देखना चाहते। बहुधा उसे फटकारते भी हैं। पर पता नहीं उसने उनकी कौन सी दुखती नस पकड़ रखी है कि वे अधिक बोल नहीं पाते।”

“पितामह को वह फूटी नजर नहीं सुहाता और महाराज की आँखों पर जन्म से ही भगवान् की कृपा है!”

मेरी इस टिप्पणी पर संजय के साथ ही युधिष्ठिर भी मुसकरा उठे।

मैंने अब बातों की छोड़ी हुई डोर फिर पकड़ी—“सुना है कि तुम पिछले दो दिनों से महाराज युधिष्ठिर को यही समझा रहे हो कि धर्म और युद्ध में से यदि आपको चुनना पड़े तो आप धर्म को चुनिए। तो क्या ये संन्यासी हो जाएँ और वन-वन भटकें? तुम इस तरह की बात यदि किसी ब्राह्मण से कहते तो शायद किसी अंश तक ठीक भी होता। वह भी पूर्ण नहीं, किसी अंश तक; क्योंकि कुछ लोग कर्मयोग को त्यागकर ज्ञानयोग से पारलौकिक सिद्धि की बात करते हैं। कुछ लोग धर्म के अनुसार कर्म करते हुए सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं। पर ज्ञानयोगी और कर्मयोगी—दोनों के पास पेट है, भूख है। जहाँ भूख है वहाँ कर्म है। इसलिए मैं ज्ञान और कर्म के समन्वय को श्रेष्ठ मानता हूँ। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी भी अगृहस्थ के घर की भिक्षा नहीं लेता।” मैं कहता गया—“और क्षत्रिय का धर्म है शासन करना। यदि युधिष्ठिर भी शासन करने के लिए सत्ता चाहते हैं—और वह भी अपनी ही सत्ता, तो कौन सा अधर्म कर रहे हैं?”

संजय बड़े ध्यान से सुनता रहा। फिर बोला, “मैंने इस दृष्टि से यह बात नहीं कही थी। मैंने तो कहा था कि धर्म में हिंसा का कोई स्थान नहीं है और युद्ध में हिंसा अवश्य संभावी है। इसलिए आप जैसे धर्मात्मा को युद्ध से विरत रहना चाहिए।”

“युद्ध का कोई भी भलामानुष समर्थन नहीं करता। मैं भी युद्ध का विरोधी हूँ। मैं पांडवों का जितना भला चाहता हूँ उतना ही कौरवों का भी। यह तभी होगा जब पांडवों का राज्यभाग कौरव लौटा देंगे। तभी धर्म की भी रक्षा होगी, शांति की भी रक्षा होगी और आर्यावर्त की भी; अन्यथा विनाश की वह ज्वाला जलेगी, जिसमें सबकुछ भस्म हो जाएगा।”

“मेरे महाराज इसके विरोधी नहीं हैं।” संजय बोला। उसने अपने कथन को और स्पष्ट किया—“मेरा कहना धर्मराज से केवल यही था कि जो हो गया, उसे भुला दीजिए और नए सिरे से वार्ता आरंभ कीजिए।”

“तो तुम वार्ता करने नहीं वरन् नए सिरे से वार्ता करने की भूमिका बनाने आए हो।” युधिष्ठिर भी इस बार मुसकरा उठे।

“एक दृष्टि से आपका कहना ठीक है।” संजय बोला, “संधि का मार्ग प्रशस्त किया था आपके पुरोहित दूत ने और भूमिका बनाई मैंने। अब आगे का कार्य आप संपन्न कीजिए।”

मैंने देखा, संजय फिर मुझे अपने पाले में घसीटना चाहता है और स्वयं उससे दूर होने का प्रयत्न कर रहा है। मैंने उसीकी बात को आगे बढ़ाया—“तुम कहते हो कि पिछला सबकुछ भुला देना चाहिए; पर याद रखो कि भुला देना और भूल जाना—दोनों अलग-अलग बातें हैं। भूल जाना मस्तिष्क की एक स्वाभाविक क्रिया है। भुला देना व्यक्ति की निरर्थक चेष्टा। कोई बात जितनी भुलाई जाती है उतनी ही याद आती है। क्या पांडव जुए का वह परिदृश्य भुला सकते हैं, जब एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी अपने श्वसुरों के बीच बाल खींचते हुए लाई गई थी और दुर्योधन उसे अपनी नंगी जाँघ दिखा रहा था? कर्ण की यह हिम्मत हो गई थी कि उसने कहा, ‘याज्ञसेनी, अब तेरे लिए दूसरी गति नहीं है। तू दासी बनकर दुर्योधन के महल में चली जा। तेरे पति तो तुझे हार चुके हैं। अब किसी और को अपना पति चुन ले।’ ” मैं भी आवेश में था। बोलता गया—“जिस समय वनवास के लिए पांडव काला मृगचर्म पहन रहे थे, तब दुःशासन ने कितनी कड़वी बात कह दी थी—‘ये सबके सब नपुंसक हो नष्ट हो गए हैं। चिरकाल तक नरक के गर्त में गिर गए हैं।’ वे सारी घटनाएँ क्या भुलाई जा सकती हैं? क्या पांडव उन्हें भुला सकेंगे? मैं पूछता हूँ, क्या हो गया था कौरवों को? उन्हें कहीं से नहीं लग रहा था कि ये हमारे ही भाई हैं!”

“मेरे ‘भूल जाना’ कहने का तात्पर्य यह था कि इन सारे अपराधों के लिए पांडव उन्हें क्षमादान दे दें।”

“ये उन्हें क्षमादान दें और वे इन्हें कुछ न दें?”

“इन्हीं सब पर तो विचार करना है।”

“पर यह बड़ा कठिन काम है, संजय।” मैंने कहा, “जो क्षमा माँग रहा है, उसे अपनी ओर से कुछ देने का अधिकार नहीं है। सारा अधिकार होते हुए भी विवश है। क्षमा माँगनी चाहिए दुर्योधन और उसकी मंडली को; पर पांडवों के दुर्भाग्य से उस मंडली ने आपको भेजा ही नहीं है।”

इसके बाद उस बैठक में गंभीर शांति हो गई। युधिष्ठिर तथा संजय दोनों की दृष्टि मेरी आकृति पर थी और मैं थोड़ी देर तक आँखें बंद कर उसी मंच आसन पर ढुलक गया।

थोड़ी देर बाद जब मेरी आँखें खुलीं तब मैंने संजय से पूछा, “क्या सोचा तुमने? क्या निष्कर्ष है तुम्हारा?”

“सोचना तो आपको ही है और निष्कर्ष भी आपको ही निकालना है।”

“निष्कर्ष तो स्पष्ट है कि कौरव और पांडव दोनों का भला होना चाहिए। मेरी दृष्टि में तो दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। पांडव यदि अश्वत्थ वृक्ष हैं तो कौरव लता के समान हैं। पांडवों में अश्वत्थ जैसी जिजीविषा भी है, अन्यथा इतनी विपत्ति के बाद वे सूख गए होते। पर आपत्तियाँ उन्हें दृढ़ करती गईं। आज वे पहले से अधिक मजबूत हैं। उनके यश में इधर काफी निखार आया है।”

अंत में यही निश्चय हुआ कि इस क्रम की अंतिम वार्ता हस्तिनापुर में होगी।

“बड़ी कृपा हो, यदि उसमें आप भी पधारें।” संजय ने मुझे विशेष रूप से संबोधित करते हुए कहा।

वार्ता की समाप्ति के बाद संजय अतिथिगृह के अपने कक्ष में चला गया और मैं राजभवन के अपने कक्ष में चला आया। अंतःपुर के प्रवेश द्वार पर ही मेरी भेंट भीम और अर्जुन से हो गई। दोनों ने वार्ता के लिए बधाई दी। भीम ने यहाँ तक कहा कि आपने संजय के किए-कराए पर पानी फेर दिया।

पर उन लोगों से मिलकर मैं बहुत प्रसन्न नहीं था। मैंने अर्जुन से कहा, “मैंने तुमसे क्या कहा था? मैंने तुमसे कहा था न कि इस समय हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम नहीं चलेगा। तुम्हें विधिवत् युद्ध का निमंत्रण लेकर अपने मित्र राजाओं के यहाँ जाना चाहिए।”

“जी हाँ, आपके कहते ही मैंने नकुल और सहदेव को इस कार्य के लिए भेज दिया है।”

“और आप लोग कब निकल रहे हैं?”

“शीघ्र ही।”

“फिर मेरे यहाँ कौन आएगा?”

“आपके यहाँ तो मैं ही आना चाहता हूँ।” इतना कहने के बाद अर्जुन ने भीम की ओर देखा।

उसने तुरंत संकेत से स्वीकृति दे दी।

मैं आगे बढ़ा; क्योंकि अंतःपुर में मुझे कुंती बुआ और द्रौपदी से मिलना था। जब तक मैं अंतःपुर में प्रवेश करूँ, पीछे से दौड़कर आते किसी प्रहरी की आहट लगी। वह मेरी ओर दौड़ा चला आ रहा था। मैं रुक गया। उसने सूचना दी कि द्वारका से बुलाने के लिए एक दूत आया है और बड़ी व्यग्रता से आपको स्मरण कर रहा है।

मैंने प्रहरी से कहा कि दूत से कहो, मैं अभी आ रहा हूँ।

इस समाचार ने मुझे चिंतित कर दिया। कोई-न-कोई बड़ी बात अवश्य हो गई होगी, अन्यथा दूत न आता। व्यग्र होते हुए भी बुआजी से मिले बिना चलना मेरे लिए उचित नहीं था। फिर द्रौपदी क्या सोचेगी, जिसने मुझे हर विपत्ति का एकमात्र सहारा मान लिया है।

यद्यपि मेरा यह मिलन केवल एक औपचारिकता ही थी। दोनों के पास मुझसे बातें करने और कहने को बहुत था; पर मैं द्वारका प्रयाण के लिए आतुर हो चुका था; क्योंकि यह पहला अवसर था, जब मुझे बुलाने के लिए दूत भेजा गया था। वर्षों मैं द्वारका से दूर था, पर कहीं कभी इस प्रकार बुलाया नहीं गया था। जरूर कोई बात हो गई होगी, जो उन्हें दूत भेजना पड़ा। इधर परिस्थितियों का ताप निरंतर बढ़ता चला जा रहा था। कहीं भी कुछ हो सकता था।

बुआजी ने मुझसे ठहरने का आग्रह किया। बोलीं, “एक दिन मेरे पास बैठो। मुझे तुमसे कई बातें करनी हैं।”

मैंने अपनी परिस्थिति बताई। फिर वह कुछ नहीं बोलीं।

यही स्थिति द्रौपदी से मिलते समय हुई। वह बिना अपनी बात कहे मुझे छोड़ना नहीं चाहती थी। उसका कहना था—“सारी वार्ता तो पुरुषों के बीच हुई; जबकि जुए के दाँव पर मैं ही लगाई गई थी और हारी गई थी—और मेरी सुननेवाला आज कोई नहीं है।”

“यह तुम कैसे कह सकती हो?” मैंने कहा, “तुम्हारी मैंने सदा सुनी है।”

“पर आज तो सुनने को तैयार नहीं हो।”

मैंने उसे अपनी परिस्थिति बताई।

तब उसने कहा, “इसका तात्पर्य यह है कि तुम मुझे सुने बिना ही पांडवों के दूत बनकर हस्तिनापुर चले जाओगे?”

“नहीं, तुम्हें सुने बिना नहीं जाऊँगा।” मैंने कहा, “हस्तिनापुर जाते समय उपप्लव्य होकर ही जाऊँगा। बुआजी से भी बातें करनी हैं और तुमसे भी। मैं तुमसे सहमत हूँ कि पुरुष पक्ष का मत तो प्रकाश में आ गया, पर इस संदर्भ में नारी पक्ष की अवधारणा मैं जान नहीं पाया था; जबकि उनके कष्ट भी पुरुषों की तुलना में कम नहीं रहे हैं।”

“तुम्हारे आश्वासन पर मैं विश्वास करती हूँ, कन्हैया।” उसने बड़ी कातर ध्वनि में कहा, “बस इतना ही समझो कि मुझे कुछ नहीं कहना है। जो कुछ कहना है, वह तेरह वर्ष से खुले इन केशों को।” इतना कहकर उसने अपने सारे केश मुँह के सामने कर लिये। उसकी आकृति ढक गई। लटकते नागों से घिरे चंद्रमा की तरह उसकी मुद्रा किसी प्रलयंकर शंकर की खोज में दिखी।

□□□